आचार्य महीधर और
स्वामी दयानन्द का
माध्यन्दिन-भाष्य
डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री

आचार्य महीधर और स्वामी दयानन्द का माध्यन्दिन-भाष्य

डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री
संस्कृत-विभाग
फिरोज गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय
रायबरेली

अक्षयवट प्रकाशन
इलाहाबाद

आचार्य महीधर और स्वामी दयानन्द का माध्यन्दिन-भाष्य

• लेखक : डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री

• प्रकाशन वर्ष : १९९४

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

• प्रकाशक :
अक्षयवट प्रकाशन
२६, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद—२

• मुद्रक :
शुभचिन्तक प्रेस
३१३, छोटी वासुकी, दारागंज
इलाहाबाद—६

॥ ओ३म् ॥

आचार्यस्य महीधरस्य यजुषो या वेददीपाऽभिधा,
व्याख्या वाजसनेयिनो मुनिदयानन्दस्य भाष्यं च यत् ।
सिद्धान्तानवगाह्य सम्प्रति मया प्रस्तूयते वैदिकान्,
अध्यायस्तुलनात्मको बहुविधो निष्पक्षपातोज्ज्वलः ॥१॥

प्राक्कथन

यजुर्वेद, जो मुख्यतः यज्ञिय कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ है, के सम्प्रति उपलब्ध समस्त शाखाओं के संहिता-ग्रन्थों में 'वाजसनेय माध्यन्दिन संहिता' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वामी दयानन्द तो इस माध्यन्दिन संहिता को ही अपौरुषेय या आदिम स्वीकार करते हुए यजुर्वेद के अन्य संहिता-ग्रन्थों को पौरुषेय या अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने से उसका ही व्याख्यान ग्रन्थ मानते हैं[1]। इस संहिता पर आचार्य महीधर से पूर्व एकमात्र आचार्य उवट (वि० ११ वीं शती) का ही भाष्य उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद की अन्य संहिताओं, जैसे काण्व तथा तैत्तिरीय संहिता पर आचार्य सायण (वि० १५ वीं शती) तथा तैत्तिरीय संहिता पर ही श्री भट्टभास्कर मिश्र (वि० ११ वीं शती) का भाष्य भी उपलब्ध है।

यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं के इन समस्त भाष्यकारों ने अपना भाष्य केवल यज्ञिय कर्मकाण्डपरक परम्परावादी दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किया है। आचार्य महीधर का भाष्य इन सभी भाष्यों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन है अतः वे जहाँ इन सभी भाष्यकारों (विशेषकर आचार्य उवट) से प्रभावित हैं तथा उनके भाष्यों का पर्याप्त उपयोग किया है वहीं उन्होंने अपने भाष्य में शतपथ ब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र आदि में प्रदत्त विभिन्न याज्ञिक प्रतीकों तथा क्रियाओं का पर्याप्त उल्लेख कर उसे अधिक विस्तृत और प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस यजुर्वेद संहिता के सभी भाष्यों, जो कर्मकाण्डपरक या केवल परम्परावादी याज्ञिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किए गए हैं, के सर्वोत्तम प्रतिनिधि के रूप में हम आचार्य महीधर के भाष्य को स्वीकार कर सकते हैं।

---

१. क—द्रष्टव्य-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय, पृ० ३११-१३ तथा उस पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा प्रदत्त टिप्पणी।

ख—सत्यार्थ प्रकाश-सप्तम समुल्लास का अन्तिम अंश।

इधर विगत शताब्दी में वेदों के सन्दर्भ में तथोक्त मध्यकालीन कर्मकाण्ड-परक परम्परावादी दृष्टिकोण से भिन्न कुछ अभिनव चिन्तन प्रस्तुत करने का श्रेय प्रसिद्ध समाज सुधारक और संस्कृत के उद्भट विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हुआ है। उनके इस चिन्तन का प्रभाव वेद के क्षेत्र में बहुत व्यापक हुआ जिसके कारण वेदार्थ के सन्दर्भ में परम्परा या लीक से हटकर चिन्तन करने की जो इच्छा विद्वानों में जागृत हुई उसके महत्त्व को श्री अरविन्द सदृश विचारकों ने भी स्वीकार किया[1]। बाद में तो अनेक विद्वानों ने वेद पर लेखनी उठाई जिनमें स्वामी दयानन्द के अनुयायी या पक्षपोषक विद्वानों की संख्या भी कम न थी। इस काल में वेद के सन्दर्भ में अभिनव चिन्तन करनेवाले विद्वानों द्वारा खण्डन-मण्डन, तर्क-वितर्क आदि का एक युग ही प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार प्राचीन वेद-सम्बन्धी चर्चा का इस वैज्ञानिक युग में भी सूत्रपात करने और उसे परिवर्तनशील युग के नए सन्दर्भ में प्रस्तुत करने तथा इसमें नवीन दृष्टि प्रदान करने का पर्याप्त श्रेय स्वामी दयानन्द को है।

वेदों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के इस संशोधनवादी दृष्टिकोण के मूल्यांकन के साथ ही उसके प्रभाव की व्यापकता कितनी रही? तथा भविष्य में वेदों पर विचार करनेवालों के लिए उनका भाष्य कितना उपयोगी रहेगा? आदि प्रश्नों के उत्तर के लिए सम्भव है कुछ और अधिक समय की प्रतीक्षा आवश्यक हो, किन्तु वर्तमान समय में भी इस क्षेत्र में उनके अभिनव चिन्तन की तुलना उन प्राचीन वेदभाष्यकारों से करना उपयुक्त एवं सार्थक प्रतीत होता है जो अपना वेदभाष्य अब तक केवल परम्परावादी याज्ञिक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत करते आये हैं। इसी दृष्टिकोण से उनके माध्यन्दिन संहिता के भाष्य की तुलना तथोक्त परम्परावादी भाष्यकारों के प्रतिनिधि के रूप में विद्यमान आचार्य महीधर के भाष्य से करते हुए इस ग्रन्थ में उस पर अध्ययन और समीक्षण प्रस्तुत किया गया है।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य पढ़ते हुए अनेक स्थलों पर कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्य-विन्यास या भावाभिव्यक्ति अस्पष्ट सी है। अनेक लोगों का यह भी विचार है कि भाष्य में अनेकत्र भावार्थ, पदार्थ या हिन्दी व्याख्या आदि में परस्पर सामञ्जस्य या कोई तारतम्य नहीं है आदि। संभव है इसका कारण स्वामी दयानन्द का अहिन्दीभाषी होना हो, किन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि अहिन्दीभाषी होते हुए भी हिन्दी के माध्यम से, और

---

१. द्रष्टव्य—अरविन्द, वेद रहस्य (पूर्वार्ध), पृ० ६८-७०।

वह भी उस समय जबकि खड़ी बोली या साहित्यिक हिन्दी का स्वरूप अभी उभर ही रहा था, वेद जैसे महान् एवं गूढ़ ग्रन्थ का हिन्दी भाषा के साथ भाष्य प्रस्तुत करना अपने आप में एक अद्भुत और गौरवपूर्ण कार्य था।

यह बात भी किसी अंश में यथार्थ है कि स्वामी जी के वेदभाष्य में अनेक ऐसे मन्त्रार्थ हैं जिनमें भावार्थ, पदार्थ और व्याख्या आदि में कुछ विसंगति है। किन्तु यह सब स्वामी जी के वेदार्थ की अपनी शैली है। वे वेद के विविध-आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, याज्ञिक एवं लोक व्यावहारिक आदि अधिकतम अर्थों को अपने भाष्य में ध्वनित कराना चाहते हैं। यही कारण है कि किसी मन्त्र के पदार्थ मे आध्यात्मिक अर्थ की प्रमुखता है तो उसी मन्त्र के अन्वय या भावार्थ में याज्ञिक या लोकव्यावहारोपयोगी उपदेश ध्वनित होने लगता है। इस प्रकार की मन्त्रार्थ शैली को हम उनके वेदभाष्य की कमी नहीं प्रत्युत व्यक्तिगत विशेषता ही कहना चाहेंगे।

दयानन्द भाष्य 'भाष्य' नहीं, वेदार्थ-कोष है

मेरे विचार से दयानन्द-भाष्य को पढ़कर किसी मन्त्र का तारतम्ययुक्त एक सुनिश्चित जान लेने की अपेक्षा यदि उस मन्त्र-भाष्य से मन्त्रार्थ का दिशा संकेत प्राप्त किया जाय अथवा मन्त्रगत पदों के विभिन्न अर्थों पर ध्यान देते हुए वैदिक पदों की यौगिक व्याख्या को समझने का प्रयास किया जाय, जिसके माध्यम से स्वामी दयानन्द ने मन्त्रों में अनेक अर्थों को उद्भावित करने का प्रयास किया है, तो यह सभवतः अधिक उपयुक्त होगा।

स्वामी दयानन्द तो आचार्य यास्क द्वारा अपने निरुक्त शास्त्र में प्रदत्त मन्त्रार्थों के समान ही प्रायः मन्त्रपदों का यौगिक व्याख्यान प्रस्तुत कर उसे वाक्य में समायोजित कर देते हैं। उनका यह समायोजन याज्ञिक, आध्यात्मिक आदि किसी एक प्राचीन परम्परागत अर्थ में ही न होकर इन सभी प्रक्रियाओं के साथ ही व्यावहारिक, सामाजिक व सम्प्रति लोकोपयोगी अर्थ की अभिव्यक्ति के प्रयास का भी मिश्रित रूप है। जबकि इस सबके विपरीत महीधराचार्य का भाष्य इन सबसे पृथक् अपने पूर्व भाष्यकारों की परम्परा के अनुसार केवल याज्ञिक चिन्तन में ही गतार्थ है। इस प्रकार दो विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए भाष्यों की प्रतिपद तुलना प्रायः अस्वाभाविक एवं व्यर्थ प्रतीत हो सकती है, परन्तु सिद्धान्तगत तुलना निश्चित ही सभव है। इसी दृष्टिकोण से यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

दयानन्द-भाष्य को वास्तव में चिन्तन की किसी सीमा रेखा में नहीं बांधा जा सकता। जैसे वेदमन्त्रों के चिन्तन अतिव्यापक हैं वैसे ही दयानन्दभाष्य भी अर्थ के सन्दर्भ में व्यापक दृष्टियों से युक्त हैं। इसी कारण आचार्य महीधर के सीमित दृष्टिकोण से युक्त अर्थ के साथ जब कहीं इसकी प्रतिपद तुलना करनी पड़ती है तो कुछ असमञ्जस की स्थिति आ जाती है। मुझे तो दयानन्द भाष्य 'भाष्य' नहीं अपितु वेदार्थ करने वालों के लिए एक व्यापक अर्थकोष ही अधिक जान पड़ता है। इसे इसी महत्त्वपूर्ण रूप में देखना उचित भी है। फलतः किसी मन्त्र या मन्त्रगत पदविशेष की आलोचना, प्रत्यालोचना से उसका सम्पूर्ण उद्देश्य किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं हो सकता। महीधरभाष्य की भी अपनी सीमाएँ है जो कि वेदार्थ के सन्दर्भ में परम्परा से प्राप्त तत्कालीन विचारधारा, अपने तान्त्रिक वाममार्गी चिन्तन तथा सम-सामयिक प्रभावों से मुक्त नहीं है। हमने भी इस सन्दर्भ में किसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सम्बद्ध होकर विचार करने की अपेक्षा तटस्थ अनुसन्धाता के रूप में ही कुछ यथार्थों को रखने का प्रयास किया है।

यह ग्रन्थ मूलतः एक शोध-प्रबन्ध है जिसे काशी विद्यापीठ वाराणसी में संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० अमरनाथ जी पाण्डेय के निर्देशन में पी० एच्० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। जन्म से ही आर्यसमाजी संस्कारों से युक्त पारिवारिक पृष्ठभूमि को प्राप्त करने तथा स्वयं भी स्वामी दयानन्द और आर्य-समाज की सैद्धान्तिक विचारधारा से सम्बद्ध होने के कारण अनेक मित्रों एवं शुभचिन्तकों ने मुझसे कहा कि इस शोध-प्रबन्ध में प्रदत्त कुछ विषयों, जैसे वेदोत्पत्ति, वेदों की शाखाएँ, वेदसंज्ञा, देवता-निरूपण आदि विषयों पर अभिव्यक्त विचारों तथा मुख्यतः पञ्चमाध्याय में निरूपित दयानन्द-भाष्य से सम्बद्ध विभिन्न निष्कर्षों को कुछ संशोधित व परिवर्तित रूप में प्रकाशित करना चाहिए। किन्तु शोध० प्रबन्ध लिखते समय विविध विषयों पर जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ, उसकी मौलिकता को नष्ट न कर उसे उसी रूप में विद्वानों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करना ही मुझे उचित प्रतीत हुआ। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में प्रदत्त अनेक निष्कर्षों से आर्य विद्वानों की असहमति को जानते हुए भी मैंने किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर स्वयं द्वारा किये गए चिन्तन को स्पष्ट एवं निःसंकोच उपस्थित कर देना ही उपयुक्त समझा है।

मनुष्य सर्वज्ञ नहो होता । दोष सभी में संभव है । अतः विद्वान् पाठकों से मेरा अनुरोध है कि अनवधानतावश हुए दोषों की ओर कृपया अवश्य इंगित करें तथा अपनी प्रतिक्रियाओं से परिचित कराएँ ।

बी २९ आनन्दनगर (जेलरोड)
रायबरेली (उ० प्र०)
१५ अगस्त १९८४

विदुषाम् अनुचरः—
प्रशस्यमित्र शास्त्री
एम० ए० (लब्धस्वर्णपदक), पी० एच्० डी०

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

वैदिक वाङ्मय, वेदभाष्यकार तथा आचार्य महीधर और स्वामी दयानन्द का जीवनवृत्त

वेदों का महत्त्व

भारतीय संस्कृत और संस्कृत साहित्य के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण, महिमा मण्डित एवं श्रद्धास्पद है। भारतीय धर्म, दर्शन एवं सभ्यता का भव्य भवन वेदों की सुदृढ़ आधारशिला पर ही शोभायमान है। आर्य सनातन वैदिक धर्मावलम्बियों या प्राचीन भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म तथा भक्ति व उपासना की पद्धति को समझने के लिए वेदों का ज्ञान परमावश्यक है। अपनी प्रतिभा व ज्ञानचक्षु के सहारे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों की विशाल विमल राशि का नाम ही वेद है। स्मृति तथा पुराणों में वेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। मनुस्मृति के अनुसार लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार चक्षु की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्यों को जानने के लिए वेद की उपयोगिता है। वेद का वेदत्व इसी में है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता[1]॥
> पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्[2]।

वेद की भारतीय धर्म में इतनी प्रतिष्ठा है कि अत्यन्त प्रबल तर्ककुशल आचार्य का वाक्य भी यदि वेदविरुद्ध है तो वह मान्य नहीं हो पाता। ईश्वर विरोध तो सह्य है किन्तु वेदविरोध वर्ज्य है। यही कारण है कि ईश्वर की सत्ता न मानने वाले दर्शन (सांख्य, मीमांसा) आस्तिकता से विहीन नहीं माने जाते परन्तु वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करने के कारण (बौद्ध, जैन) दर्शनों पर नास्तिकता की छाप लग जाती है। आस्तिक वही है जो वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करे तथा नास्तिक वही है जो वेद की निन्दा करे 'नास्तिको वेदनिन्दकः'
—(मनु० २।११)।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का सहज कर्म होना चाहिए—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च[3]।"

---

१. आचार्य सायण की ऋग्वेदभाष्य भूमिका में उद्धृत प्राचीन श्लोक।
२. मनुस्मृति १२। ४।
३. महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

मनु ने भी अत्यन्त क्षोभयुक्त शब्दों में वेदविमुख विप्र की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि जो द्विजन्मा वेदाध्ययन में परिश्रम न कर अन्य शास्त्रों में ही अध्ययनरत रहता है वह सान्वय शूद्रत्व को प्राप्त करता है। द्विज का द्विजत्व तो इसी में है कि वह उपनीत होकर वेदाध्ययन करे—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सावन्यः[1] ॥

कृष्णद्वैपायन महर्षि व्यास ने समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं लोकप्रवृत्तियों का मूल वेद को ही स्वीकार करते हुए लिखा है—

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्[2] ॥

भगवान् मनु ने भी वेद को सब ज्ञान से पूर्ण मानकर वेदवेत्ता पुरुष को ही सेनापति, न्यायधिकारी तथा चक्रवर्ती राजा के पद पर नियुक्त करने योग्य माना है[3]।

वेदों का धार्मिक रूप में सर्वाधिक महत्व है। सम्प्रति भारत में जितने भी मत-मतान्तर विभिन्न रूपों में प्रवाहित हैं, इन सबका मूलस्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। ये आर्यों के ही नहीं प्रत्युत मानवजाति के प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेद की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकास को हम समझ सकते हैं। उपनिषदों में समस्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के तत्त्वों की बीज रूप में उपलब्धि होती है। वेदान्त का अद्वैततत्त्व, सांख्याभिमत त्रिगुणात्मिका प्रकृति, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत प्रभृति मतवाद के मूलभूत ये ही वेदमूलक उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इसीलिए ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्[4] ॥

भाषा की दृष्टि से भी वेदों का महत्व कम नहीं है। वैदिक भाषा के अध्ययन ने भाषाविज्ञान को सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उन्नीसवीं शती के मध्य में भाषाविज्ञान के प्रतिष्ठापन का सर्वाधिक श्रेय संस्कृतभाषा को है। उसके पहले यूरोपीय भाषाविदों में मूलभाषा के विषय में पर्याप्त मतभेद था। ग्रीक, लैटिन,

१. मनु० २।१६८।
२. महाभारत, अनुशासन पर्व, १२२।४।
३. मनु० २।७, १२।१००।
४. बृहद्योगि याज्ञवल्क्यस्मृति १२।१।

हिब्रू या यहूदी भाषा को ही संसार की प्राचीनतम तथा आदिम मूलभाषा मानने पर जो विवाद था उसका अन्त संस्कृतभाषा की उपलब्धि से ही हुआ और एकमत से प्राचीनतम आर्यभाषा का निर्धारण किया जाने लगा। ऋग्वेद को भाषावैज्ञानिकों ने प्राचीनतम ग्रन्थ कहा और अब भाषाशास्त्र के रहस्यवेत्ता के लिए संस्कृत, विशेषकर वैदिक संस्कृत का अनुशीलन आवश्यक हो गया है।

वेदशब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

'वेद' शब्द स्वरभेद से प्राचीन ग्रन्थों में द्विविध उपलब्ध होता है। एक है अन्तोदात्त दूसरा आद्युदात्त। आद्युदात्त 'वेद' शब्द ऋग्वेद में १६ बार प्रयुक्त है जब कि अन्तोदात्त वेद शब्द इसमें नहीं मिलता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अन्तोदात्त वेद शब्द मिलता है[१]।

'वेद' शब्द पाणिनीय धातुपाठ की 'विद' ज्ञाने, विद विचारणे, विद्लृ लाभे, विद सत्तायाम्'[२] इन सभी धातुओं से भाव अथवा कर्तृ भिन्न किसी भी कारक में घञ् प्रत्यय करके बन सकता है। कारकों में साधारणतया करण या अधिकरण कारकों में ही इसे व्युत्पन्न माना है। जैसे वेदभाष्यकार भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता के प्रारम्भ में लिखा है—'विद्यते लभ्यतेऽनेनेति करणे घञ्'।

आयुर्वेद की सुश्रुत संहिता में भी लिखा है—"आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दन्तीत्यायुर्वेदः"। इस वचन की व्याख्या में डल्हण ने लिखा है—"आयुरस्मिन् आयुर्वेद विद्यते = अस्ति······ विद्यते = ज्ञायतेऽनेन········विद्यते = विचार्यतेऽनेन वा···· आयुरनेन विन्दति = प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः[३]।" डल्हण की इस टीका के अनुसार सुश्रुतकार को पूर्वोक्त चारों धातुओं से 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति अभिप्रेत है।

अभिनवगुप्त ने सत्ता, लाभ और विचार अर्थवाली 'विद' धातु से भाव में 'वेद' शब्द सिद्ध मानते हुए लिखा है—'नाट्यस्य वेदनं सत्ता लाभो विचारश्च यत्र तन्नाट्यवेद शब्देन उच्यते[४]।'

क्षीरस्वामी ने अमरकोष की अपन टीका में 'विदन्त्यनेन धर्ममिति वेदः' तथा सर्वानन्द ने भी—'विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः' ऐसा लिख कर ज्ञानार्थक विद धातु से इसे करण कारक में निष्पन्न माना है[५]। जबकि जैनाचार्य हेमचन्द्र

१. माध्यन्दिनसंहिता २।२१, अथर्ववेद ७।२८।१।
२. पाणिनीय धातुपाठ की क्रमशः अदादिगण, रुधादिगण, तुदादिगण एवं दिवादिगण की धातुएँ।
३. सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १।१५ डल्हणकृत भाष्य सहित।
४. नाट्यशास्त्र १।१, भाग १ पृ० ५।
५. अमरकोष १।५।३।

इसे लाभार्थक विदधातु से निष्पन्न मानते हैं—'विन्दन्ति अनेन धर्मं वेदः'[१] । आचार्य मेधातिथि ने इसे अपादान कारक में भी व्युत्पन्न करने का संकेत किया है—'व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः । तच्च वेदनमेकैकस्माद् वाक्याद् भवति[२] ।'

कर्तृकारक में भी वेद शब्द—यद्यपि 'घञ्' प्रत्यय भाव या कर्तृभिन्न कारक में ही होता है जिससे यह वेद शब्द बनता है, किन्तु अनेक भाष्यकारों को कर्तृकारक में भी घञ् प्रत्यय करके 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति अभीष्ट प्रतीत होती है । तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर मिश्र ने लिखा है—'पुरुषार्थानां वेदयिता वेद उच्यते'[३] । इसी प्रकार कपर्दिस्वामी ने भी आपस्तम्ब भाष्य में लिखा है—'निःश्रेयसकराणि कर्माण्यावेदयन्ति वेदाः[४] ।'

चरक संहिता में भी लिखा है—'तत्रायुर्वेदयतीति आयुर्वेदः' । इस पर टीकाकार चक्रपाणि ने लिखा है—'वेदयति बोधयतीति'[५] । इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'विद ज्ञाने' धातु से कर्तृकारक में भी 'वेद' शब्द बना है किन्तु इस प्रसंग में धातु की णिजन्तता अनिवार्य है ।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि आद्युदात्त वेद शब्द ही ज्ञान का पर्याय है । अन्तोदात्त वेद शब्द कुशाओं की मुष्टि से निर्मित यज्ञिय पदार्थ-विशेष का वाचक है—ऐसा वेदार्थज्ञ आचार्यों का मत है । आद्युदात्त वेद शब्द का निर्वचन वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता है । कुशमुष्टि वाचक अन्तोदात्त वेद शब्द के ही निर्वचन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध हैं[६] । इसकी अन्तोदात्तता उञ्छादिगण में पठित होने से होती है[७] ।

इस प्रकार पूर्वोक्त भाव, कर्म, करण, अधिकरण, कर्त्ता आदि में विद्यमान व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि ज्ञान, ज्ञान का विषय, ज्ञेय पदार्थ, ज्ञान के साधन, ज्ञान प्राप्त करानेवाला ये सब वेद शब्द के वाच्यार्थ हो सकते हैं ।

वेदों की संख्या व विभाग

प्राचीन ग्रन्थों में वेद के लिए चार और तीन दोनों संख्याओं का प्रयोग

---

१. अभिधानचिन्तामणि, हेमचन्द्राचार्य, पृ० १०६ ।
२. मनु० भाष्य २।६, पृ० ५८, प्रथमभाग ।
३. तैत्तिरीय संहिता भाष्य ३।३।४।७ ।
४. आपस्तम्ब परिभाषासूत्र भाष्य १।३३ ।
५. चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०।२३ प्रथम भाग पृ० ५८६ ।
६. जैसे-तैत्तिरीय संहिता १।४।२०, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।६।१० आदि ।
७. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।१।१६० ।

मिलता है। जैसे—'चत्वारो वेदाः' (महाभाष्य पस्पशाह्निक) तथा 'वेद-त्रयी' (मनु० २।४) आदि। इसका कारण यह है कि गद्य, पद्य एवं गानरूपी रचना भेद से यह तीन प्रकार का माना गया है। छन्दोबद्ध पद्यात्मक वे मन्त्र जिनमें पाद व्यवस्था है उन्हें 'ऋक्' नाम से अभिहित किया जाता है तथा इन ऋचाओं पर जो गान प्रस्तुत किए जाते हैं उन गीतिरूप मन्त्रों की 'साम' नाम से प्रसिद्धि है। इसी प्रकार वे मन्त्र जो ऋचाओं तथा सामों से पृथक् गद्य रूप में पठित हैं उन्हें यजुष् कहते हैं। इस क्रम में यजुर्वेद संहिता में जो छन्दोबद्ध पद्य आएँगे वे 'ऋक्' ही कहलाएँगे तथा अथर्ववेद संहिता में जो गद्य भाग होगा वह 'यजुष' ही समझा जाएगा। यही वेद के त्रिविधत्व का कारण है। इस सन्दर्भ में मीमांसा के निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं— 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः'[१]।

यज्ञमें ऋत्विजों द्वारा क्रियमाण कर्मों को लक्ष्य में रखकर संगृहीत किए गए संहिता भेद से वेद चार प्रकार का भी होता है। प्रत्येक बड़े और छोटे यज्ञों में चार प्रमुख ऋत्विक होते हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। ऋग्वेद में ऋचाओं का सकलन यज्ञ में देवताओं के आवाहन रूप हौत्र कर्म को लक्ष्य में रखकर किया गया है जब कि उन्हीं ऋचाओं पर गान द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले औद्गात्र कर्म से सम्बद्ध मन्त्रों का संकलन सामवेद में उद्गाता के लिए विद्यमान है अध्वर्यु यज्ञ का सम्पादक प्रधान ऋत्विज् है जो यजुर्वेद में संगृहीत मंत्रों का उच्चारण करता हुआ अपने विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् यज्ञ का अध्यक्ष होता है तथा यज्ञिय अनुष्ठान में उत्पन्न होने वाले विविध दोषों का परिमार्जन एवं निरीक्षण करता है। तीनों वेदों का जानकार एवं उनमें निष्णात होने के साथ ही मुख्य रूप से उसके लिए अथर्ववेद का ज्ञान आवश्यक है जिसमें शान्तिक, पौष्टिक एव प्रायश्चित आदि के मन्त्रों का बाहुल्य है तथा विभिन्न सामाजिक प्रार्थनाएँ हैं। इस प्रकार इन चार ऋत्विजों के विशिष्ट कर्मों के लिए आवश्यक मन्त्रों का संकलन चार वैदिक संहिताओं के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से भी इस सिद्धान्त की सूचना का संकेत प्राप्त होता है--

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः[२] ॥

क्या वेदों का चार विभाग वेद व्यास ने किया ?

अनेक मध्यकालीन विद्वानों[३] की ऐसी मान्यता है कि वेद पहले एक ही था

---

१. जैमिनि सूत्र--२।१।३५-३७।
२. ऋग्वेद १०।७१।११।
३. भट्टभास्कर मिश्र--तै० भाष्य का प्रा०, दुर्गाचार्य-निरुक्त की टीका१।२०।

किन्तु द्वापर के अन्त में कृष्णद्वैपायन ने पूर्वोक्त चार प्रकार से संकलन कर उसका विभाग किया जिसके कारण उन्हें वेद व्यास की उपाधि से विभूषित किया गया। माध्यन्दिन भाष्यकार आचार्य महीधर की भी ऐसी ही मान्यता है। अपने भाष्य के प्रारम्भ में वे लिखते हैं—'तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायन जैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।' इस मत का स्वल्पमूल पुराणों में भी मिलता है—

जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः॥
एको वेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्वापरादिषु[1]।
तथा— वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु[2]।

अर्थात् द्वापर के अन्त में एक ही चतुष्पाद वेद चार भागों में विभक्त किया जाता है। यह विभाजन अब तक २८ बार हो चुका। जो कोई उस विभाग को करता है उसका नाम वेदव्यास होता है।

स्वामी दयानन्द का मत—स्वामी दयानन्द का मत पूर्वोक्त मत से भिन्न है। वे इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—'जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किए, यह बात झूठी है क्योंकि व्यास के पिता, पितामह, प्रपितामह, पराशर, शक्ति, वशिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे[3]।' इस प्रकार आचार्य महीधर वेदों का विभाग कर उन्हें चतुर्धा संकलित करने का श्रेय जहाँ कृष्ण द्वैपायन को देते हैं वहीं स्वामी दयानन्द की यह मान्यता है कि इससे पूर्व भी वेदों के चार विभाग थे तथा उनकी ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व नाम से पहले से ही प्रसिद्धि थी।

इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द का मत युक्त जान पड़ता है क्योंकि समस्त वैदिक इस बात पर सहमत हैं कि मन्त्र अनादि हैं तथा मन्त्रों में विद्यमान ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार विभाग भी मन्त्रों के सर्वप्रथम प्रकाश के साथ ही प्रसिद्ध हुए थे। गद्य, पद्य, गेय या ऋत्विक्-कर्त्तव्यता के आधार पर मन्त्रों का पूर्वोक्त चार विभाग और नामकरण यदि प्रथमतः वेदव्यास ने किया होता तो उसके पूर्व उनका निर्देश नहीं उपलब्ध होना चाहिए था। स्वयं ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में वेदों के विभागपूर्वक उनका नामोल्लेख उपलब्ध होता है—

१. विष्णुपुराण ३।३।१९-२०।
२. मत्स्यपुराण १४४।११।
३. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० ३३४।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत[1] ॥

इसी सन्दर्भ में अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भी द्रष्टव्य है--

यस्माद्दचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ॥
—अथर्ववेद १०।२३।४।२०

इसी प्रकार यदि कृष्ण द्वैपायन तक वेद एक ही था और उनका विभाग बाद में हुआ होता तो वेद का बहुवचनान्त पद उसके पूर्व प्रयुक्त नहीं होना चाहिए था, जब कि निम्न ग्रन्थों में विद्यमान ये बहुवचनान्त वेद शब्द के प्रयोग इस बात के द्योतक हैं कि वेदों का विभाग इसके पूर्व भी विद्यमान था--

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः[2] ।

तथा—ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः ।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु[3] ॥

इस मन्त्र के 'वेदाः' पद की व्याख्या में आचार्य सायण ने भी लिखा है—'वेदाः साङ्गाश्चत्वारः"। तैत्तिरीय एवं काठक संहिता में भी बहुवचनान्त वेद शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है– वेदेभ्यः स्वाहा'[4] । काठक शताध्ययन ब्राह्मण के आरम्भ के ब्रह्मौदन प्रकरण में अथर्ववेद की प्रधानता का वर्णन करते हुए चारों वेदों का उल्लेख मिलता है--

"आथर्वणो वै ब्रह्मणः समानः--चत्वारो ही मे वेदास्तानेव भागिनः करोति मूलं वै ब्रह्मणो वेदाः वेदानामेतन्मूलं यदृत्विजः प्राश्नन्ति तद् ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वम् ।" गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है—'स " सर्वांश्च वेदान्'[5]....आदि ।

उपनिषदों का मत—उपनिषदों के आलंकारिक या ऐतिहासिक गाथात्मक अंशों को छोड़ कर शेष अंश जो मन्त्रमय हैं निर्विवाद ही प्राचीन काल के हैं। श्वेताश्वतरों की उपनिषद् मन्त्रोपनिषद् कही जाती है। उसका यह निम्न मन्त्र सिद्ध करता है कि न केवल कृष्ण द्वैपायन से पूर्व वेदों की एक से अधिक सत्ता थी प्रत्युत सर्गारम्भ में ही वे विभक्त हुए थे—

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'[6] ।

---

१. ऋग्वेद १०।९०।९ तथा यजुर्वेद ३१।७ ।
२. अथर्व शौनक संहिता ४।३५।६ ।
३. वही १९।९।१२ ।
४. तैत्तिरीय संहिता ७।५।११।२ तथा काठक संहिता ५।२ ।
५. गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग १।१६ ।
६. श्वेताश्वतर मन्त्रोपनिषद ६।१८ ।

मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या का परिगणन करते हुए स्पष्ट ही उल्लेख है—"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो……[१]" आदि। मनुस्मृति में भी स्पष्ट ही लिखा है—

अग्निवायुरविस्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुः सामलक्षणम्[२]॥

रामायण में भी वेदों के विभाग एवं नामों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्[३]॥

इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत के कृष्ण द्वैपायन एक ऐतिहासिक पुरुष हैं तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों का संकलन किया है। स्वयं कृष्ण द्वैपायन ने अनेक ऋषि-मुनियों की सहायता से अपने समय में उपलब्ध वेद के पाठान्तरों को एकत्र करके वेद शाखाओं का निर्माण तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की सामग्री को भी क्रम देकर तत्तद् वेदशाखानुकूल उनका संकलन व सम्पादन किया होगा। वैदिक वाङ्मय के तत्काल उपलब्ध ग्रन्थों के संकलन, प्रचार-प्रसार के कारण ही सम्भवतः उनके शिष्य-मण्डल एवं तत्कालीन विद्वत्समाज में वेदों के उद्धार एवं शाखाओं के परिष्कार के कारण उन्हें जो अतुल्य श्रेय मिला उसके कारण ही वे वेद-व्यास नाम से प्रसिद्ध हो गए।

अधिकांश विद्वान् ब्राह्मणों को भी वेद मानते हैं। अतः यह भी सम्भव है कि महाभारत युद्ध के बाद तत्कालीन समय में ब्राह्मण ग्रन्थों की अस्त-व्यस्त स्व-स्ववेदशाखानुकूल सामग्री के पृथक्-पृथक् संकलन का कोई महान् कार्य उनके सान्निध्य या निर्देशन में सम्पन्न हुआ हो जिसके कारण उन्हें 'वेदव्यास' की उपाधि से विभूषित किया गया हो[४]। कुछ भी हो वस्तुस्थिति तो यही है कि कृष्ण द्वैपायन से पूर्व भी वेदों की प्रसिद्ध चारों संहिताओं की सत्ता थी। अतः यह कहना उचित नहीं कि उनसे पूर्व वेद एक ही था तथा उन्होंने ही प्रथम बार इसका विभाजन व नामकरण किया। स्वयं महाभारत के निम्न सन्दर्भों के अध्ययन से भी स्पष्ट है कि महाभारतकार कृष्णाद्वैपायन के पूर्व भी वेदों का विभाग या अनेकत्व विद्यमान था।

कृतयुग की एक वार्त्ता सुनाते हुए मुनि वैशम्पायन जनमेजय से कहते हैं—

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१।५।
२. मनु० १।२३।
३ वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड ३।२८।
४. वेदद्रुमश्च यं प्राप्य संशाखः समपद्यते—वायुपुराण १।४५।

पुरा कृतयुगे राजन्नार्ष्टिषेणो द्विजोत्तमः।
वसन् गुरुकुले नित्यं नित्यमध्ययने रतः॥
तस्य राजन् गुरुकुले वसतो नित्यमेव च।
समाप्तिं नागमद्विद्यां नाऽपि वेदा विशाम्पते[1]॥

इसी प्रकार दाशरथि राम के राज्य का वर्णन करते हुए द्रोणपर्व में लिखा है—

वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः।
हव्यं कव्यं च विविधं निष्पूर्तं हुतमेव च[2]॥

भीष्म उशना के प्राचीन श्लोक सुनाते हुए कहते हैं—

राज्ञश्चाऽथर्ववेदेन सर्वकर्माणि कारयेत्[3]।

आदिपर्व के प्रसिद्ध शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त के आश्रम-प्रवेश के समय का चित्र उपस्थापित करते हुए भगवान् द्वैपायन ने लिखा है—

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेस्विह कर्मसु॥
अथर्ववेदप्रवराः पूययाज्ञिकसम्मताः।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते[4]॥

महाभारत के इन प्रमाणों तथा पूर्व के अनेक प्रमाणों से स्पष्ट है कि महाभारतकार द्वैपायन के पूर्व भी वेदों का चतुर्धा विभाग एवं उनका नामकरण वर्तमान था, अतः स्वामी दयानन्द की एतद्विषयक मान्यता निःसन्देह युक्त एवं प्रामाणिक प्रतीत होती है।

वेदों की विभिन्न शाखाएँ

ऋषियों द्वारा अपने शिष्यों में चारों संहिताओं का अध्ययनाध्यापन एवं प्रचार-प्रसार करने से यह वेद कल्पतरु विविध-शाखा-सम्पन्न बनकर विस्तृत बन गया। इन शाखाओं की विविधता का कारण था कि किन्हीं मन्त्रों में उच्चारण का भेद, संहिता में भेद अथवा किन्हीं विशेष कारणवश किया गया पाठान्तर आदि। शाखा के साथ चरण शब्द भी सम्बद्ध है जिसका प्रयोग सम्प्रति शाखा अर्थ में ही

---

१. महाभारत, शल्यपर्व ४१।३-४।
२. वही, द्रोणपर्व ५१।२२।
३. महाभारत, शान्तिपर्व ७३।५।
४. वही, आदिपर्व ६४।३१, ३३।

किया जाता है। कुछ विद्वान् चरण और शाखा में भेद बताते हुए शाखा को चरण का ही अवान्तर भेद मानते हैं[१]। वेद की इन शाखाओं का विस्तृत विवरण पुराणों तथा चरणव्यूह में किया गया है। शाखाओं की संख्या के विषय में इन ग्रन्थों में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है।

ऋग्वेद—महाभाष्यकार पतंजलि ने इसकी २१ शाखाओं की चर्चा अपने ग्रन्थ में की है[२] जिनमें चरणव्यूह के अनुसार पांच प्रमुख हैं। इनमें से केवल एकमात्र शाकल शाखा की संहिता ही सम्प्रति ऋग्वेद के रूप में प्रचलित है।

यजुर्वेद—इसकी शाखाओं का विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

सामवेद—पुराणों के अनुसार इसकी १००० शाखाएँ थीं जिसकी पुष्टि भाष्यकार पतंजलि ने भी—'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' ऐसा लिखकर की है। पुराणों या वैदिक साहित्य में कहीं भी इन समस्त शाखाओं का नाम तक उपलब्ध नहीं होता। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह तथा जैमिनी गृह्यसूत्र के पर्यालोचन से इसकी १३ शाखाओं का नाम ज्ञात हो सका है जिनमें केवल तीन शाखाएँ—कौथुम, जैमिनीय एवं राणायनीय ही सम्प्रति उपलब्ध हैं। इनमें से कौथुम संहिता ही विशेष लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद—भाष्यकार पतंजलि ने इसकी ९ शाखाओं का उल्लेख किया है[३]। चरणव्यूह, प्रपंचहृदय तथा सायणभाष्य के उपोद्घात में भी इसकी ९ शाखाओं की ही चर्चा है किन्तु नामों में कुछ विभिन्नता है। अथर्ववेद के रूप में सम्प्रति एकमात्र शौनक शाखा की संहिता ही उपलब्ध एवं प्रचलित है। इसकी पैप्पलाद शाखा भी त्रुटित रूप से उपलब्ध होती है किन्तु मुद्रित नहीं है।

अन्य वैदिक ग्रन्थ

ब्राह्मण—यज्ञिय कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या एवं उनका वैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक निरूपण प्रस्तुत करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। सम्प्रति ऋग्वेद और यजुर्वेद के तीन-तीन तथा सामवेद के ९ एवं अथर्ववेद का एक ब्राह्मण उपलब्ध होता है।

आरण्यक एव उपनिषद्—आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट के रूप में हैं। यज्ञों के रहस्यों एवं उनमें विद्यमान आध्यात्मिक तत्त्वों की मीमांसा ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है जो अरण्य के शान्त और एकान्त वातावरण में पठनीय है, इसी

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त), अध्याय ६ पृ० ७१-७२।
२. 'एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्'—महाभाष्य पस्पशाह्निक।
३. 'नवधाऽऽथर्वणो वेदः'—महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

कारण इसका नाम आरण्यक है। उपनिषद् आरण्यकों में ही सम्मिलित हैं या उनके विशिष्ट अंग हैं। वेद के अन्तिम भाग या सारभूत होने के कारण ये 'वेदान्त' नाम से भी विख्यात हैं। प्रस्थानत्रयी (जो वैदिक धर्म की मूलतत्त्व-प्रतिपादिका है) में मुख्य उपनिषद् ही है जब कि अन्य प्रस्थान गीता एवं ब्रह्मसूत्र उसी पर आश्रित हैं। भारतवर्ष में उदित होनेवाले समस्त सांख्य वेदान्तादि दर्शनों का ही यह मूल ग्रन्थ नहीं अपितु बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि दर्शनों की भी यही आधारशिला है।

सम्प्रति ऋग्वेद के दो, यजुर्वेद के तीन तथा सामवेद का एक ही आरण्यक उपलब्ध होता है। उपनिषदों की संख्या में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तिकोपनिषद् में इनकी संख्या १०८ है जिनमें ऋग्वेद से १०, यजुर्वेद से ३१, सामवेद से १६ तथा अथर्वेद से ३१ सम्बद्ध मानी गयी हैं। आचार्य शंकर ने जिन दस उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है वे प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माने जाते हैं।

वेदाङ्ग साहित्य—वेदार्थ के जानने में जो सहायक शास्त्र हैं उन्हें वेदांग नाम से अभिहित किया गया है। ये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष भेद से छः प्रकार के हैं। शिक्षा नामक अंग के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ प्रातिशाख्य हैं जिनमें वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्वर, मात्रा, बल आदि का अविकल विधान उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र भी श्रौत, गृह्य, धर्म एवं शुल्ब के भेद से चतुर्विध होते हैं, जिनकी कई पुस्तकें सम्प्रति उपलब्ध हैं। व्याकरण तो वेदांगों में मुख्य ही माना जाता है जिसमें पदों की प्रकृति प्रत्यय आदि के उपदेश से मीमांसा की गई है। इसका प्रतिनिधि-ग्रन्थ सम्प्रति पाणिनि की अष्टाध्यायी है जिस पर पतंजलि का महाभाष्य नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ एवं अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण वृत्तियाँ तथा टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। वेद के कठिन शब्दों का जो संग्रह 'निघण्टु' नाम से प्रसिद्ध है उसी की व्याख्या का नाम निरुक्त है। सम्प्रति एक ही निघण्टु उपलब्ध होता है जिस पर महर्षि यास्क का 'निरुक्त' है। वेद का पाँचवाँ अंग छन्द है जिसका प्रतिनिधि ग्रन्थ आचार्य पिंगल का छन्द:सूत्र है। ज्योतिष वेदांगों में अन्तिम है। इससे सम्बद्ध प्राचीन दो ग्रन्थ ऋग्वेद का आर्च ज्योतिष तथा यजुर्वेद का याजुष ज्योतिष ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होता है जिसके अनेक श्लोकों का रहस्य अभी भी अज्ञात है। ज्योतिष-सम्बन्धी 'सूर्य सिद्धान्त' प्रभृति अन्य अनेक ग्रन्थ बाद में निर्मित हुए जो अवान्तर काल में उपयोगी एवं बहुचर्चित हुए।

सामान्यतः सिद्धान्त तो यही है कि जितनी शाखायें होंगी उतनी ही संहितायें, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी होंगे। श्रौत तथा गृह्यसूत्र भी उतने ही होने चाहिए क्योंकि शाखा के अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् रखते थे और अपना श्रौत कार्य अपने विशिष्ट श्रौतसूत्र से सम्पन्न करते थे तथा अब भी करते

हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश अब तो बहुतेरी शाखाओं के कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। किसी शाखा की अपनी सहिता है तो दूसरे का ब्राह्मण। किसी का अपना ब्राह्मण है तो दूसरे का सूत्र। तात्पर्य यह है कि ऐसी शाखाएँ अत्यन्त स्वल्प हैं जिनका समग्र अंश क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध होता है। काल के लम्बे अन्तराल में अनेक वैदिक ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं समाप्त हुआ अपितु बहुतों का तो नाम भी ज्ञात करना अब सम्भव नहीं।

यजुर्वेद और उसकी शाखाएँ

आध्वर्यव कर्म के लिए उपादेय यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है। यह शब्द 'यज' धातु से निष्पन्न होता है—यजुर्यजतेः (निरुक्त ७।१२)। अध्वर्यु यज्ञ का मुख्य सम्पादक ऋत्विक् होता है जिससे यह वेद सम्बद्ध है। ये यजुर्मन्त्र ऋक् तथा साम से भिन्न छन्द पादादि की व्यवस्था से रहित प्रायः गद्यात्मक ही होते हैं। इस कारण भी इन्हें 'यजुः' कहते हैं—'अनियताक्षरावसानो यजुः', गद्यात्मको यजुः तथा शेषे यजुः शब्द[१]' आदि परिभाषाओं का तात्पर्य भी यही है।

वेद के दो सम्प्रदाय हैं—१—ब्रह्मसम्प्रदाय तथा २—आदित्यसम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदित्य यजुः शुक्लयजुः के नाम से प्रसिद्ध है जो महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त है—'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते[२]।' अतः आदित्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्लयजुर्वेद है जब कि ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्णयजुर्वेद है।

यजुर्वेद के शुक्लत्व और कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप के ऊपर आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक मन्त्रों का ही संकलन है जब कि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही उनके विनियोजक ब्राह्मण का भी सम्मिश्रण है। फलतः मन्त्र एवं ब्राह्मण का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुः के कृष्णत्व तथा मन्त्रों का विशुद्ध और अमिश्रित रूप ही शुक्लयजुः के शुक्लत्व का मुख्य हेतु हुआ।

कृष्ण यजुर्वेद की प्रधान शाखा 'तैत्तिरीय' नाम से विख्यात है जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट किया गया है[३]—गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने अपने अधीत यजुषों का वमन कर दिया और गुरु के

---

१. जैमिनि सूत्र—२।१।३७।
२. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १४।९।५।३३।
३. काण्वसंहिता के सायण भाष्य की भूमिका, श्लोक ६-१२ तथा महीधर के माध्यन्दिन-भाष्य का प्रारम्भ।

आदेश से अन्य शिष्यों ने तित्तिरि का रूप धारण कर उस वान्त यजुष का भक्षण किया। पुनः सूर्य को प्रसन्न कर उनके अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुष् की उपलब्धि की।

पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि 'याज्ञवल्क्य वाजसनेय' एक अत्यन्त प्रौढ तत्त्वज्ञ व्यक्ति थे जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक में किया गया है[1]। ये मिथिला के निवासी थे तथा राजा जनक की सभा में इनका विशेष आदर था। इनके पिता का नाम देवराज था जो दरिद्रों को अन्न देने के कारण 'वाजसनि' इस उपनाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के शिष्यों से वेदचतुष्टय एवं अपने मामा वैशम्पायन से यजुर्वेद का विशेष अध्ययन किया था[2]। प्रतीत होता है कि अपने मामा गुरु वैशम्पायन से मतभेद होने के कारण जब इन्होंने उन्हें छोड़कर 'आदित्य' नामक ऋषि से यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अपनी इस विशिष्ट शाखा का संकलन एवं प्रवचन किया, सम्भवतः इसके पूर्व तक यजुर्वेद नाम से प्राप्त संहिताग्रन्थ ब्राह्मण-मिश्रित ही हुआ करते थे।

इस संहिता के माध्यन्दिन नाम का कारण

याज्ञवल्क्य महातेजस्वी ब्राह्मण थे। संभवतः सर्वप्रथम इन्होंने ही यजुर्वेद के मन्त्रभाग को ब्राह्मणों से पृथक् कर उसका विशुद्ध संस्करण तैयार किया। दिन के मध्यभाग में जिस प्रकार सूर्य अत्यन्त देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार महर्षि आदित्य से प्राप्त इस वेद-ज्ञान की, जो विशुद्ध रूप से केवल मन्त्रात्मक था, उत्कृष्टता या प्रखरता को द्योतित करने के साथ ही अपने गुरु से उपकृत होने के कारण इस शाखा को 'माध्यन्दिन शुक्ल' शाखा के नाम से उन्होंने विख्यात किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त इस शाखा के 'माध्यन्दिन' नामकरण का एक अन्य प्रमुख कारण भी है। याज्ञवल्क्य के अनेक शिष्य हुए जिन्होंने उनके इस प्रवचन को उनसे प्राप्त किया। वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रवचन को पढ़ने वाले ये शिष्यगण 'वाजसनेयिनः' कहलाते हैं। उनमें से जिन १५ शिष्यों ने उसे विशेष रूप से पढकर उसका आगे प्रवचन किया तथा जिनके नाम से शुक्ल यजुर्वेद को यह वाजसनेय संहिता १५ विभिन्न शाखाओं में विभक्त हुई, इनमें से एक शिष्य का नाम 'माध्यन्दिन'

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ३ एवं ४।

२. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३२३।

भी है। इसी माध्यन्दिन नामक शिष्य के द्वारा प्रोक्त होने के कारण इस वाजसनेय संहिता को माध्यन्दिन संहिता के नाम से जाना जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय संहिता की १५ शाखाएँ

महर्षि पतंजलि ने अपने व्याकरण-महाभाष्य में…'एकशतमध्वर्यु शाखाः' (पस्पशाह्निक) लिखकर यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का संकेत किया है। प्रपञ्च-हृदय के द्वितीय प्रकरण (वेद प्रकरण) में भी—'यजुर्वेद एकोत्तरशतधा' इस लेख से इसकी १०१ शाखाओं के होने का उल्लेख मिलता है। अब तो इन समस्त शाखाओं का नाम भी कहीं नहीं उपलब्ध होता है संहिता की तो बात ही दूर है। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थ में यजुर्वेद की इन १०१ शाखाओं के नामों का विवरण अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रस्तुत किया है यद्यपि इन नामों पर कुछ सन्देह भी है[1]।

इन कुल १०१ शाखाओं में से १५ शाखाएँ शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय संहिता की हैं जब कि शेष ८६ शाखाएँ कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य से अध्ययन कर जिन १५ शिष्यों ने शुक्ल यजुर्वेद की विभिन्न १५ शाखाओं का प्रवचन किया, जिनके नाम से उन-उन शाखाओं का नामकरण हुआ, उनका उल्लेख वायुपुराण में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है—

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्ववैधेयशालिनः।
माध्यन्दिनश्च शापेयी विदिग्धश्चाप्य उद्दलः॥
ताम्रायणश्च वातस्यश्च तथा गालवशैबिरी।
आटवी च तथा पर्णी वीरणी सपरायणः।
इत्येते वाजिनः प्रोक्ताः दश पञ्च च संस्मृताः[2]॥

कुछ पाठभेद से यही नाम ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्व भाग) में भी मिलता है[3]।

पं० भगवद्दत्त जी ने अपने ग्रन्थ में कुछ चरणव्यूहों के पाठों को उद्धृत किया है जिनमें वाजसनेय के १५ शिष्यों के निम्न नाम दिये हैं—"वाजसनेया नाम पञ्चदश भेदा भवन्ति। जाबाला बौधायनाः काण्डवा माध्यन्दिनाः शाफेयास्तापनीयाः कपोलाः पौण्डरवत्सा आवटिकाः परमावटिकाः पाराशरा वैणेया वैधेया अद्धा बौधेयाश्चेति।"

---

१. पं० भगवद्दत—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० १६१।
२. वायुपुराण, अध्याय १ श्लोक २४-२६।
३. ब्रह्माण्डपुराण अध्याय ३५ श्लोक २८-२९।

आचार्य महीधर ने भी अपने यजुर्वेद-भाष्य के आरम्भ में लिखा है—"जाबालवैधेयकाण्वमाध्यन्दिनादिभ्यः पञ्चदशशिष्येभ्यः"। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शुक्लयजुर्वेद-वाजसनेयसंहिता की कुल १५ शाखाएँ कभी प्रचलित थीं। सम्प्रति इसकी केवल दो शाखाओं, काण्व एवं माध्यन्दिन, की संहिताएँ ही उपलब्ध होती हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ

जैसा कि पहले लिखा गया है, कृष्ण यजुर्वेद के मुख्य प्रवक्ता याज्ञवल्क्य के मामा और गुरु वैशम्पायन थे। इसकी ८६ शाखाओं का उल्लेख पुराणों में निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

वैशम्पायनगोत्रोऽसौ यजुर्वेदं व्यकल्पयत्।
षडशीतिस्तु येनोक्ताः संहिता यजुषां शुभाः॥
षडशीतिस्थता शिष्याः संहितानां विकल्पकाः।
सर्वेषामेव तेषां वै त्रिधा भेदाः प्रकीर्तिताः॥
उदीच्या मध्यदेश्याश्च प्राच्याश्चैव पृथग्विधाः॥[1]

अब तो वैशम्पायन के उन ८६ शिष्यों के, जिन्होंने इन शाखाओं का प्रवचन किया था, नाम भी प्रामाणिक रूप से ज्ञात करना दुष्कर है। इन ८६ शाखाओं में से सम्प्रति केवल चार शाखाओं के ही संहिता-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। ये हैं—तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी एवं कपिष्ठलकठसंहिता। इनमें भी कपिष्ठलकठसंहिता अपूर्ण ही उपलब्ध है।

वेदभाष्य की प्रवृत्ति का उदय

शाखाभेद वेदार्थ की प्रथम भित्ति—वेद के प्रादुर्भाव के बाद से ही उसके अध्ययन एवं अध्यापन करने वाले शिष्य व आचार्यों की एक लम्बी परम्परा भारतवर्ष में सुदीर्घ काल तक चलती रही है। प्रारम्भ में तो मन्त्रों एवं मन्त्रार्थों का ज्ञान गुरु-शिष्य-परम्परा में केवल प्रवचन और श्रवण-मनन के द्वारा ही चलती रही, जिसके कारण ही वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं, किन्तु कालान्तर में मनुष्यों की स्मृति-शक्ति में क्षीणता आने तथा मतिमान्द्य के साथ ही वेदार्थ में सन्देह, काठिन्य आदि के कारण दुरूहता के प्रतीत होने पर ऋषियों एवं आचार्यों ने विभिन्न शाखाओं, वेदांगों आदि की रचना कर वेद के अर्थ को स्पष्ट करने का उपक्रम किया। वेदों की विभिन्न प्रकार की शाखाओं के विस्तार का यह भी एक कारण था। उदाहरण के लिए हम इसी माध्यन्दिन संहिता के एक मन्त्र का उदाहरण देते हैं जिससे स्पष्ट

---

१. वायुपुराण ६१।५-७, तुलनीय-ब्रह्माण्डपुराण (पूर्वभाग) ३४।८-१०।

होता है कि किस प्रकार संहिताओं में मन्त्रार्थ की स्पष्टता को लक्ष्य करके पाठभेद किं वा शाखाभेद उत्पन्न हुआ।

इस संहिता के प्रथम अध्याय के १८ वें मन्त्र का एक अंश है 'भ्रातृव्यस्य वधाय'। यहाँ 'भ्रातृव्य' शब्द के दो अर्थ हैं—एक भतीजा (भ्रातुरपत्यम्) तथा दूसरा अर्थ है शत्रु। भतीजा अर्थवाला भ्रातृव्य शब्द व्यत्प्रत्ययान्त होने से अन्तस्वरित होता है जब कि शत्रु अर्थवाला भ्रातृव्य शब्द व्यन् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त होता है[1]। यहाँ यदि स्वर पर गहन विचार न किया जाय तो स्वार्थी मनुष्य शत्रु की जगह भतीजे के वध की कल्पना भी कर सकता है। ऐसी स्थिति से बचने के लिए शाखाकारों ने 'भ्रातृव्यस्य' पद के स्थान पर 'द्विषतः' यह पाठ अपनी शाखा में कर दिया[2]। इससे स्पष्ट है कि उच्चारण, गान आदि की प्रक्रिया में मतभेद के साथ ही अर्थ की स्पष्टता भी आचार्यों के लिए पृथक् शाखा-निर्माण के कारणों में अन्यतम है।

इस प्रकार मूलपाठ से अन्यथा जो विभिन्न पाठ शाखान्तरों में आचार्यों ने अपने प्रवचन में सरलीकरण या अर्थ की स्पष्टता के लिए किया, उसे हम वेदार्थ की चेष्टा के मूल रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इस विषय में निरुक्त भी उपर्युक्त धारणा का पोषक है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।[3]"

वेद के परोक्ष भाष्यकार: पदपाठकार -- वेद-भाष्य की प्रारम्भिक परम्परा में हम पदपाठकारों को प्रथम भाष्यकार के रूप में मान सकते हैं। इन्होंने वेद के संहिता-पाठ को विन्यस्त करके प्रत्येक पद का जो पृथक्-पृथक् पाठ प्रस्तुत किया है उससे कई पदों की प्रकृतियों, उनके प्रत्ययों, समासों, विभक्तियों एवं सन्धियों आदि का स्वरूप अनायास ही स्पष्ट हो जाता है। इनमें से अधिकांश बातों को स्पष्ट करने के लिए पदपाठकार अवग्रह (ऽ) का प्रयोग करते हैं। वेदार्थ में पदपाठ को बहुत प्रामाणिक माना गया है। यतो हि कई पदों का अनेक प्रकार से भी विच्छेद हो सकता है और भिन्न संहिताओं के पदपाठों में वह मिल भी जाता है, अतः वेदार्थ करने वालों को समस्त पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

---

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी ४।१।१४४-१४५ तथा ६।१।१९७, १९९।
२. काण्व संहिता १।२९।
३. यास्क — निरुक्त १।२०।

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने अपने शास्त्र में जिन कुछ दुरूह वैदिक पदों का प्रकृति-प्रत्ययादि-निरूपण-पुरःसर अर्थ दिखाया है, उससे स्पष्ट है कि पदपाठों का पर्याप्त प्रभाव उनके निर्वचनों पर पड़ा है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के—"यदिन्द्रचित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः" (ऋग्वेद ५।३९।१) इस मन्त्र के 'मेहना' पद के सन्दर्भ में निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी ने लिखा है—"एकमिति शाकल्यः त्रीणीति गार्ग्यः" अर्थात् पदपाठकार शाकल्य के अनुसार यह एक पद है जब कि दूसरे पदकार गार्ग्य के अनुसार इसमें तीन पद हैं। इसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य यास्क 'मेहना' पद का निर्वचन करते समय शाकल्य का पदपाठ मानकर उसका अर्थ 'मंहनीयम्' करते हैं जबकि वे गार्ग्य के पदपाठ को भी स्वीकार करते हुए इसका अर्थ 'म इह नास्ति' भी कर देते हैं—

"यदिन्द्र (चित्रं) चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्ति वा[1]।"
इस प्रसंग में आचार्य दुर्ग ने भी लिखा है—भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ[2]।

इस सन्दर्भ में कुछ अन्य शब्द भी द्रष्टव्य हैं जिनसे यह परिलक्षित होता है कि यास्क के निर्वचन में पदपाठों का स्पष्ट प्रभाव है—

१—मित्रम्—आचार्य गार्ग्य ने इसका पदपाठ 'मि। त्रम्', यह किया है[3]। निरुक्तकार यास्क इसका निर्वचन करते हुए लिखते हैं—प्रमीतेस्त्रायते[4]।

२—अद्य—पदपाठ है 'अ। द्य', निर्वचन है—अस्मिन् द्यवि[5]।

३—सख्ये—पदपाठ है 'स। ख्ये' निर्वचन है—समानख्याना[6]।

४—अघ—पदपाठ है 'अ। घ' अब इसका निर्वचन द्रष्टव्य है—हन्तेः। निर्ह्रसितोपसर्गः। आहन्तीति वा[7]।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक पदों का निर्वचन एवं अर्थ करने व समझने में पदपाठ कितना उपयोगी एवं प्रभावी होता है। इसी कारण पदपाठों को वेदों का सबसे प्राचीन, सरल व संक्षिप्त भाष्य कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

---

१. निरुक्त ४।४।

२. निरुक्त-टीका (दुर्गाचार्य) ४।४।

३. सामपद संहिता, पृ० १ मन्त्र ५ (सत्यव्रत सामश्रमी सम्पादित)।

४. आचार्य यास्क—निरुक्त १०।२१।

५. सामपदसंहिता पृ० ५ मन्त्र ६, निरुक्त १।६।

६. वही पृ० ९ मन्त्र ४; निरुक्त ७।३।

७. वही पृ० १८ मन्त्र २; निरुक्त ६।११।

ब्राह्मणों के रचयिता ऋषि भी भाष्यकार हैं

वेदार्थ में ब्राह्मणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं में जहाँ याज्ञिक अर्थ की प्रक्रिया पूर्णरूपेण ब्राह्मण-ग्रन्थों पर ही आश्रित है वहीं ऐतिहासिक अर्थ-प्रक्रिया का संकेत भी मुख्यतः इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही पाया जाता है। आचार्य सायण ने अपने वेदभाष्य में जहाँ-कहीं भी ऐतिहासिक अर्थ दिया है वहाँ—'तत्रेतिहासमाचक्षते' लिखकर बहुधा ब्राह्मणों का उद्धरण ही प्रस्तुत किया है[१]। आचार्य महीधर भी ऐतिहासिक अर्थ-सन्दर्भ में 'तथा च श्रुतेः' लिखकर ब्राह्मण ही उद्धृत करते हैं[२]।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद के प्रत्येक मन्त्र का क्रमशः शाब्दिक अर्थ करते हुए व्याख्या या भाष्य तो नहीं प्रस्तुत करते हैं, किन्तु मन्त्र-विनियोग एवं यज्ञ-क्रियाओं के साथ ही आवश्यतानुसार कहीं-कहीं बीच में उनकी व्याख्या भी करते चलते हैं। केवल याज्ञिक एवं ऐतिहासिक ही नहीं प्रत्युत आधिदैविक एवं अध्यात्मपरक अर्थों का संकेत भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में पर्याप्त विद्यमान है। इसी आधार पर स्वामी दयानन्द ने अनेक स्थलों पर अपना भाष्य अध्यात्मपरक किया है। आचार्य उवट एवं महीधर ने भी यत्र-कुत्रचित् प्रदत्त आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थों का आधार अपने भाष्य में इन ब्राह्मणों को ही बनाया है[३]।

अतः हम कह सकते हैं कि ये ब्राह्मण ग्रन्थ एक विशेष प्रकार के वेद-भाष्य ही हैं जिनमें याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा आध्यात्मिक आदि अर्थों का पर्याप्त संकेत है। ब्रह्म अर्थात् वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ होने के कारण ही इनका नाम ब्राह्मण है। तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य में भट्टभास्कर ने लिखा भी है—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः[४]'। सायण ने भी काण्वसंहिता-भाष्य में लिखा है—'तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात्,[५]'। स्वामी दयानन्द तो स्पष्ट ही लिखते हैं—'ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि[६]'। निरुक्त के टीकाकार एवं ऋग्वेद के भाष्यकार आचार्य स्कन्द भी ब्राह्मणों को वेद का अर्थ-विवरण करनेवाला ग्रन्थ मानते हैं---'शतपथब्राह्मणे विवरणात्' तथा 'शतपथे··· अर्थविवरणप्रदर्शनात्'[७]।

---

१. यथा ऋग्वेद सायणभाष्य १।५१।१३, ८।९०।९ आदि।
२. माध्यन्दिन संहिता महीधर भाष्य १०।३३।
३. माध्यन्दिन संहिता, दयानन्दभाष्य ३।६२ एवं उवट महीधर भाष्य १०।१६।
४. भट्टभास्कर, तैत्तिरीय संहिता भाष्य १।५।१।
५. काण्व संहिता सायण भाष्य, पृ० ८।
६. अनुभ्रमोच्छेदन, पृ० ६ (संवत् १९३७)।
७. ऋग्वेदभाष्य १।३०।१० तथा १।३८।३।

निरुक्तकार यास्क का वेदार्थ में योगदान

वेद के कठिन एवं दुरूह शब्दों का जो संग्रह निघण्टु नाम से जाना जाता है, उस पर भाष्य रूप में रचित ग्रन्थ 'निरुक्त' वेद के अर्थ को समझने में अत्यन्त उपादेय है। वास्तव में ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद निरुक्त ही वह ग्रन्थ है जो मन्त्रों के अर्थ या भाष्य करने की परम्परा में आ सकता है। सम्प्रति उपलब्ध निघण्टु एवं निरुक्त दोनों के प्रणेता आचार्य यास्क हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में भी किसी वेद का अविकल अनुवाद या भाष्य नहीं प्रस्तुत किया गया है किन्तु भाष्य-पूर्व की समस्त आवश्यक सामग्री और वेदार्थ की विविध प्रक्रियाएँ इसमें सोदाहरण प्रस्तुत की गई हैं।

निरुक्त वास्तव में निर्वचन शास्त्र है। वैदिक पदों की प्रकृति (जिसका मूल धातु या आख्यात है)[1] एवं उसके अर्थ का निर्देश करना ही इसका मुख्य कार्य है। पदों के निर्वचन के ज्ञान के बिना वेदार्थ असम्भव है। यास्क ने अपना जो निघण्टु संगृहीत किया है उसकी पृष्ठभूमि में ब्राह्मण-ग्रन्थों का बड़ा योगदान रहा है। इन ब्राह्मणों में प्रदत्त अर्थों को अपने निघण्टुकोष में किस प्रकार संगृहीत किया, उसका कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

१—अभीशवो वै रश्मयः — शतपथ ब्राह्मण ५।४।३।१४।
अभीशवः, रश्मिनामसु — निघण्टु १।५।

२—अन्नं वा आपः — शतपथ ब्राह्मण १३।८।१।१६।
अन्नम् उदकनामसु — निघण्टु १।१२।

३—आपो हि वै सत्यम् — शतपथ ब्राह्मण ७।४।१।६।
सत्यम् उदकनामसु — निघण्टु १।१२।

४—रसेनान्नेन — शतपथ ब्राह्मण ७।२।२।१०।
रसः अन्ननामसु — निघण्टु २।७।

५—मनुष्या वै जन्तवः — शतपथ ब्राह्मण ७।३।१।३२।
जन्तवः मनुष्यनामसु — निघण्टु २।३।

पदों का निर्वचन करते समय भी आचार्य यास्क ब्राह्मणों का अनुगमन कर रहे हैं—

१—सोऽरोदीत्, यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्—तैत्तिरीयसंहिता १।५।१।२।
रुद्रो...... रोदयतेः — निरुक्त १०।५।

---

१. नाम च धातुजमाह निरुक्ते—व्याकरण महाभाष्य ३।१।१
तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च—
निरुक्त १।१२।

२—उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते—तै० सं० ५।६।१।३।
उदकं कस्मादुनत्तीति सतः—निरुक्त २।२४।

३—तद् भूमिरभवत् तामप्रथयत्। सा पृथिव्यभवत्—शतपथब्राह्मण ६।१।३।७।
प्रथनात् पृथिवीत्याहुः—निरुक्त १।१४।

निरुक्त में यास्क स्वयं कई स्थलों पर 'इति ब्राह्मणम्, इति ह विज्ञायते' आदि कहकर अपने अर्थ की पुष्टि ब्राह्मण-वाक्यों से करते हैं[1]। इससे ज्ञात होता है कि यास्कीय निरुक्त एवं निघण्टु का मूल ब्राह्मण-ग्रन्थ ही हैं। अर्थ एवं निर्वचन की परम्परा व प्रेरणा यास्क ने (या पूर्ववर्त्ती निरुक्तकारों ने) ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही प्राप्त की।

यद्यपि निरुक्त कोई वेदभाष्य नहीं है किन्तु वैदिक पदों के निर्वचन करने के प्रवाह में उसने ऐसे अनेक मन्त्रों का अर्थ या भाष्य प्रस्तुत कर दिया है जो कि उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए वेद-भाष्य करने की प्रेरणा में सहायक होता हुआ अपने समय में प्रचलित मन्त्रार्थ करने की विविध शैलियों का स्पष्ट संकेत करता है। इस दृष्टि से यास्क व उनके पूर्ववर्त्ती निरुक्तकारों के निरुक्तों को हम विकसित होती हुई वेदभाष्य-प्रवृत्ति की प्रारम्भिक परम्परा में पदपाठ तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनन्तर तृतीय चरण के रूप में समझ सकते हैं।

प्राचीन वेदभाष्यकारों के उपलब्ध भाष्य

लोक में वेदों के परम्परागत अध्ययन-अध्यापन में कमी तथा वैदिक संस्कृत भाषा के क्रमशः ह्रास के कारण वेदमन्त्रों के रहस्यों एवं सामान्य अर्थों का भी समझने में कठिनता का अनुभव करने के कारण कुछ आचार्यों व विद्वानों के मन में वेदमन्त्रों का अविकल अर्थ या भाष्य प्रस्तुत करने की इच्छा स्वाभाविक रूप से जागृत हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा निरुक्त आदि से किन्हीं मन्त्रों व वेद के स्थलविशेष या शब्दविशेष के अर्थ के स्पष्टीकरण में सहायता तो मिल सकती थी किन्तु समग्र वेदमन्त्रों का क्रमबद्ध अनुवाद प्रस्तुत न होने से अल्पज्ञ मनुष्यों की वेद से विमुखता स्वाभाविक थी। इन्हीं सब कारणों से कालान्तर में कुछ विद्वानों ने वेदमन्त्रों का यथाक्रम अविकल भाष्य या अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यद्यपि निश्चय ही भूतकाल में ऐसे अनेक आचार्य हुए होंगे जिन्होंने वेदभाष्य किया होगा किन्तु वेदों की शाखाओं के समान ही अनेक आचार्यों के वेदभाष्य भी काल-कवलित होने के कारण अब उपलब्ध नहीं हैं। इन अनुपलब्ध भाष्यों या भाष्यकारों के सम्बन्ध में हमें सम्प्रति उपलब्ध भाष्यों, विभिन्न वैदिक या संस्कृत साहित्य की

---

१. द्रष्टव्य—निरुक्त ३।२०, १२।८, ६।३१, १०।५ आदि।

पुस्तकों में प्रदत्त सन्दर्भों, उद्धरणों या संकेतों से ही उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में ज्ञात होता है ।

ऋग्वेद के ज्ञात भाष्याकारों में सबसे प्राचीन स्कन्दस्वामी (वि० ७वीं शती) हैं जिनके अधूरे भाष्य को नारायण और उद्गीथ नामक अन्य दो आचार्यों ने पूरा किया है। इनके अतिरिक्त वेंकटमाधव (ई० १० वीं शती) तथा आचार्य सायण (वि० १५ वीं शती) का भाष्य भी सम्पूर्ण ऋक्संहिता पर उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के अन्य प्राचीन भाष्यकारों में आत्मानन्द (वि० १२००), आनन्द तीर्थ (वि० १३००), धानुष्क यज्वा (वि० १३००) तथा भट्ट गोविन्द (वि० १३५०) के भाष्य कुछ अंशों या सूक्तों पर ही उपलब्ध होते हैं ।

सामवेद के भाष्यकारों में सबसे प्राचीन माधव (वि० ७००) हैं तथा दूसरे भाष्यकार हैं भरतस्वामी (वि० १४००)। इन दोनों के भाष्य अभी तक अमुद्रित अवस्था में ही हैं । केवल आचाय सायण (वि० १४५०) का भाष्य सम्पूर्ण सामसंहिता पर उपलब्ध व प्रकाशित है ।

अथर्ववेद पर एकमात्र भाष्य आचार्य सायण का उपलब्ध होता है ।

कृष्णयजुर्वेद की प्रधान शाखा तैत्तिरीय संहिता पर केवल भट्टभास्कर मिश्र (वि० ११००) तथा सायण (वि० १४५०) का ही भाष्य सम्प्रति उपलब्ध होता है, जब कि शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता पर आचार्य सायण के अतिरिक्त हलायुध (वि० १३००) का 'ब्राह्मण-सर्वस्व' नामक भाष्य भी उपलब्ध है ।

माध्यन्दिन संहिता के भाष्यकार

१—शौनक—माध्यन्दिन संहिता के ज्ञात भाष्यकारों में सबसे प्राचीन शौनक को माना जा सकता है। यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य उवट ने इस संहिता के ३१ वें अध्याय, जिसे पुरुषसूक्त भी कहते हैं, का भाष्य स्वयं न करके उसके स्थान पर किसी शौनक नाम के ऋषि का भाष्य अविकल उद्धृत करते हुए लिखा है—'अस्य भाष्यम् शौनको नाम ऋषिरकरोत् ।' उवट के इस लेख से यह प्रतीत होता है कि यह भाष्य पर्याप्त प्राचीन काल का है। सम्भवतः उनके पास किसी शौनक नाम के ऋषि का कोई प्राचीन भाष्य था। यह भी सम्भव है कि शौनक ने केवल इसी महत्त्वपूर्ण सूक्त का भाष्य किया हो क्योंकि यदि सम्पूर्ण संहिता पर भाष्य होता तो सूक्त के अन्त में 'इति शौनकप्रणीतं पुरुषसूक्तभाष्यं समाप्तम्' के के स्थान पर आचार्य उवट'………संहिताभाष्ये पुरुषसूक्तभाष्यं………'ऐसा कुछ लिखते ।

२—हरिस्वामी (?)—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी (वि० ७००) के यजुर्वेद के भाष्यकार होने की एक क्षीण संभावना पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थ में व्यक्त की है[1]। इसका आधार जम्मू के एक पुस्तकालय के सूचीपत्र का कोई उल्लेख है जिसमें हरिस्वामी के पद-पाठ सम्बन्धी किसी मत की चर्चा है किन्तु इस सूचीपत्र की प्रामाणिकता सन्दिग्ध होने तथा उसमें भाष्य का कोई उल्लेख न होकर पदपाठ का उल्लेख होने के साथ ही अन्य किसी ग्रन्थ में हरिस्वामी के वेदभाष्य की चर्चा न होने से उनकी इस संभावना में कोई तथ्य नहीं प्रतीत होता है।

३—उवट (वि० ११००)—माध्यन्दिन संहिता के प्रमुख एवं उपलब्ध प्राचीनतम भाष्यों में आचार्य उवट का भाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाष्य के अन्त में प्रदत्त श्लोकों से ज्ञात होता है कि आनन्दपुर-निवासी वज्रट के पुत्र उवट ने अवन्ती में रहते हुए राजा भोज के शासन-काल में यह भाष्य लिखा। भोज का शासनकाल १०७५ से १११७ वि० तक माना जाता है। अतः सं० ११०० के समीप ही उवट ने यह भाष्य लिखा होगा। इनका भाष्य संक्षिप्त, प्रोज्ज्वल तथा प्रामाणिक है। इस भाष्य के कारण ही आचार्य सायण ने अपना भाष्य शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता पर न लिखकर काण्वसंहिता पर लिखा।

४—गौरधर (वि० सं० १३००)—कश्मीर के एक प्रसिद्ध जगद्धरभट्ट जिन्होंने मालतीमाधव प्रभृति कई नाटकों पर टीकाएँ भी लिखी हैं, ने अपने एक ग्रन्थ में गौरधर का उल्लेख यजुर्वेद के भाष्यकार के रूप में किया है जिसका समर्थन इस ग्रन्थ के टीकाकार रत्नकण्ठ ने भी किया है। इसी के आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें भी इस संहिता का भाष्यकार मानते हैं[2]। गौरधर का कोई भाष्य सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। गौरधर जगद्धर के पितामह थे जिनका समय विद्वानों ने वि० १३५२ के समीप माना है[3]।

५—आचार्य महीधर का काल व जीवन-वृत्त—इस प्रवन्ध के आलोच्य भाष्यकार आचार्य महीधर का काल विक्रम-संवत् १६४५ माना जाता है। यद्यपि माध्यन्दिनसंहिता के अपने भाष्य में उन्होंने कहीं भी अपने समय का उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'मन्त्रमहोदधि' नामक एक अन्य ग्रन्थ, जिसे महीधर-प्रणीत ही माना

---

१. पं० भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० ९६।
२. पं० भगवद्दत्त – वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० १००।
३. पं० काशीनाथ – स्तुतिकुसुमाञ्जलि की भूमिका, (निर्णयसागर)।

जाता है, में उनके इस काल का स्पष्ट उल्लेख है। वेद-भाष्यकार महीधर एवं मन्त्रमहोदधि के कर्ता महीधर एक ही हैं। इस तथ्य को आफ्रेख्ट की बृहतसूची में भी स्वीकृत किया गया है। यदि महीधर के माध्यन्दिन-भाष्य के मंगल-श्लोकों की तुलना मन्त्रमहोदधि के मंगल-श्लोकों से की जाए तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। माध्यन्दिन-भाष्य का मंगल-श्लोक है—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशम्,
भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम् ।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थम्,
परोपकाराय निजेक्षणाय ॥

अब मन्त्रमहोदधि का मंगल-श्लोक द्रष्टव्य है—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं महागणपतिं गुरुम् ।
तन्त्राण्यनेकान्यालोक्य वक्ष्ये मन्त्रमहोदधिम् ॥

इस श्लोक में ठीक उन्हीं देवताओं को नमस्कार किया गया है जिन्हें वेद-भाष्य के आरम्भ में किया गया था। इससे प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही महीधर के हैं। महीधर-प्रणीत इस मन्त्रमहोदधि के अन्त में जो श्लोक दिया है उसमें ग्रन्थ लिखने की तिथि निम्न प्रकार दी है—

अब्दे विक्रमतो जाते बाणवेदनृपैर्मिते ।
ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः ॥

अपने इस श्लोक का अर्थ महीधर ने अपनी टीका में स्वयं इस प्रकार किया है—'पञ्चचत्वारिंशदुत्तरषोडशशततमे विक्रमनृपाद् गते सति'—अर्थात वि० सं० १६४५ की ज्येष्ठाष्टमी को मन्त्रमहोदधि पूर्ण हुआ। सम्भवतः इसके दो-चार वर्ष आगे या पीछे ही माध्यन्दिन-भाष्य लिखा गया होगा।

प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने भी पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों का एक-कर्तृत्व स्वीकार करके आचार्य महीधर का समय ईसा की १६वीं शती (वि० सं० १६४५) ही माना है।

यद्यपि आचार्य महीधर बहुत प्राचीन भाष्यकार नहीं हैं किन्तु दुर्भाग्य से उनकी कोई प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं होती। विभिन्न स्रोतों से हमने उनके जीवन के सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध की है तदनुसार ज्ञात होता है कि आचार्य महीधर पहले अहिच्छत्र में वास करते थे तथा ये वत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वपुरुष भी ई० ११७० में अहिच्छत्र में ही वास करते थे। अहिच्छत्र का वर्तमान

नाम रामनगर है जो बरेली से लगभग ३० किलोमीटर दूर पश्चिम की ओर स्थित है। महीधर के पिता का नाम पूतु भट्ट था। आचार्य महीधर राम के भक्त थे तथा नृसिंह देव के भी उपासक थे। इनके जीवन का अधिकांश भाग काशी में ही बीता था तथा सभी रचनाएँ प्रायः काशी में ही हुई। इनके पुत्र कल्लन भट्ट सम्भवतः बाल्यावस्था में ही उनके साथ काशी आ गये थे। इसके बाद उनके परवर्ती वंशधर काशी में ही स्थायी रूप से निवास करने लगे थे। आचार्य महीधर को वेदभाष्यकार की अपेक्षा तन्त्रशास्त्र के ज्ञाता के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त हुई[1]।

महीधर की अन्य रचनाएँ—आचार्य महीधर की प्रमुख कृति तो माध्यन्दिन-संहिता पर वर्तमान उनका भाष्य ही है जिसका नाम 'वेददीप' है। इसके अतिरिक्त निम्न रचनाएं भी महीधर के नाम से विख्यात हैं—

१—मन्त्रमहोदधि—यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र से सम्बद्ध है। महीधर ने स्वयं इस ग्रन्थ पर 'नौका' नाम की टीका लिखी है।

२—चरणव्यूह की टीका।

३—कात्यायन-श्रौतसूत्र पर टीका।

४—'योगवासिष्ठविभूति' नाम से योगवासिष्ठ का सार-संकलन।

५—पुरुषोत्तम-रचित 'विष्णुभक्तिकल्पलता' पर टीका।

कुछ लोगों का विचार है कि 'बृहज्जातक' तथा 'लीलावती' के ऊपर भी इन्होंने टीका लिखी थी[2]। यदि यह बात सत्य है तो गणित एवं ज्योतिष में भी महीधर का पर्याप्त प्रवेश था ऐसा हमें मानना पड़ेगा।

स्वामी दयानन्द का जीवन-वृत्तान्त

इस प्रबन्ध के दूसरे विचारणीय भाष्यकार स्वामी दयानन्द का समय पर्याप्त अर्वाचीन होने के कारण इनके जन्मकाल, व्यक्तित्व व कृतित्व आदि के सम्बन्ध में हमें आचार्य महीधर की अपेक्षा स्वभावतः अधिक प्रामाणिक, विस्तृत और निर्विवाद जानकारी प्राप्त है। स्वामी दयानन्द का जीवन-चरित, उनके देहान्त के सद्यः बाद, कई लोगों, जिनमें पं० लेखराम तथा देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय प्रमुख हैं, ने लिखा है

---

१. क—गोपीनाथ कविराज—काशी के तान्त्रिक आचार्य, 'कल्याण' मासिक, गोरखपुर, वर्ष ५० अंक ९।
ख—तन्त्रशास्त्रों का पर्यालोचन, पृ० १८५।

२. कल्याण (मासिक) गोरखपुर वर्ष ५० अंक ९ में गोपीनाथ कविराज का लेख।

जो प्रामाणिक व मान्य है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने पूना में ४ अगस्त, १८७५ ई० को लोगों के अनुरोध पर अपने जीवन-वृत्त पर एक व्याख्यान दिया था जो मुद्रित व प्रकाशित है। अप्रैल १८७५ में ही कर्नल अल्काट के आग्रह पर स्वामी दयानन्द ने स्वयं अपना जीवनवृत्त लिख भेजा था जो 'थ्योसोफिस्ट' में प्रकाशित हुआ था। लेखक का निज लेख होने से यह उन सभी जीवनियों से अधिक प्रामाणिक है जो स्वामी दयानन्द के सन्दर्भ में लिखी गई है।

स्वामी जी का जन्म संवत् १८८१ में गुजरात प्रान्त के काठियावाड़ के मौरवी राज्य के मोजकठा कस्बे के टंकारा ग्राम में हुआ था। इनके पिता औदीच्य ब्राह्मण थे किन्तु स्वामी जी ने बाल्यकाल में शुक्लयजुर्वेद ही पढ़ा था जब कि औदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं। इनका प्रारम्भिक नाम मूलशंकर था। बाद में संन्यास की दीक्षा लेने पर इनका नामकरण दयानन्द सरस्वती हुआ। २२ वर्ष की आयु में इन्होंने गृह-त्याग कर दिया तथा महावैयाकरण स्वामी विरजानन्द के सम्पर्क में आकर उनसे विद्याध्ययन किया। स्वामी दयानन्द में विद्वत्ता के साथ ही सामाजिक सुधार की बड़ी प्रबल भावना थी। तत्कालीन भारत राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से बहुत ही दयनीय अवस्था में था। भारत पर अँग्रेजों के प्रभुत्व के कारण नागरिकों में जहाँ पराधीनताजन्य कुण्ठा व्याप्त थी वहीं देश विविध सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों तथा धार्मिक आडम्बरों व अन्ध परम्पराओं से पूर्णतया ग्रस्त था। बाल-विवाह तथा छूआछूत की प्रथा पराकाष्ठा पर थी। कलुषित जाति-प्रथा के कारण निम्न जाति के लोगों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। स्त्री एव शूद्रों के वेद पढ़ने का विरोध होता था। ऐसे समय स्वामी दयानन्द का कार्यक्षेत्र में पदार्पण समाज-सुधार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। बाल-विवाह के विरोध एवं विधवा-विवाह के समर्थन में, जन्मगत जाति-व्यवस्था के विरोध एवं कर्माश्रित वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में, अछूतोद्धार एवं शिक्षा विशेषकर संस्कृत व वेदविद्या के प्रचार-प्रसार में उन्होंने जहाँ सैकड़ों प्रवचन एवं उपदेश किए वहीं मूर्तिपूजा के खण्डन तथा निराकार एकेश्वरवाद के मण्डन में सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर अनेकों शास्त्रार्थ एवं वाद-सभाओं का आयोजन भी किया। अपने प्रत्येक मन्तव्य व विचार के समर्थन में वैदिक तथा आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत करना उनकी महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत विशेषता थी। अपने समाज-सुधार व प्रचार के कार्य को भविष्य में सफल बनाने के लिए उन्होंने 'आर्य-समाज' नामक संस्था की स्थापना भी १८७५ ई० में की थी।

स्वामी दयानन्द के सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी तथा क्रान्तिकारी विचारों के कारण जहाँ हजारों की संख्या में लोग उनके अनुयायी बने वहीं स्वाभाविक था कि कुछ लोग विरोधी भी बन जाते। इसी विरोध के फलस्वरूप

षड्यन्त्रपूर्वक दिये गये विष के कारण उनका प्राणान्त वि० संवत् १९४० में राजस्थान के अजमेर नामक स्थान में हो गया।

यजुर्वेदभाष्य तथा अन्य कृतियाँ——यजुर्वेद की सम्पूर्ण माध्यन्दिन-संहिता पर स्वामी जी का भाष्य है। भाष्य के प्रारम्भ में दिये गये श्लोकों से ध्वनित होता है कि पौष शुक्ल १३ संवत् १९३४ वि० को यह प्रारम्भ किया गया था जो लगभग पाँच वर्षों में पूर्ण हुआ। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद के अतिरिक्त ऋग्वेद पर भी भाष्य किया जो उनके असामयिक निधन से अपूर्ण ही रहा। यह भाष्य केवल सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त तक ही है। इन वेदभाष्यों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द के अन्य ग्रन्थ निम्न हैं :—

(१) **ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका**——इसमें उनकी वेद-सम्बन्धी मान्यताओं एवं विचारों के साथ ही वेदभाष्य के प्रयोजन आदि के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण है। स्वामी जी के वेदविषयक सिद्धान्तों को समझने के लिए यह ग्रन्थ नितराम् उपादेय है।

(२) **सत्यार्थ-प्रकाश**——इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में 'ईश्वर' नाम की व्याख्या, सन्ध्याग्निहोत्र, स्त्रीशिक्षादि विषयों पर विचार के साथ ही अवतार, सृष्ट्युत्पत्ति, भक्ष्याभक्ष्य प्रभृति विषयों का निरूपण करने के बाद उत्तरार्द्ध में वाममार्ग, वैष्णव-शैव चार्वाक-बौद्ध-जैन-नास्तिक-कबीर-दादु-मुस्लिम-ईसाई आदि मतों की विवेचना तथा खण्डन प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के लिए उनका यह ग्रन्थ अत्यन्त विख्यात है।

(३) **संस्कार-विधि**——इसमें षोडश संस्कारों के लिए श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के अनुसार मन्त्रों का चयन एवं कर्मकाण्ड का विधान वर्णित है।

(४) **वेदांग-प्रकाश**——यह ग्रन्थ १४ भागों में है जो कि नाम, आख्यात आदि विषयों पर हिन्दी भाषा में संस्कृत व्याकरण सीखने वालों के लिए लिखा गया है। स्वामी जी ने अष्टाध्यायी का भाष्य भी प्रारम्भ किया था जो अपूर्ण है।

(५) इसके अतिरिक्त विविध सन्दर्भों में स्वामी जी ने अनेक लघुकाय ग्रन्थ जैसे——आर्याभिविनय, आर्योद्देश्य-रत्नमाला, व्यवहारभानु, गोकरुणानिधि आदि लिखे हैं जिनकी संख्या एक दर्जन से भी अधिक है।

हिन्दी अनुवाद और स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन के थोड़े समय में जितना प्रचार, सामाजिक सुधार एवं लेखन-कार्य किया वह वास्तव में अत्यन्त स्पृहणीय है। हिन्दी-भाषी न होते हुए भी हिन्दी भाषा के महत्त्व एवं औचित्य को समझकर उन्होंने अपना समस्त कार्य हिन्दी (अथवा संस्कृत) में ही किया है। उनका मुख्य लक्ष्य साधारण जनों तक वेदार्थ को पहुँचाना था। अतः प्रचार की दृष्टि से उन्होंने संस्कृत

के साथ जनभाषा हिन्दी में भी अपने भाष्य का अनुवाद प्रस्तुत किया है। समयाभाववश सम्भवतः वे वेदभाष्य का हिन्दी अनुवाद अन्य लोगों से भी कराते रहे थे। कुछ इन्हीं सब कारणों से अनुवाद की भाषा कई स्थलों पर संस्कृत के अनुकूल नहीं मालूम पड़ती है। वेद-भाष्य के इस भाषानुवाद के सम्बन्ध में उनके कुछ पत्रों एवं लेखों से भी यही प्रतीत होता है कि हिन्दी भाषानुवाद में उन्होंने कुछ पण्डितों का सहयोग लिया था[1]।

पाश्चात्य विद्वानों का वेद-सम्बन्धी कार्य

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व वेद-भाष्यकारों एवं व्याख्याताओं के प्रसंग में उन पाश्चात्त्य विद्वानों का उल्लेख करना भी अत्यन्त आवश्यक है जिन्होंने संस्कृत, विशेषकर वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार तथा प्रकाशन के साथ ही वेद-व्याख्या के सम्बन्ध में परम्परागत भारतीय मान्यताओं और चिन्तन से भिन्न कुछ अलग अभिनव ढंग से अनुसन्धान करने का महत्त्वपूर्ण एवं श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

चार्ल्स विल्किन्स प्रथम अँग्रेज था जिसने वारेन हेस्टिंग्स की प्रेरणा से वाराणसी आकर पण्डितों से संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। चार्ल्स विल्किन्स ने १७८५ ई० में भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद किया जो किसी भी यूरोपीय भाषा में सीधे संस्कृत से अनूदित होने वाली प्रथम पुस्तक थी। उसने अन्य भी अनुवाद-कार्य तथा संस्कृत के अध्ययन में पथ-प्रदर्शन का कार्य किया। इस क्षेत्र में इससे भी अधिक कार्य किया प्राच्य-विद्या-विशारद सर विलियम जोन्स ने जो पहले न्यायाधीश थे तथा भारत आने के एक वर्ष बाद ही एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना कर संस्कृत-ज्ञान के प्रसारार्थ महत्त्वपूर्ण योजना बनाई। इन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल का अनुवाद भी किया। जोन्स द्वारा प्रवर्तित कार्य को हेनरी थामस कोलब्रुक ने गम्भीरता का पुट दिया तथा भारतीय दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष आदि पर अनेक लेख लिखे। १८०५ ई० में उन्होंने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्र में 'आन दि वेदाज' नामक प्रसिद्ध निबन्ध में भारतीयों के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद के विषय में सर्वप्रथम निश्चित जानकारी पाश्चात्त्य अन्वेषकों को प्रदान की। उन्होंने विभिन्न विषयों की भारतीय पाण्डुलिपियों का संग्रह किया जो आज भी लन्दन के इण्डिया-आफिस-लाइब्रेरी में सुरक्षित है[2]।

वेदों का वास्तविक भाषावैज्ञानिक शोध ई० १८३८ में प्रारम्भ हुआ जिसे लन्दन में फ़्रेडरिक रोजेन ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के प्रकाशन से प्रारम्भ किया

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७४, ४६०, ४७६ आदि।
२. विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, प्रस्तावना भाग।

जो उनके निधन से अपूर्ण ही रहा। इसी बीच पेरिस में प्राच्यविद्या के अध्यापक यूजीन बर्नाफ के अनेक शिष्य तैयार हुए जिनमें रुडाल्फ राथ भी थे। राथ की मुख्य विशेषता यह है कि इन्होंने वेदार्थ को समझने के लिए सायण आदि भाष्यकारों की व्याख्या को अग्राह्य ठहराकर पश्चिमी भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म को ही सहायक मानने पर बल दिया। राथ महोदय ऐतिहासिक पद्धति के उद्भावक थे। इसी पद्धति के आधार पर उन्होंने सेण्ट पीटर्सबर्ग संस्कृत-जर्मन महाकोश का निर्माण भी किया जो उनकी विद्वत्ता, प्रतिभा तथा अध्यवसाय का सूचक है। जहाँ सभी विद्वानों ने सायण-भाष्य का अनुकरण करके वेदों का अनुवाद किया वहीं सर्वप्रथम राथ ही ऐसे थे जिन्होंने मध्यकालिक सायण को प्राचीन वेदों का अर्थ करने में असमर्थ मानकर वेदों का अर्थ वेदों से ही करने का निश्चय करके वेदार्थ करने के लिए ऐतिहासिक शैली को अपनाया।

बर्नाफ के दूसरे शिष्य मैक्समूलर थे जिन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक ऋग्वेद का सायणभाष्य-सहित सम्पादन तथा कई सौ पृष्ठों की भूमिका एवं टिप्पणियों के सहित इसका प्रकाशन किया। इनके अतिरिक्त डाक्टर वेबर का तैत्तिरीय-संहिता का सम्पादन, श्रोदर का मैत्रायणी-संहिता तथा राथ एवं ह्विटनी द्वारा अथर्ववेद का प्रकाशन उल्लेखनीय कार्य था। पिप्पलाद शाखा की अथर्वसहिता की जो एकमात्र प्रति कश्मीर में मिली उसी के आधार पर प्रो० ब्लूमफील्ड तथा नार्वे ने इसका फोटो लेकर तीन बड़ी जिल्दों में जर्मनी में प्रकाशन किया। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों एवं आरण्यकों के सम्पादन व प्रकाशन में अनेक विद्वानों ने परिश्रम एवं विद्वत्ता का परिचय दिया है।

इन विद्वानों का अनुवाद-कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय है। ऋग्वेद का अनुवाद करने वालों में ग्रासमान, ग्रिफिथ, राथ तथा ओल्डेनबर्ग प्रमुख हैं। ग्रिफिथ ने तो चारों वेदों का अनुवाद किया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तीन के अनुवाद पाश्चात्त्यों के अत्यन्त परिश्रम एवं लगन के सूचक हैं। शतपथ का एगलिंग द्वारा किया अनुवाद उनके घोर अध्यवसाय का सूचक है। इसी प्रकार ऋग्वेद के ऐतरेय तथा शांखायन ब्राह्मण का अनुवाद डा० कीथ ने १०० पृष्ठों की उपयोगी भूमिका के साथ प्रस्तुत किया। थियोडोर आफ्रेख्ट की 'पुस्तक-सूचियों की सूची' उनके अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम का फल है। ब्लूमफील्ड का 'वैदिक कान्कार्डेन्स' तथा 'ऋग्वेदिक रिपिटीशन्स' और जैकब का 'उपनिषद्वाक्य-कोष' भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

इस देश की भाषा-परम्परा तथा संस्कृति से अनभिज्ञ इन विद्वानों ने अत्यन्त मनोयोग एवं परिश्रम से यहाँ की भाषा व संस्कृति का अध्ययन कर जो महान् कार्य इस वैदिक साहित्य के क्षेत्र में किया वह वास्तव में अत्यन्त सुखद और आश्चर्यजनक ही कहा जाएगा।

पाश्चात्यों की वैदिक मान्यताओं का संक्षिप्त अनुशीलन

पाश्चात्त्य विद्वानों एवं उनके ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इनका अनुवाद-कार्य मुख्यतः सायणभाष्य पर ही आधृत है किन्तु अनुवाद के मध्य-मध्य टिप्पणियों में व्यक्त किए गए विचार उनकी अपनी विशिष्ट व्याख्या-प्रणाली है। डॉ० राथ और गेल्डेनर प्रभृति कुछ विद्वानों ने सायण के याज्ञिक वेदार्थ से भिन्न ऐतिहासिक क्रम से भी वेदार्थ पर चिन्तन करने का प्रयत्न किया है। इन लोगों ने वैदिक साहित्य के इतिहास, भाषा, स्वर, छन्द एवं देवता पर भी कार्य किया है।

इन पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेद के सम्बन्ध में जो एक सामान्य धारणा प्रस्तुत की है उसके अनुसार यह ज्ञात होता है कि आर्यों ने वेदों के कतिपय सूक्तों की रचना अपने आदि निवास मध्य एशिया में कर ली थी जब कि कुछ सूक्तों की रचना भारत पहुँचने पर सप्तसिन्धु तथा अन्य स्थानों में की थी। इसकी रचना में सैकड़ों वर्षों का समय लगा, इनमें तात्कालिक राजाओं तथा स्थानों एवं घटनाओं का संकेत या वर्णन है जो विश्व के प्रारम्भिक इतिहास को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। वेद मनुष्य के उस समय के अर्धविकसित ज्ञान की रचना है जब वे सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों से पूर्ण परिचित न होने के कारण भय या आश्चर्यवश इन प्राकृतिक तत्त्वों को सम्बोधित कर रक्षा के लिए आवाहन करते थे या अपने मन के उद्गार को कविता रूप में अभिव्यक्त करते थे, इसी कारण वेद में प्राकृतिक पूजा एवं बहुदेवतावाद का वर्णन है। वेदों की भाषा इण्डो-यूरोपियन भाषा के परिवार की है। वेद जिस समय रचे गये उस समय भाषाएँ पूर्ण विकसित नहीं थी। वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं है प्रत्युत यह विशेष समय के समाज के कई मनुष्यों की देन है। ऋषि मन्त्र के द्रष्टा नहीं अपितु रचयिता हैं, आदि-आदि। वेदों के अर्थ और उनके शब्दों पर भाषा-वैज्ञानिक ढंग से विचार करना चाहिए। इसके विना वास्तविक वेदार्थ तक पहुँचना असम्भव है। कुछ विद्वानों ने वेदार्थ के लिये ब्राह्मण, निरुक्त, वेदांग आदि को विशेष उपयोगी इसलिये नहीं माना है कि ये सब किसी विशेष मत से प्रभावित हैं जब कि कुछेक वेदार्थ की भारतीय

प्रणाली को पूर्णतः भ्रान्तिपूर्ण मानकर उसके अर्थ को जानने के लिए ऐतिहासिक क्रम पर विशेष ध्यान देते हैं[1]।

पाश्चात्त्य विद्वानों की उपर्युक्त विभिन्न मान्यताओं तथा विचारों ने निश्चित ही परम्परागत प्राचीन मान्यताओं के ही घेरे में पड़े हुए भारतीय विद्वानों को भी कुछ नये व अद्भुत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वेदों पर विचार करने को बाध्य किया। इसमें सन्देह नहीं कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक गाथा एवं धर्मशास्त्र तथा ऐतिहासिक रूप में भी वेदों पर विचार एवं अध्ययन आवश्यक हैं किन्तु इन नये सिद्धान्तों के अस्तित्व में आने से ही हम उस अतिप्राचीन भारतीय पद्धति से वेदों पर किये गये चिन्तन एवं तत्सम्बद्ध धारणाओं को बिलकुल त्याज्य नहीं मान सकते, वह भी विशेष कर उस परिस्थिति में जब कि ये सभी सद्यः उद्भूत सिद्धान्त व नियम अन्तिम परिणति तक पहुँचने में असमर्थ तथा सदोष हैं, जिनके सम्बन्ध में स्वयं पाश्चात्त्य विद्वान् भी शंकालु हैं[2]।

पाश्चात्त्य विद्वानों की विविध धारणाओं, जैसे मानव के द्वारा सूर्य आदि को देखकर साश्चर्य भयभीत हो उनकी स्तुति आदि की कल्पना तथा आर्यों की ग्रीक में ज्यूस पीटर, लैटिन में जुपिटर आदि के समान कल्पना एवं पूजा, व तत्कालीन मनुष्यों में जादू-टोना की प्रवृत्ति को, तथा अन्य इण्डो-यूरोपीय परिवारों से तुलना करते हुए तुलनात्मक गाथा एवं धर्म के आधार पर वेदों को जो अर्धसभ्य अविकसित मस्तिष्क के प्रारम्भिक मनुष्यों के मानसिक स्तर का समझा गया उसका निराकरण एवं आलोचना अरविन्द-सदृश मनीषियों ने अत्यन्त योग्यतापूर्वक किया है।[3]

इसी प्रकार वेद-मन्त्रों को इतिहास की घटनाओं—मध्य एशिया में रहने वाले आर्य-परिवारों के भारत-प्रवेश, एवं अनार्यों, द्रविड़ों या दस्युओं से उनकेयुद्ध आदि—से सम्बद्ध कर तथा वैदिक ऋचाओं में इस काल्पनिकता को ऐतिहासिक रूप देकर मन्त्रार्थ पर विचार करना भी एक विवादास्पद पहलू रहा है। इसका खण्डन स्वामी दयानन्द एवं अन्य विद्वानों ने भी बड़े प्रामाणिक रूप से करने का प्रयत्न किया है।[4]

---

१ ग्रिफिथ—हिम्स आफ दि ऋग्वेद, पृ० २, १२।
२. इमाइल बर्नाफ—दि साइंस आफ रिलीजन।
३. अरविन्द—वेद-रहस्य, पृ० ३५-३६।
४. स्वामी दयानन्द—सत्यार्थ-प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० २२३; आचार्य वैद्यनाथ—वैदिक युग और आदिमानव, पृ० १०१-११२।

पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा परम्परागत भारतीय प्रणाली से हट कर किया गया चिन्तन अत्यन्त श्रमसाध्य एवं विद्वत्तापूर्ण होते हुए भी स्वामी दयानन्द और अरविन्द सदृश अनेक भारतीय विद्वानों को इस कारण स्वीकार्य नहीं कि वेद के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट न करके उन्हें केवल यज्ञ, बलिदान विषयक कर्मकाण्ड तथा आदिम मानव संस्कृति के जंगलीपन से भरे हुए गीत के रूप में करते हैं जब कि इनके अनुसार वेद, उपनिषत् पूर्व के गंभीरतम चिन्तन हैं जो संक्षिप्त शब्दों में रहस्यात्मक ढंग से अगाध ज्ञान-विज्ञान संजोये हुए हैं। इसलिए हम विशुद्ध रूप से भारतीय दृष्टि एवं शास्त्रीय पद्धति से अध्ययन करके ही उसकी ज्ञान गुरुता एवं अगाधता को समझने में समर्थ हो सकते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों के चिन्तन के सन्दर्भ में व्यक्त किया गया यह विचार कुछ सीमा तक ठीक ही प्रतीत होता है।

कुछ आधुनिक भारतीय वेद व्याख्याता

स्वामी दयानन्द के बाद अर्वाचीन भारतीय वेद व्याख्याताओं में योगिराज श्री अरविन्द का अन्यतम स्थान है जिन्होंने वेद मन्त्रों पर कुछ नये ही रूप में चिन्तन प्रस्तुत किया है जिसमें न तो परम्परागत रूप से किया गया आचार्य सायण के समान केवल याज्ञिक अर्थ ही अभिप्रेत है और न ही पाश्चात्त्यों द्वारा ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और गाथाशास्त्र पर आधृत उनका आलोचनात्मक अर्थ। इन्होंने इन दोनों को अपूर्ण मानते हुए वेद के गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों व प्रतीकों को समझने के लिए योग साधना एवं तपस्या की आवश्यकता पर भी बल दिया है क्योंकि—'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा'[1]। श्री अरविन्द ने ऋचाओं मे अत्यन्त गुह्य एवं रहस्यमय ज्ञान की सत्ता स्वीकार कर वेद की इन रहस्यमय प्रतीकवादों को समझने पर बल दिया है जिसमें वैदिक 'अश्व' या 'गौ' शब्द केवल गाय और घोड़ा (पशु) न होकर क्रमशः आध्यात्मिक सामर्थ्य और प्रकाश का प्रतीक बन जाता है। इसी कारण जब ऋषि 'अश्वरूप वाले और गौएँ जिसके आगे हैं ऐसा दान'[2] माँगता है तो कुछ सौ पचास घोड़ों और उनके आगे चलने वाली गायों को दान रूप में नहीं माँगता है प्रत्युत वह माँगता है—आध्यात्मिक शक्ति के महापुँज को जो प्रकाश द्वारा परिचालित हो।

अरविन्द के समान ही भारतीय धर्म, दर्शन एवं कला के प्रख्यात पारखी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्राच्य एवं पाश्चात्त्य उभयविध वैदिक विद्वानों की वेद

---

१. यास्क—निरुक्त, अध्याय १२ खण्ड १२।
२. 'गो अग्रम् अश्वपेशसम् रातिम्—ऋग्वेद २।२।११३।

३

व्याख्याओं का अध्ययन कर वेदार्थ की एक नई शैली अपने वेद विषयक विभिन्न लेखों व पुस्तकों में अभिव्यक्त किया है जिसमें वे वेद विद्या व सृष्टि-विद्या को समान मानकर मन्त्रार्थों में आधिदैविक जगत और आध्यात्मिक प्राण विद्या की व्याख्या की सत्ता मानी है। डॉ० अग्रवाल बहुत कुछ श्री अरविन्द और एक अन्य प्रसिद्ध अर्वाचीन वेद व्याख्याता पं० श्री मधुसूदन ओझा से प्रभावित जान पड़ते हैं।

इस सन्दर्भ में श्री पं० भगवदाचार्य का नाम भी स्मरणीय है जिन्होंने यजुर्वेद और सामवेद पर अपना भाष्य प्रस्तुत किया है और स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य से प्रभावित होते हुए भी उनकी वेद विषयक अनेक मान्यताओं और परम्परागत विचारों से असहमत हैं।

द्वितीय अध्याय

वेदों का काल, संज्ञा, ऋषि एवं देवता के सम्बन्ध में दोनों भाष्यकारों के विचारों का अनुशीलन

वेदों का काल

वेदों के गौरव एवं महत्त्व के सम्बन्ध में ऐकमत्य होने पर भी उसके आविर्भाव के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यन्त गम्भीर मतभेद है। भारतीय दृष्टिकोण में श्रद्धा रखने वाले विद्वानों के सामने तो वेदों के काल-निर्णय का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि उनके अनुसार वेद अनादि व नित्य हैं तथा वैदिक ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं रचयिता नहीं। किन्तु ऐतिहासिक पद्धति से वेदों पर काम करने वाले पाश्चात्त्य विद्वानों एवं उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों के अनुसार वेदों के आविर्भाव का प्रश्न एक अन्वेष्य वस्तु है जिसके सुलझाने में इन लोगों ने यद्यपि पर्याप्त साधनों व प्रमाणों को एकत्र करने का प्रयत्न किया है परन्तु वेदकाल के सिद्धान्त में इन लोगों में शताब्दियों का ही नहीं अपितु सहस्राब्दियों का अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर ने अपने 'हिस्ट्री आफ एन्शेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में वेदों के काल निर्णय का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। उनकी सम्मति में ऋग्वेद की रचना १२०० वि० पूर्व सम्पन्न हुई जब कि अन्य अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने इससे अपनी असहमति दिखाते हुए इसे इससे भी अधिक प्राचीन माना है। जैसे प्रो० हाग, ह्विटनी तथा ब्लूमफील्ड ने इसे २००० ई० पूर्व माना जब कि विन्टरनित्स ने २५०० ई० पूर्व तथा जेकोबी ने तो ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर ४००० ई० पूर्व तक माना है।[१]

भारतीय विद्वानों में भी राधाकुमुद मुखर्जी ने २५०० ई० पूर्व, पं० बालकृष्ण दीक्षित ने ३५०० ई० पूर्व तथा लोकमान्य तिलक ने ८००० वि० पूर्व तक ऋग्वेद का काल माना है[२]। पं० दीनानाथ शास्त्री चुलेट ने तो 'वेद काल निर्णय' नामक अपने ग्रन्थ में इसे आज से लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

---

१. हाग—ऐतरेय ब्राह्मण इन्ट्रोडक्शन, पृ० ४७; ह्विटनी-स्टडी आफ लैंग्वेज, पृ० २२६; ब्लूमफील्ड-दि रिलीजन आफ वेद, पृ० २०; विन्टरनित्स-कलकत्ता यूनिवर्सिटी रीडरशिप लेक्चर्स, पृ० १; जेकोबी-संस्कृत लिटरेचर, पृ० १२।

२. राधाकुमुद—हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० ७१; दीक्षित-भारतीय ज्योतिष-शास्त्र, पृ० १३६-४०; तिलक-ओरियन, पृ० २७।

महीधर एवं दयानन्द के विचार— वेद के काल या वेदोत्पत्ति के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द एवं आचार्य महीधर के विचार प्रायः समान ही हैं। महीधर ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—'तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदम्—' यहाँ 'आदौ' का तात्पर्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही है तथा 'ब्रह्मपरम्परया' शब्द भी यही ध्वनित करता है कि वे वेदों के रचयिता या वेद ज्ञान के प्रदाता के रूप में उस स्वयम्भू सृष्टि निर्माता परमेश्वर को ही स्वीकार कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने भी अपने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' नामक ग्रन्थ[1] में यजुर्वेद के 'तस्माद् यज्ञात्०' (३१७) इस मन्त्र में विद्यमान 'यज्ञ' शब्द तथा अथर्ववेद (१०।७।२०) के 'यस्मादृचो०' आदि में विद्यमान 'स्कम्भ' शब्द का अर्थ परमेश्वर करते हुए यह सिद्ध किया है कि ये वेद उसी परमेश्वर से निर्मित हैं। इन मन्त्रों के अतिरिक्त ब्राह्मणादि के प्रमाणों के आधार पर वेदों को सृष्टि के आदि में ऋषियों की अन्तश्चेतना में प्रकाशित करने के कारण स्वामी दयानन्द के अनुसार वेद का वही काल है जो उनके द्वारा मान्य सृष्टि संवत् है अर्थात् एक अरब सत्तानवे करोड़ वर्ष से भी अधिक पूर्व। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों की सम्मति वेद के प्रादुर्भाव काल और रचयिता के सम्बन्ध में समान है।

'ब्रह्मा' एक ऐतिहासिक पुरुष— स्वामी दयानन्द और महीधर के पूर्वोक्त मत में भी किञ्चित् भेद हो सकता है। स्वामी दयानन्द ने पुराणों में वर्णित चार मुख वाले ब्रह्मा से वेदोत्पत्ति को अस्वीकार किया है[2]। उन्होंने परमेश्वर को निराकार सर्वशक्तिमान् मानकर उसकी प्रेरणा से अग्नि वायु आदि ऋषियों के अन्तःकरण में वेद ज्ञान प्रकाशित हुआ यह माना है[3]। इन अग्न्यादि ऋषियों से ब्रह्मा ने चारों वेद पढ़कर सर्वप्रथम चतुर्वेदज्ञ होने का श्रेय प्राप्त किया। कालान्तर में ज्ञान के धारक ये मस्तिष्क या शिरोभाग ही चित्रकला व मूर्तिकला में कलाकारों द्वारा ब्रह्मा में आरोपित किये गये हैं। इस प्रकार वह ब्रह्मा भी एक ऋषि है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किया है जिससे यह ध्वनित होता है कि वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर सर्वारम्भ में ब्रह्मादि ऋषियों को उत्पन्न करता है तथा उन्हें वेद ज्ञान प्रदान करता है—'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'[4]। अतः महीधर का 'ब्रह्मपरम्परया' इस वाक्य का अभिप्राय यदि तथोक्त पौराणिक

---

१. स्वामी दयानन्द-ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वेदोत्पत्ति विषय, पृ० १०।
२. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोत्पत्ति विषय, पृ० २७।
३. मनुस्मृति १।२३, २।१५१।
४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८।

ब्रह्मा से है तो स्वामी दयानन्द उससे पूर्ण असहमत हैं किन्तु यदि उनका अभिप्राय सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वशक्तिमान् अनन्त सृष्टि के निर्माता व वर्धयिता[1] ब्रह्मा से है जो अग्न्यादि ऋषियों के माध्यम से वेद ज्ञान संसार में प्रकट करता है तो कोई मतभेद नहीं।

वेदकाल की अनिर्णयता—इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों एवं आधुनिक अनुसन्धित्सुओं ने जहाँ वेद के काल के सन्दर्भ में कुछ विचार कर अपनी मान्यतानुसार कुछ निर्णय दिया है वहीं हमारे ये दोनों भाष्यकार इस सम्बन्ध में परम्परा के ही अनुयायी हैं। इस विषय में उनके लिए—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा—तथा
आदौ वेदमयी वाणी यतः सर्वाः प्रवृत्तयः—एवम्
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे। (मनु० १।२१)

प्रभृति वाक्य ही प्रमाण हैं

मेरे विचार से यदि वेदों को अपौरुषेय ही माना जाये तो काल निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि आप्तपुरुषों या ऋषियों द्वारा रचित ही माना जाये तो भी यही कहना पड़ेगा कि इस विशाल साहित्य राशि का निर्माण किसी एक दिन न होकर निश्चय ही अनेक शताब्दियों में हुआ जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से संक्रान्त होता रहा तथा प्रागैतिहासिक काल में किसी परवर्ती पीढ़ी के द्वारा अपनी पुरातनता तथा विषयवस्तु की उदात्तता के कारण 'पवित्रज्ञान' या 'ईश्वरीय ज्ञान' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यह कोई ऐसा धर्मशास्त्र नहीं है जो किसी काल-विशेष में किसी विद्वत्परिषद् के द्वारा स्वीकृत किया गया हो। ऐसा लगता है कि इस साहित्य की पवित्रता में विश्वास स्वयमेव हो गया और इस विश्वास का विरोध भी न के बराबर हुआ। अतः इसके पर्याप्त पुरातन और अनाधुनिक होने के कारण इसके काल का निर्णय करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार सृष्टि कब हुई यह बता पाना दुष्कर है। कुछ इसी प्रकार का विचार श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी सदृश भारतीय विद्वान् एवं डॉ० विण्टरनित्स के समान पाश्चात्य विद्वानों ने भी व्यक्त करके वेदकाल की अनिर्णयता एवं विवादास्पदता को प्रायः स्वीकार कर लिया है[2]।

---

१. 'एतस्यैवान्तो नास्ति यद् ब्रह्म'—तै० सं० ७।३।१।४,
'ब्रह्म वै ब्रह्मा'—मैत्रायणी संहिता ३।३।५।

२. सत्यव्रत सामश्रमी—वेदत्रयी परिचय, पृ० ५८,
विण्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० ५२-५६।

वेद के अपौरुषेयत्व वा प्रामाण्य के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द की एक अद्भुत कल्पना : शाखाएँ वेद नहीं

स्वामी दयानन्द वेदों का अपौरुषेयत्व व स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हुए भी उनकी शाखाओं को ईश्वर प्रणीत व स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे ऋग्वेद की वर्तमान शाकल संहिता, यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता, अथर्ववेद की शौनक तथा सामवेद के कौथुम शाखा की संहिता को ही मूल वेद या अपौरुषेय मानते हैं तथा शेष ११२७ शाखाओं (महाभाष्य में कुल ११३१ शाखाओं का उल्लेख है) को वे वेद के व्याख्या ग्रन्थ या अर्थ की स्पष्टता एवं सरलीकरण की प्रक्रिया में कल्पित पाठभेदादि के कारण सम्प्रदाय-रूप में संकलित होने से परतः प्रमाण की कोटि में आती है—ऐसा मानते हैं। फलतः ये शाखाएँ वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ हैं मूल वेद नहीं[१]।

भारतीय परम्परा में यह तो प्रसिद्ध है कि वेदों की आनुपूर्वी नित्य है[२]। इसीलिए मन्त्रों का जैसा प्रतिपदपाठ है उसके अनुसार ही उच्चारण व पारायण करना चाहिए, विपरीत करने से वह अपूर्व फल नहीं मिलता ऐसी वैदिकों की आस्था है। अब स्वामी दयानन्द का यह कथन कि—इन शाखाओं के मन्त्र संहिताओं की आनुपूर्वी नित्य है तथा ये ही सृष्टि के आदि में परमेश्वर द्वारा ऋषियों के माध्यम से प्रकाशित किए गए थे, अतः यजुर्वेद की इस माध्यन्दिन शाखा की संहिता (जिसका भाष्य स्वामी जी ने किया) नित्य व अपौरुषेय है तथा अन्य समस्त यजुर्वेदीय शाखाएँ अनित्य व वेदव्याख्यानरूप होने से स्वतः प्रामाण्य की कोटि में नहीं आती तथा ऋषिकृत होने से अपौरुषेय नहीं है—विचारणीय हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि कभी ईश्वर ने, जैसी कि वर्त्तमान भारतीय मान्यता है और स्वामी दयानन्द भी मानते हैं, इस वेदज्ञान का प्रकाश ऋषियों के माध्यम से किया भी होगा तो वह सैकड़ों विभिन्न शाखाओं के रूप में न होकर किसी एक निश्चित शाखा की ही वर्णानुपूर्वी में रहा होगा। किन्तु स्वामी दयानन्द का यह कथन कि वेद की अमुक-अमुक शाखाएँ, जैसे कि यजुर्वेद की वर्त्तमान माध्यन्दिन शाखा ही अपौरुषेय तथा आदिम है तथा अन्य यजुर्वेदीय शाखाएँ ऋषिकृत व्याख्यान होने से पौरुषेय हैं अतः स्वतः प्रामाण्य की कोटि में नहीं आती, विवाद का विषय

१. क—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, ग्रन्थप्रामाण्यविषय, पृ० ३१३;
ख—सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास का अन्तिम अंश।

२. 'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'—निरुक्त १।१६;
'वाक्यनियमात्'—पूर्वमीमांसा १।२।३२।

होने से अनिश्चित सिद्धान्त बन जाता है। इसमें कोई प्रमाण नहीं कि यह माध्यन्दिन शाखा ही ईश्वरीय ज्ञान के रूप में सृष्टि के आदि में मिली थी। इस शाखा का नाम 'वाजसनेयी माध्यन्दिन' यह ध्वनित करता है कि इसके प्रवचनकर्ता वाजसनि के पुत्र वाजसनेय ऋषि हैं तथा इस शाखा के प्रवचन परम्परा में माध्यन्दिन नामक उनके शिष्य ऋषि भी सहयोगी हैं। वास्तविकता तो यह है कि सम्प्रति उपलब्ध वेद की समस्त संहिताएँ किसी न किसी ऋषि-विशेष द्वारा प्रवचन करने के कारण उनके नाम से सम्बद्ध होकर तन्नामयुक्त शाखा के रूप में विख्यात हैं। वेदों की सैकडों शाखाएँ लुप्त भी हो चुकी हैं। अतः यह भी सम्भव है कि तथोक्त अपौरुषेय वा आदिम यजुर्वेद संहिता उनमें ही हो, क्योंकि प्राचीन होने से उसके आधार पर ही नए-नए पाठभेद आदि से अन्य शाखाएँ वा संहिताएँ बनती गई हों तथा पूर्वकालीन लुप्त होती चली गई हों तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर किस आधार पर माध्यन्दिन शाखा को ही मूल यजुर्वेद माना जाए।

इसके विपरीत शुक्ल यजुर्वेद के विषय में प्रचलित वह कथानक जिसे आचार्य महीधर ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में उद्धृत भी किया है, जिसमें कृष्ण यजुर्वेद के प्रमुख प्रवक्ता वैशम्पायन से अध्ययन करनेवाले याज्ञवल्क्य का गुरु के क्रुद्ध होने पर उनके द्वारा प्रदत्त विद्या का त्यागकर पुनः आदित्य की कृपा से शुक्ल या शुद्ध (ब्राह्मणों से अमिश्रित केवल मन्त्रात्मक रूप) यजुष् की प्राप्ति का उल्लेख है, से तो यही प्रतीत होता है कि यजुर्वेद की प्रारम्भिक शाखा तैत्तिरीय ही थी तथा माध्यन्दिन शाखा का प्रवचन या केवल मन्त्रात्मक रूप में संकलन बाद में किया गया। यद्यपि इस पारम्परिक कथानक को बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता किन्तु इसके आधार पर एक विचार तो बनता ही है।

इस सन्दर्भ में तीन प्रमाण—अब हम स्वामी दयानन्द की पूर्वोक्त मान्यता की पुष्टि में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत[1] उन तीन प्रमाणों को क्रमशः उद्धृत कर उनकी समीक्षा करेंगे जिसके आधार पर यह कल्पना की गई है कि आदिम या मूल वेद पृथक् है तथा शाखाएँ उनका व्याख्यान हैं अतः पौरुषेय व परतः प्रामाण्यवाली हैं—

(१) महर्षि पतंजलि ने वेद की आनुपूर्वी नित्य मानते हुए लिखा है—'स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता'[2]—किन्तु 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्र पर जहाँ शाखाओं का सम्बन्ध या प्रकरण है वे लिखते हैं—'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम् कालापकम्,

---

१. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु—यजुर्वेदभाष्य विवरण भूमिका, पृ० ३६।

२. पतंजलि—महाभाष्य, ५।२।५९।

मोदकम्, पैप्पलादकम्[१]। इससे स्पष्ट है कि काठक कालापक आदि शाखा ग्रन्थ प्रोक्त अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किए हुए होने से पौरुषेय या ऋषिकृत हैं। महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, जबकि वेद की आनुपूर्वी को वे नित्य मानते हैं। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि मुख्य वेद कोई अन्य है जिसकी शाखाएँ पौरुषेय हैं तथा उनकी आनुपूर्वी भी नित्य नहीं।

(२) शतपथ ब्राह्मण[२] में 'होता यो विश्ववेदसः' इस पाठ को, जो किसी अज्ञातशाखा का है मनुष्यकृत (पौरुषेय) मानकर उसे पढ़ने से यज्ञ में हीनता बताई गई है तथा उसकी जगह 'होतारं विश्ववेदसम्' जो वर्त्तमान ऋग्वेद की शाकलशाखा का है[३], के उच्चारण को प्रशस्य माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि मूल ऋग्वेद एकमेव है जो अपौरुषेय है तथा शेष शाखाएँ मनुष्यकृत हैं।

(३) शतपथ के प्राचीनतम भाष्यकार हरिस्वामी, जो स्कन्दस्वामी के शिष्य हैं, ने शतपथ ब्राह्मण भाष्य के उपोद्घात में लिखा है—'वेदस्याऽपौरुषेयत्वेन स्वतः-प्रमाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्'—इससे प्रतीत होता है कि हरिस्वामी के मत में भी कोई अपौरुषेय वेद पृथक् तथा शाखाएँ उससे भिन्न हैं जो वेदानुकूल होने से प्रामाण्यरूप में स्वीकृत हैं।

इन प्रमाणों की समीक्षा—अब हम पूर्वोक्त तीनों प्रमाणों की समीक्षा करेंगे। जहाँ तक प्रथम प्रमाण का प्रश्न है भाष्यकार पतंजलि के 'वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' इस कथन से यह निष्कर्ष निकालना कि वे किसी संहिता विशेष को नित्य या अपौरुषेय मानते हैं तथा 'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या तद्भेदात् चैतद् भवति काठकम्' इस कथन से यह निश्चय करना कि वे शाखाओं को अनित्य या अपौरुषेय मानते हैं, ठीक नहीं है। वास्तव में महाभाष्यकार का प्रारंभिक कथन 'अस्यवाम' शब्द के सन्दर्भ में है। 'अस्यवाम' ही क्या, किसी भी शाखा का प्रत्येक मन्त्र अपनी-अपनी शाखा में नियतानुपूर्वी ही माना जाएगा। अतः भाष्यकार का यह कथन प्रत्येक के अपनी-अपनी शाखा आम्नाय के लिए भी हो सकता है, किसी एक संहिता विशेष या मूल वेद के लिए नहीं।

---

१. पतंजलि– महाभाष्य ४।३।१०१।

२. तदु हैकेऽन्वाहुः। 'होता यो विश्ववेदस' इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद् होतारं विश्ववेदसमिति। (माध्यन्दिन शतपथ १।४।१।३५)।

३. ऋग्वेदसंहिता १।२१।१।

इसी प्रकार 'यात्वसौ—तद्भेदात्—काठकम्' से यह भी ध्वनित हो सकता है कि वेदों की वर्णानुपूर्वी अत्यन्त ही नियत होने पर भी ऋषियों द्वारा प्रवचन आदि में (मत) भेद होने से क्वाचित्क रूप में अनित्य भी है, जिसे काठकादि शाखाओं का निर्माण व नामकरण द्योतित करता है। इस स्थल पर महाभाष्य के प्रख्यात टीकाकार कैयट ने लिखा भी है—

"महाप्रलयादिषु वर्णानुपूर्वीविनाशे पुनरुत्पद्य ऋषयः संस्कारातिशयाद् वेदार्थं स्मृत्वा शब्दरचनां विदधतीत्यर्थः। ततश्च कठादयो वेदानुपूर्व्याः कर्त्तार एव न तु स्थितायाः सुशर्मादिस्वात्प्रवक्तारः। ततश्च 'कृते ग्रन्थे' इत्येव सिद्धः प्रत्यय इति भावः।"

यहाँ उद्योतकार नागोजिभट्ट ने भी लिखा है—'अत्रानुपूर्वी 'अनित्या' इत्युक्तेः पदानि तान्येव इति ध्वनितम्'।

यही नहीं, स्वयं भाष्यकार ने भाष्य के प्रारम्भ में ही जब वैदिक शब्दों के उदाहरण के रूप में प्रत्येक वेद का प्रारम्भिक मन्त्र प्रस्तुत किया है उसमें अथर्ववेद के प्रारम्भिक मन्त्र के रूप में वे 'शन्नो देवीरभिष्टये०' मन्त्र प्रस्तुत करते हैं जो कि सम्प्रति अथर्ववेद की अति प्रसिद्ध शौनक शाखा के प्रारम्भ में नहीं है। यह मन्त्र पैप्पलादशाखा की संहिता का प्रारम्भिक मन्त्र है जब कि स्वामी दयानन्द शौनक शाखा की संहिता को ही आदिम या अपौरुषेय अथर्ववेद के रूप में स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस महाभाष्यकार के वचन को स्वामी दयानन्द की मान्यता की स्थापना में प्रस्तुत किया जा रहा है, वही भाष्यकार अथर्ववेद की शौनक शाखा के स्थान पर पैप्पलाद शाखा का मुख्यत्व स्वीकार करते हैं। इसस यही ध्वनित होता है कि सभी आचार्य जब अपनी-अपनी शाखा की ही प्रमुखता स्वीकार करें तो वे सभी शाखाएँ प्रामाण्य के रूप मे मान्य हैं। उनमें पौरुषेयत्व अपौरुषेयत्व, नित्यत्व अनित्यत्व या प्रामाण्य अप्रामाण्य आदि का विचार करना उचित नहीं।

दूसरे प्रमाण के रूप में प्रदत्त शतपथ के 'होता यो विश्ववेदसः' वाले पाठ पर भी इसी उपर्युक्त दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। प्रत्येक ब्राह्मण अपनी मान्य शाखा के मन्त्र पाठ को ही उत्तम स्वीकार करता हुआ अनभिमत शाखा के पाठ को निम्न मानता है। यह तो साधारण एवं स्वाभाविक साम्प्रदायिक भावना है। माध्यन्दिन के इस वाक्य को भी इसी रूप में देखना चाहिए।

जहाँ तक तीसरी बात के रूप में हरिस्वामी का कथन है, उनके वाक्य का यह अंश—'तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम्' तो स्वयं स्वामी दयानन्द की

मान्यता के विरुद्ध है क्योंकि 'प्रामाण्यम्' का अर्थ 'स्वतः प्रामाण्यम्' है 'परतः प्रामाण्यम्' नहीं। इसके साथ ही 'तद्धेतुत्वात्' का तात्पर्य भी यदि हम 'अपौरुषेयत्व' रूपी हेतु से गृहीत करें तो फिर यह तो दयानन्दीय मान्यता के बिलकुल ही विपरीत हो जाएगा क्योंकि शाखाएँ भी अपौरुषेय हो जाएँगी।

स्वामी दयानन्द की मान्यता की पुष्टि में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत पूर्वोक्त प्रमाणों के खण्डन करने का अर्थ यह कदापि नहीं कि उनकी तथोक्त धारणा बिलकुल ही व्यर्थ एवं निरुपयोगी है। यहाँ मेरा तात्पर्य मात्र इतना है कि आज जब कि वेद की सैकड़ों शाखाएँ लुप्त हो गई हैं, इन उपलब्ध गिनी चुनी शाखाओं के आधार पर ही अपौरुषेय या मूल वेद के बारे में निष्कर्ष निकाल लेना असम्भव है। वेद की समस्त संहिताएँ शाखा हैं। उनमें पौर्वापर्य की कल्पना तो कथमपि की जा सकती है किन्तु इन शाखाओं में से किसी शाखा को आदिम, मूल या ईश्वरीय वेद कहकर अन्य को अपौरुषेय और अप्रामाणिक कहना कठिन है।

स्वामी दयानन्द की इस कल्पना के सन्दर्भ में प्रसिद्ध विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी का भी यही विचार है कि कोई ऐसा मूल वेद नहीं जिसके साथ 'शाखा' शब्द का व्यवहार न होता हो। अतः किसी एक शाखा को मूल मानकर अन्यों को उनका व्याख्यान ग्रन्थ घोषित करना उचित नहीं[1]।

वैसे स्वामी दयानन्द की इस विवादास्पद कल्पना की उपयोगिता इस रूप में तो है ही कि इसने विद्वानों को यह सोचने को बाध्य कर दिया कि उपलब्ध संहिताओं में किस शाखा की संहिता प्राचीनतम हो सकती है। अतएव विद्वानों को इस पर विचार करने को बाध्य कर देने का श्रेय तो उन्हें मिलना ही चाहिए।

इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का प्रयत्न भी अत्यन्त स्तुत्य है जिन्होंने अपने विभिन्न अनुसन्धानपूर्ण लेखों में माध्यन्दिन और तैत्तिरीय संहिता के अनेक मन्त्र-पाठों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयास किया है कि माध्यन्दिन संहिता का मन्त्र पाठ यजुर्वेद की अन्य संहिताओं की अपेक्षा प्राचीन है।

क्या ब्राह्मण वेद हैं ?

वेद शब्द किन-किन ग्रन्थों का वाचक है इस विषय में बहुत काल से विद्वानों में मतभेद उपलब्ध होता है। कुछ लोग केवल मन्त्र संहिताओं को ही वेद पद वाच्य

---

१. पं० सत्यव्रत सामश्रमी—ऐतरेयालोचन, पृ० १२७।

मानते हैं। जैसे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की व्याख्या में हरदत्त और धूर्त्तस्वामी दोनों ने लिखा है—"कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्"।

दूसरे विद्वान् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद नाम से अभिहित करते हैं जैसे—कृष्ण यजुर्वेद के समस्त श्रौतसूत्रकारों का 'मन्त्रब्राह्मणोर्वेदनामधेयम्' यह वचन है।

कुछ अन्य विद्वान् तो आरण्यक एवं उपनिषदों का भी वेद में समावेश करते हैं। जैसे—आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका की उपक्रमणिका मे उपनिषद् पर्यन्त ग्रन्थों की वेद संज्ञा स्वीकार की है। वैसे आरण्यक एवं उपनिषदों को ब्राह्मणों में ही अन्तर्भूत मानने से मुख्यतः प्रथम दो मत ही विचारणीय हो जाते हैं।

आचार्य महीधर का मत—ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व के सम्बन्ध में आचार्य महीधर का ऐसा कोई स्पष्ट वाक्य उनके भाष्य में उपलब्ध नहीं होता जिससे यह ज्ञात हो सके कि वे ब्राह्मणों की वेद संज्ञा स्वीकार करते हैं या नहीं। किन्तु उनके भाष्य में 'इति श्रुतिः' या 'इति श्रुतेः' ऐसे प्रतीकों द्वारा बहुत स्थलों पर शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है[१]। 'श्रुति' शब्द वेद के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त होता है[२]। स्वामी दयानन्द ने भी श्रुति एवं वेद शब्दों को अभिन्नार्थ माना है[३]। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य महीधर ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदत्व स्वीकार करते हैं। वैसे भी आचार्य महीधर परम्परागत वेदभाष्य-कर्त्ताओं के अनुयायी हैं तथा इनके पूर्ववर्ती आचार्य सायण आदि भाष्यकारों ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद माना है[४]। अतः यह अनुमान होना स्वाभाविक है कि उनका भी यही मत होगा। यदि वे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस सूत्र से असहमत होते तो किसी न किसी रूप में इसका खण्डन अपने भाष्य में अवश्य कहीं दे देते।

स्वामी दयानन्द की मान्यता—आचार्य महीधर एवं अन्य आचार्यों की मान्यता के विपरीत स्वामी दयानन्द की यह मान्यता है कि केवल मन्त्र संहिताओं का नाम ही वेद है ब्राह्मण ग्रन्थों का नहीं[५]। इस विषय में उनके चार प्रमुख हेतु निम्न हैं—

१. महीधर भाष्य—१।१, १०, ५।१७, ११।३५ आदि।
२. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो०—मनुस्मृति २।१०।
३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार प्रकरण, पृ० ८६।
४. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदः'—आचार्य सायण के तैत्तिरीय भाष्य का आरम्भ तथा ऋग्वेद भाष्य भूमिका में प्रारम्भिक विचार।
५. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञाविचारविषय, पृ० ९१।

१—महर्षि कात्यायन, जिन्होंने अपने शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य से सम्बद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह लिखकर ब्राह्मणों की भी वेद संज्ञा मानी है, के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व नहीं स्वीकार किया है।

२—आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण में वेद के पर्याय रूप में व्यवहृत 'छन्दस्' शब्द से केवल मन्त्र का ही ग्रहण किया है। यदि उन्हें मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा अभीष्ट होती तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' (अष्टा० २।३।६०) इस सूत्र में ही 'ब्राह्मणे' के स्थान पर 'छन्दसि' पद रखते तथा उसकी अनुवृत्ति अगले सूत्र 'चर्थेतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (अष्टा० २।३।६२) में ले आते जिससे इस सूत्र में 'छन्दसि' ग्रहण की आवश्यकता न होती। अतः यहाँ 'ब्राह्मणे' पाठ से ध्वनित होता है कि 'छन्दस्' शब्द केवल मन्त्र का ही वाची है ब्राह्मण का नहीं।

३—भाष्यकार पतंजलि ने पस्पशाह्निक में 'केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च। ....वैदिकाः खल्वपि' यह लिखकर वैदिक शब्दों का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह सब केवल मन्त्र भाग ही है, ब्राह्मण नहीं। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें भी वेद शब्द से मन्त्र संहिताएँ ही अभिप्रेत हैं।

४—ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा आदि हैं। अतः इनका इतिहास पुराण आदि नामों से ग्रहण होता है। मन्त्र संहिता भाग में किसी प्रकार का इतिहास नहीं। ब्राह्मण वेदमन्त्रों के व्याख्यान-ग्रन्थ हैं जो उनकी प्रतीकें देकर उनका विनियोग और व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं।

इन हेतुओं की विवेचना—स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त पूर्वोक्त चार हेतुओं की विवेचना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें कोई विशेष बल नहीं है। जहाँ तक प्रथम हेतु का प्रश्न है कात्यायन से भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भी 'मन्त्रब्राह्मणोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र उपलब्ध होता है जैसे—

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	२४।१।३१।
सत्याषाढ श्रौतसूत्र	१।१।७।
बौधायन गृह्यसूत्र	२।६।।३।
बौधायन धर्मसूत्र	२।९।७ आदि।

इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द के अनुयायी कुछ विद्वानों[1] का यह तर्क है कि यह सूत्र कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। यतोहि कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण का भी मिश्रण है, अतः तत्तद्

१. युधिष्ठिर मीमांसक— वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पृ० १६२।

ब्राह्मणांशों का वेदत्व लोक प्रसिद्ध न होने के कारण अपनी शाखाओं में उनके वेदत्व के प्रतिपादनार्थ एवं स्वशास्त्रीय कार्य की सिद्धि के लिए उनके श्रौत-सूत्रकारों ने उक्त सूत्र पढ़ा है। कृष्ण यजुर्वेद से भिन्न ऋग्वेद के शांखायन और आश्वलायन या सामवेद के द्राह्यायणा एवं लाट्यायन अथवा शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन श्रौतसूत्रों में ऐसा कोई वचन उपलब्ध नहीं होता। इसी कारण स्वामी दयानन्द ने कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध सूत्रकारों का उल्लेख न करके केवल कात्यायन का उल्लेख इसलिए किया कि वे शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

किन्तु उनकी यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। पूर्वोक्त बौधायन धर्मसूत्र एवं गृह्यसूत्र को विद्वानों ने शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा से सम्बद्ध माना है[1]। इसके कृष्ण यजुर्वेदीय होने का कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का वाक्य ऋग्वेदीय कौशिकसूत्र में भी मिलता है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद शब्दः'[2]। अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में भी लिखा है—'आम्नायः पुनः मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च'[2]। इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य में 'स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः' इस सूत्र की वृति में लिखा है—'ब्राह्मणेऽपि स्वरविधानात् ब्राह्मणभागस्य मन्त्रत्वम्'।

अतः कृष्ण यजुर्वेदीय सूत्रों से भिन्न अन्यत्र भी 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' या एतत्समान सूत्र की उपलब्धि होने से स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त प्रथम हेतु महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

जहाँ तक द्वितीय हेतु 'द्वितीया ब्राह्मणे' सूत्र में 'ब्राह्मणे' के स्थान पर 'छन्दसि' पाठ की बात है तो वहाँ भी यह कहा जा सकता है कि 'ब्राह्मणे' के स्थान पर इस सूत्र में 'छन्दसि' रखने पर मन्त्र में भी दिव धातु के प्रयोग में द्वितीया की प्राप्ति होने लगती (यद्यपि ऐसा प्रयोग मन्त्र में दुर्लभ ही है किन्तु ऐसा विचार करने पर 'ब्राह्मणे' ग्रहण की सार्थकता तो बनती ही है। सार्थक होने पर ज्ञापन नहीं बनता। इसके साथ ही अन्य उदाहरणों से तो यही सिद्ध होता है कि पाणिनि को 'छन्दः' शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों अभिप्रेत हैं। जैसे—'छन्दसीरः' और 'छन्दसि परेऽपि' (अष्टा० १।४।८१। तथा ८।२।१५) इन सूत्रों के उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों के भी व्याख्याकारों को अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त 'जुष्टार्पिते च च्छन्दसि' (अष्टा० ६।१।२०९) इस सूत्र के अनन्तर विद्यमान 'नित्यं मन्त्रे' (अष्टा० ६।१।२१०) यह ध्वनित करता है कि 'छन्दः' शब्द से पाणिनि को मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों अभिप्रेत हैं। अन्यथा 'जुष्टार्पिते छन्दसि नित्यम्' यही सूत्र बनाते। किन्तु छन्दः' शब्द से मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होने के कारण ही मन्त्र में भी जुष्ट एवं अर्पित

१. बौधायन धर्मसूत्र की भूमिका—डा० कालेण्ड द्वारा सम्पादित।
२. ऋग्वेदीय कौशिकसूत्र ३।१२।२३ तथा अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र १।३।

शब्दों में वैकल्पिक आद्युदात्त प्राप्त होने के कारण 'नित्यं मन्त्रे' सूत्र बनाना पड़ा। फलतः पूर्व सूत्र में 'छन्दसि' पद केवल ब्राह्मणवाची रह गया।

इसी प्रकार तृतीय हेतु के सन्दर्भ मे भी यह ज्ञातव्य है कि भाष्यकार पतंजलि ने 'वेद' शब्द का उल्लेख कर कई जगह ब्राह्मण ग्रन्थों का भी उदाहरण दिया है जैसे—

१—वेदे खल्वपि–पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतोराजन्यः[1]............।

२—वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति–योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद[2]।

३—वेदेऽपि–य एव विश्वसृजः सत्राण्यध्यास्त इति............[3]।

अतः यह कहना ठीक नहीं कि भाष्यकार को वेद शब्द से केवल मन्त्र भाग अभिप्रेत है ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं।

चौथा हेतु कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि ब्राह्मणों ग्रन्थों में पुराण, गाथा, इतिहास आदि होने पर भी उनके वेद-संज्ञात्व पर क्या आपत्ति हो सकती है? स्वयं वेदमन्त्रों में लोग गाथाएँ, काल्पनिक संवाद या इतिहास आदि प्राचीनकाल से मानते आए हैं। ऐसे लोगों के विचारों या मतों को आचार्य यास्क ने भी अपने निरुक्त में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' या 'इत्यैतिहासिकाः' कहकर अनेक वेदमन्त्रार्थों में प्रस्तुत किया है[4]।

वेदसंज्ञा विषयक दोनों पक्षों की यथार्थता

इस सम्बन्ध में यदि हम तटस्थतापूर्वक विचार करें तो यह प्रतीत होता है कि वास्तव मे पहले 'वेद' शब्द विद्या के ही पर्याय के रूप में व्यवहृत होता था किन्तु सभी विद्याओं के मन्त्रगत होने के कारण मन्त्रकाल में ही वेद शब्द त्रिविध (ऋग्, यजुः और साम) मन्त्रों का वाचक बन गया। माध्यन्दिन संहिता के—'वेदेन रूपे व्यपिबत् प्रजापतिः' इस मन्त्र के 'वेदेन' पद की व्याख्या में महीधर ने लिखा है—'वेदेनज्ञानेन त्रयया विद्यया वा[5]।' यहाँ दूसरा अर्थ 'त्रयी विद्या' अधिक उपयुक्त है क्योंकि मूल मन्त्र में 'वेद' शब्द आद्युदात्त है जो पाणिनि के वृषादिगण में पाठ होने से आद्युदात्त तथा रूढ 'त्रयी' के अर्थ में ही माना जाता है[6]। तैत्तिरीय संहिता

१. महाभाष्य १।१।१ (तै० ब्रा० ३।११।८।५)।
२. महाभाष्य—पस्पशाह्निक (ब्राह्मण ग्रन्थों में द्रष्टव्य)।
३. महाभाष्य—ऋलक्सूत्र (प्रत्याहाराह्निक)।
४. यास्क—निरुक्त २।१०, १६ आदि।
५. महीधर भाष्य १९।७८।
६. वृषादीनां च—अष्टा० ६।१।१९७।

में भी त्रयीपरक वेद शब्द आद्युदात्त है[१] । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी यह शब्द त्रयीपरक ही प्रयुक्त है[२] । अतः सभी संहिताओं में त्रयीपरक आद्युदात्त वेद शब्द के प्रयोग से यही निश्चय होता है कि मन्त्रकाल में केवल मन्त्रों के लिए ही वेद शब्द प्रचलित था । तब तक मन्त्र-व्याख्यानपरक ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना नहीं हुई थी ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान 'वेद' शब्द केवल मन्त्र भाग का ही ग्रहण कराते हैं तथा इनका प्रयोग त्रयी के लिए ही हुआ है । जैसे—

स इमानि त्रीणि ज्योतीष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताऽग्नेर्ऋग्वेदो ·····सूर्यात् सामवेदः[३] ।
त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेः·····तान् वेदानभ्यतपत्[४] ।
तानुपदिशति ऋचो वेदः······ऋचां सूक्तं व्याचक्षाणः ।
तानुपदिशति यजूंषि वेदः·······यजुषामनुवाकं व्याचक्षाणः[५] ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान 'वेद' शब्द भी केवल मन्त्र संहिता के ही वाचक हैं । ये स्वयं अपना अर्थात् ब्राह्मण का ग्रहण तो कथमपि नहीं करा सकते । इसीलिए उस काल में जब वेद के साथ ब्राह्मण का ग्रहण अभिप्रेत होता था तो उनके साथ 'सब्राह्मणाः' विशेषण लगाना पड़ता था । जैसे—एवमिमे सर्वे वेदाः सब्राह्मणाः सरहस्याः सकल्पाः सोपनिषत्काः[६]····आदि ।

इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन्त्र काल एवं बहुत समय तक ब्राह्मण काल में वेद शब्द से केवल मन्त्र भाग का ही ग्रहण किया जाता रहा ।

वेदसंज्ञा में ब्राह्मणों का अन्तर्भाव कब और कैसे हुआ ?

ज्ञानार्थक विद धातु से उत्पन्न वेद का अर्थ है विद्या । छान्दोग्य-ब्राह्मण में 'विद्या' शब्द का प्रयोग वेद अर्थ में हुआ है—'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्—अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्'[७] । इस संसार में विद्याएँ

१. तैत्तिरीय संहिता ७।५।११।२ ।
२. ऋग्वेद संहिता ६।११५, अथर्ववेद संहिता ४।७।५।६ ।
३. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।४ ।
४. ऐतरेय ब्राह्मण ५।५।६ ।
५. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।३,६ ।
६. गोपथ ब्राह्मण, पूर्वार्चिक १।१० ।
७. छान्दोग्य ब्राह्मण १।१७।१-१० ।

अनन्त व सर्वकालीन हैं इसीलिए आर्यजन वेदों को भी नित्य व अनन्त मानते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में इसी विद्या या ज्ञान का निरूपण करने वाले मन्त्रों को 'वेद' नाम से कहा गया तथापि इन ब्राह्मणों में ऋगादि लक्षणों का अभाव होने पर भी ऋगादि का व्याख्यान करने के कारण उन्हें भी 'वेद' कहा जाने लगा। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों के प्रसंग में 'वेद' नाम की संगति उपचार या लक्षणा से ही बैठती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण की निम्न कथा भी इसी बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती है जिसमें वेदों को अनन्त कहा गया है—

"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मवर्चसमुवास। तं ह जीर्णस्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्योवाच-भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य--वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः....[१]।"

इस प्रकार ये वेद या विद्याएँ अनन्त हैं। आपस्तम्ब प्रभृति ऋषियों ने जब अपने सूत्रों की रचना की तब तक ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद माने जाने लगे थे जिसका प्रमाण 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वचन है। इसी कारण मनुस्मृति में आये 'वेद' शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण किया गया है[२]।

मीमांसा भाष्य में आचार्य शबरस्वामी ने—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' इसके समर्थन में जो—'अनित्यदर्शनाच्च' हेतु दिया है उसके उदाहरण में ब्राह्मण वाक्य ही प्रस्तुत किया है[३]। इससे ज्ञात होता है कि वे भी वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण कर रहे हैं।

आचार्य शंकर ने भी अपने वृहदारण्यक भाष्य में 'वेदानुवचनेन' का अर्थ 'मन्त्रब्राह्मणाध्ययनेन' किया है[४]।

आचार्य सायण ने भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही वेदत्व स्वीकार करते हुए जो निम्न वाक्य लिखा है उससे यही संकेत मिलता है कि पहले मन्त्र ही वेद थे किन्तु कालान्तर में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही वेद नाम से ग्रहण किया जाने लगा। उनके ये वाक्य इस विषय में यथार्थ स्थिति के परिचायक हैं—

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११।३-४।

२. वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः०—मनु० २।१६५ पर कुल्लूकभट्ट की टीका-समग्रवेदः मन्त्रब्राह्मणात्मकः।

३. मीमांसादर्शन १।१।२७ एवं २८।

४. वृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य ४।४।२२ पृ० ६८२।

'यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस्तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्र-व्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः[१] ।' तथा, 'तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्र-प्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात्प्रथमो भवति[२] ।'

जहाँ तक आरण्यक एवं उपनिषदों का प्रश्न है वे तो ब्राह्मणों के ही भाग माने जाते हैं । अतः ब्राह्मणों के वेदत्व स्वीकार करने से वे उसमें ही अन्तर्भूत हो गये । आचार्य महीधर ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में 'तथा च श्रुतिः' लिखकर बृहदारण्यकोपनिषद् का निम्न उद्धरण प्रस्तुत किया है—

"आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते" (बृहदारण्यकोपनिषद् ५।५।३३) ।

बाद में तो कुछ लोगों ने कल्पसूत्र, मीमांसा और यहाँ तक कि षडङ्गों का भी वेद में अन्तर्भाव कर दिया है । जैसे—"विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः" इस पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या में भर्तृयज्ञ ने तर्क का अर्थ कल्पसूत्र किया है जब कि विश्वनाथ ने 'तर्को न्यायमीमांसे' यह अर्थ लिखा है । इसके आगे 'षडङ्गमेके' यह सूत्र है[३] । कुमारिलभट्ट ने भी तन्त्रवार्तिक में—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् षडङ्गमेके' यह किसी धर्मशास्त्र का वचन उद्धृत किया है[४] । इसी प्रकार संस्कारप्रकाश में—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदः षडङ्गमेके इति गोतमः' यह वाक्य मिलता है[५] ।

इस प्रकार इन सब प्रमाणों से यही निश्चय होता है कि यद्यपि वेद संज्ञा प्रारम्भ में केवल मन्त्र भाग की थी किन्तु कालक्रम एवं विकासक्रम से शनैः शनैः यह अपने अभिधेय में वृद्धि करती गई है ।

स्वामी दयानन्द ने वेद संज्ञा के अभिधेय में इस प्रकार की अनियन्त्रित वृद्धि को देखकर ही यह निश्चय किया कि 'वेद' शब्द से मूलतः मन्त्र-संहिता ही अभिधेय मानी जाय जैसी कि मन्त्रकाल या ब्राह्मणकाल में मान्यता थी । इसी कारण उन्होंने ब्राह्मणादि अर्वाक्कालीन ग्रन्थों के वेदत्व का खण्डन किया । हमें भी उनका यह चिन्तन उपयुक्त तथा ग्राह्य प्रतीत होता है । मन्त्रव्याख्यानरूप ब्राह्मण, आरण्यक,

१. तैत्तिरीय संहिता सायण भाष्य, पृ० ७ ।
२. काण्व संहिता सायण भाष्य, पृ० ८ ।
३. पारस्करगृह्यसूत्र २।६।५ और ६ ।
४. तन्त्रवार्त्तिक १।३०।३० पर उद्धृत है ।
५. संस्कारप्रकाश, (वीरमित्रोदय) पृ० ५०७ ।

उपनिषद-दर्शन, वेदांग या इनकी टीका-टिप्पणियों को यदि हम वेद संज्ञा में समाहित करने लगेंगे तब तो बड़ी ही विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। जो प्रामाणिकता तथा रहस्यमयता मूल मन्त्रों में निहित है वह अन्य किसी वैदिक ग्रन्थ में नहीं।

अतः यह उचित ही है कि मन्त्र-संहिता को ही हम वेद संज्ञा का गौरव प्रदान करें। इसी कारण ब्राह्मणों के वेदत्व को न स्वीकार करने के संबन्ध में स्वामी दयानन्द के तर्क और प्रमाण कुछ लोगों के लिए अत्यधिक सन्तोषप्रद न होते हुए भी केवल मन्त्र-भाग का वेदत्व स्वीकार करने का उनका विचार ग्राह्य एवं समीचीन प्रतीत होता है। आवश्यक है कि हम इसको अधिक प्रामाणिक बना सकें।

मन्त्रों के ऋषि

ऋषिज्ञान की महत्ता—मन्त्रार्थ-ज्ञान में ऋषि का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार वेंकटमाधव ने अपने भाष्य की उपक्रमणिका में लिखा है—

'अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्।'

इसी कारण निम्न प्राचीन श्लोकों में ऋषि-ज्ञान से हीन वेदाध्येता एवं व्याख्याता की निन्दा करते हुए लिखा है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव वा।
योऽध्यापयेद् जपेद् वापि पापीयान् जायते तु स ॥
ऋषिछन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते[1] ॥

शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूत्रकार ने भी लिखा है—'एतानि (ऋषि दैवतच्छन्दांसि) अविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जुहोति.........तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं भवति... अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति... तत्फलेन युज्यते[2]।'

भाष्यकार आचार्य महीधर ने इसी आधार पर अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—'तस्माद् वेदमन्त्राणामृष्यादिज्ञानम् अर्थज्ञानं चाऽवश्यकम्।'

आचार्य महीधर एवं स्वामी दयानन्द दोनों ही भाष्यकारों ने अपने भाष्य में तत्तत् मन्त्रों के ऋषियों का संकेत किया है।

ऋषि शब्द का अर्थ—'ऋषि' शब्द ऋष धातु से निष्पन्न होता है जो

---

१. सत्यव्रत सामश्रमि—'वेदत्रयी परिचय' में प्रदत्त प्राचीन श्लोक, पृ० ७२।

२. यजुः सर्वानुक्रमसूत्र—अध्याय १ खण्ड १।

पाणिनीय धातु पाठ में गत्यर्थक है[1]। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने अपने पूर्ववर्ती औपमन्यव आचार्य का उद्धरण देते हुए इसे दर्शनार्थक 'ऋष' धातु से निष्पन्न मान कर लिखा है—'ऋषिर्दर्शनात स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः[2]।' वैसे पाणिनीय धातु-पाठोक्त गत्यर्थकता भी 'ऋषि' शब्द से सम्बद्ध है। यथा—तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है—'तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंम्भवभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणा-मृषित्वम[3]।' तैत्तिरीय आरण्यक का यह उद्धरण निरुक्तकार ने भी उद्धृत किया है। इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार दुर्ग ने लिखा है—''एनांस्त-पस्यमानान्तप्यमानान् ब्रह्म ऋग्यजुःसामाख्यं स्वयंभु अकृतकमभ्यागच्छत्, अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशुस्तपोविशेषेण[4]।'

अतः स्पष्ट है कि मन्त्रों के दर्शन करने या ईश्वरीय प्रेरणा से स्वतः उनके अधिगन्ता (प्राप्तकर्त्ता) होने के कारण ही इन्हें ऋषि कहा जाता है।

क्या ऋषि मन्त्र का कर्त्ता है ?—पूर्वोक्त व्युत्पत्ति एवं प्रमाण से तो यही निश्चय होता है कि भारतीय परम्परा में आचार्यगण ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा मानते थे, कर्त्ता नहीं। किन्तु वैदिक व लौकिक साहित्य में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि ऋषि मन्त्रों का कर्त्ता या रचयिता है। जैसे—

१—देवा ह····काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत-ऐतरेय ब्रा॰ ६।१।

२—नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः····तैत्ति॰ आरण्यक ४।१।

३—यस्य वाक्यं स ऋषिः—सर्वानुक्रमणी, परिभाषा-प्रकरण २।४।

४—यावन्तो वै मन्त्रकृतः—कात्यायनश्रौतसूत्र ३।२।९।

५—अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतां ऋषीणाम्—रघुवंश ५।४। आदि

इसी प्रकार निरुक्त में भी आचार्य यास्क ने जिन औपमन्यव आचार्य का उद्धरण देकर 'ऋषि' का अर्थ द्रष्टा किया है उसी को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं—'कुत्स ऋषिर्भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः[5]।'

---

१. ऋषी गतौ, पाणिनीय धातुपाठ, तुदादिगण।

२. यास्क निरुक्त २।११।

३. तैत्तिरीय आरण्यक २।९।

४. निरुक्त की दुर्ग टीका ३।३।

५. यास्क—निरुक्त ३।११।

इन वाक्यों को प्रमाण मानने पर ऋषियों को मन्त्र के कर्ता के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा जिसके कारण वेदों के अपौरुषेय होने की जो परम्परागत भारतीय धारणा है उस पर आक्षेप होगा, क्योंकि वेद तो ईश्वरीय ज्ञान है जो अनादि एवं अनश्वर है फिर उनका कर्त्ता कोई मनुष्य कैसे हो सकता है ?

मन्त्रकृत् शब्द की व्याख्या — ऊपर जितने भी प्रमाण दिये गये हैं उनमें से एक सर्वानुक्रमणीकार को छोड़कर शेष सभी ऐसे हैं जिनमें विद्यमान मन्त्रकृत्' शब्द के 'कृञ्' धातु का अर्थ निर्माण करना, बनाना (अभूतप्रादुर्भाव) मानने पर ही यह दोष आता है। इस दोष के परिहार के लिए ही आचार्यो ने तत्तत् स्थलों के भाष्य में कृञ् धातु को 'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति[1]' के आधार पर दर्शनार्थक मानकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण वाले प्रथम प्रमाण की व्याख्या में सायण ने लिखा है—'ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत्, करोति-धातुस्तत्र दर्शनार्थः[2]।' इसी प्रकार कात्यानश्रौतसूत्र वाले चतुर्थ प्रमाण की व्याख्या में भी कर्काचार्य ने लिखा है—'मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। न हि मन्त्राणां करणं भवति, अनित्यत्व-प्रसंगात्। तेन दर्शनार्थः कृञिति अध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनाम्[3]।'

इस प्रकार जहाँ कहीं भी ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता कहा गया है वहाँ सर्वत्र पौरुषेयत्व और अनित्यत्व दोष से बचने के लिए आचार्यों ने कृञ् धातु को दर्शनार्थक मानकर व्याख्यात किया है। सर्वानुक्रमणी के 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' में भी सूत्र का अर्थ 'कर्तृत्वेन' न मानकर 'यस्य यद् वाक्यं द्रष्टृत्वेन सम्बन्धेन स तस्य ऋषिः' यह व्याख्या की जा सकती है। कुछ इसी प्रकार षड्गुरुशिष्य ने अपनी वृत्ति में माना भी है[4]। वैसे भी अनुक्रमणीकार ने अन्यत्र ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा ही मानकर लिखा भी है—'गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्। वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्। ऋग्वेदमखिलं ये हि द्रष्टारो मुनिपुंगवाः[5]' आदि।

इस सम्बन्ध में आचार्य महीधर एवं स्वामी दयानन्द के विचार

भाष्यकार आचार्य महीधर के भाष्य के अवलोकन से यही ज्ञात होता है कि वे भी मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषियों को तत्तत् मन्त्रों का द्रष्टा ही मानते हैं कर्ता नहीं। जैसे—

१. व्याकरण महाभाष्य १।३।१।
२. ऐतरेय ब्राह्मण-सायण भाष्य, पृ० ६७७ (पूना संस्करण)।
३. कात्यायन-श्रौतसूत्र, कर्कवृत्ति ३।२।६।
४. ऋक्सर्वानुक्रमणी—परिभाषासूत्र २।४, षड्गुरुशिष्यवृत्ति।
५. सर्वानुक्रमणी २।१, ४।१, आर्षानुक्रमणी १।१।

१—यद् वासिष्ठं तदग्नये० आदि २६ वें अध्याय के १२वें मन्त्र के भाष्य में वे लिखते हैं—'अग्निदेवत्याऽनुष्टुप् वसूयुदृष्टा'—अर्थात् अग्नि देवता वाले इस अनुष्टुप् छन्दोयुक्त मन्त्र का द्रष्टा 'वसूयु' ऋषि है।

२—इसी अध्याय के १५वें मन्त्र के भाष्य में भी उन्होंने लिखा है—'सोम-देवत्या गायत्री वत्सदृष्टा'—अर्थात् इस गायत्री छन्द वाले मन्त्र का द्रष्टा 'वत्स' ऋषि है।

३—३४वें अध्याय के प्रारम्भिक छः मन्त्रों के विषय में भी वे लिखते हैं—'शिवसकल्पदृष्टाः'। अतः स्पष्ट है कि वे ऋषियों को मन्त्र का द्रष्टा ही मानते हैं कर्ता नहीं। इस विषय में स्वामी दयानन्द का भी आचार्य महीधर से कोई विरोध नहीं है। अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उन्होंने निरुक्त का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट ही ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा एवं वेद को अपौरुषेय निरूपित किया है[1]।

स्वामी दयानन्द ने अपने पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों में ऋषियों के नामों का मन्त्रों के साथ सम्बद्ध होने या परम्परागत रूप से अद्यावधि संलग्न होने का कारण यह माना है कि परमेश्वर ने मुख्य चार अग्नि आदि ऋषियों के अन्तःकरण में जब चारों मन्त्रसंहिताओं का ज्ञान प्रदान किया तब उसके पश्चात् अन्य ऋषियों ने उनसे इनका अध्ययन किया। अनन्तर अन्य लोगों के समक्ष उन्होंने जब प्रथम बार उन मन्त्रों का अर्थ एवं उपदेश प्रस्तुत किया तभी से तत्तत् मन्त्र के साथ उन-उन ऋषियों का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है। इस प्रकार मन्त्र-सम्बद्ध ऋषि उनका द्रष्टा है अर्थात् मन्त्रार्थ का प्रथम प्रवक्ता या व्याख्याता है। आचार्य महीधर ने भी अध्याय ४, मन्त्र ४ में विद्यमान ऋषि शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—ऋषिम् मन्त्राणां व्याख्यातारम्।

मन्त्रों के ऋषिनामों की अनेकार्थता

मन्त्रों के ऋषि-नामों पर हमें कुछ भिन्न दृष्टि से भी विचार करना अपेक्षित है। ऋषियों को केवल मन्त्रों का द्रष्टा, जैसा कि दोनों भाष्यकारों ने माना है, मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता। यह केवल रूढ विश्वास एवं घोर धार्मिक निष्ठा व परम्परानुयायिता का ही द्योतक प्रतीत होता है। भले ही सृष्टि के प्रारम्भिक पवित्र समय में अविचल सत्यनिष्ठा एवं बौद्धिक कर्मसंस्कार के कारण विभिन्न ऋषियों को अनेक सुन्दर विचारों का साक्षात्कार उनके अन्तःकरण में ईश्वर-प्रेरणा से प्राप्त हुआ हो किन्तु यह तो तथ्य है कि उसे शब्दों में तो उन्हीं लोगों ने ही बाँधा है। फलतः किसी रूप में इन मन्त्रों के साथ उनका कर्तृत्व भी जुड़ा ही हुआ है।

१. सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ७ तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदोत्पत्तिविषय।

अतः उन ऋषियों पर केवल मात्र धार्मिक कट्टरता या अत्यन्त भावुकता के साथ विचारते समय जहाँ हमारा यह मानना अस्वाभाविक है कि परमेश्वर द्वारा किसी एक ही काल में समस्त विचार एक निश्चित वर्णानुक्रम की आनुपूर्वी में प्रकट करने के लिए इन ऋषियों को कठपुतली के समान प्रयुक्त किया गया, वहीं इन ऋषियों को किसी अन्य साधारण परिस्थिति में किसी साधारण पुस्तक निर्माण के समान उसके कर्ता के रूप में सोचना भी न्यायसंगत नहीं। यहाँ हमें धार्मिक भावना से पृथक् होकर कुछ उदारतापूर्वक सोचने पर यह प्रतीत होता है कि अनेक वर्षों में विभिन्न ऋषियों द्वारा यथासमय विविध सूक्तों व मन्त्रों की रचना के कारण जहाँ उनका नाम कर्तृत्व रूप में सम्बद्ध हैं वहीं अनेक ऋषियों द्वारा उन-उन मन्त्रों की यथासमय व्याख्या या अन्य उपयोग के कारण द्रष्टृत्व या व्याख्यातृत्व रूप से सम्बद्धता होने के कारण भी मन्त्रों के साथ उनके नामों का उल्लेख है।

विभिन्न वैदिक ग्रन्थों में आया 'मन्त्रकृत्' शब्द इसका स्पष्ट द्योतक है कि मन्त्रों की रचना ऋषियों ने की है। यह बात दूसरी है कि हम पौरुषेयता, अनित्यता आदि दोष से बचने के लिए धातु को अनेकार्थक मानकर उसका अर्थ 'द्रष्टा' ही मानें और उसके समर्थन में उन परम्परावादी आचार्यों का प्रमाण प्रस्तुत करते फिरें। वैसे यह बात भी निश्चित है कि मन्त्रों से सम्बद्ध सभी ऋषिनाम कर्तृत्व के कारण ही मन्त्रों से सम्बद्ध नहीं हैं। अनेक मन्त्रों में उनके द्रष्टत्व अर्थात व्याख्यातृत्व, प्रचारकत्व आदि के कारण भी उनकी सम्बद्धता है। जैसे अनेक वेदमन्त्र ऐसे हैं जो कई बार पठित हैं। अब यदि हम ऋषिनामों को कर्तृत्व रूप में ही मानें तो तत्तत् मन्त्रों का ऋषि भी समान ही होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। स्पष्ट ही उन मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। जैसे अथर्ववेद में पठित 'अम्बयो०' प्रभृति तीन मन्त्रों का ऋषि सिन्धु द्वीप है जब कि ये ही मन्त्र जब ऋग्वेद में पठित होते हैं तो इनका ऋषि मेधातिथि काण्व हो जाता है[1]। इसी प्रकार ऋग्वेद में पठित—'चित्रं देवानाम्०' मन्त्र का ऋषि कुत्स है जब कि यजुर्वेद में इसका ऋषि विरुप है[2]। ऋग्वेद के नवम मण्डल के ६६वें सूक्त के ऋषि 'शतवैखानसाः' हैं। यदि यहाँ इन्हें मन्त्र का कर्त्ता मानेंगे तो यह बात सन्दिग्ध जान पड़ती है कि एक छोटे से सूक्त की रचना १०० वैखानस मिलकर करें। अतः इन सब कारणों से ऋषिनामों को सर्वत्र मन्त्र में कर्तृत्व रूप से जोड़ना भी युक्त नहीं प्रतीत होता। इन्हें तो हम यहाँ द्रष्टृत्व रूप में ही स्वीकार कर सकेंगें।

---

१. अथर्ववेदसंहिता १।४।१-३, ऋग्वेद १।२३।१६-१८।
२. ऋग्वेद १।११६।१, माध्यन्दिनसंहिता ७।४२।

कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनके ऋषि-नामों को न तो हम कर्तृत्व के रूप में और न ही उनके द्रष्टृत्व या व्याख्यातृत्व के रूप में स्वीकार करने में समर्थ हो सकते हैं। जैसे ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १६५वें सूक्त का ऋषि 'कपोत' है। इसी मण्डल के १५८ वें सूक्त का ऋषि 'चक्षु' एवं ८३ वें सूक्त का ऋषि 'मन्यु' है। प्रथम मण्डल के ३३ वें सूक्त का ऋषि 'नद्यः' है। ८ वें मण्डल के ६७ वें सूक्त के ऋषिगण तो 'जालबद्धाः मत्स्याः' (जाल में फँसी मछलियाँ) हैं। निश्चय ही ये ऋषि मानव या ऐतिहासिक नहीं हो सकते जिन्होंने मन्त्रों का उपदेश या व्याख्यान किया हो जिसके कारण इनके नाम मन्त्रों से सम्बद्ध किये गये हों। यहाँ 'मन्त्र-ऋषि' का अर्थ 'मन्त्र-दृष्टि' या 'मन्त्र का अभिप्राय' भी हो सकता है। तब निश्चय ही मन्त्रगत विषय को स्पष्ट करने के लिए इनकी उपयोगिता माननी पड़ेगी। सर्वानुक्रमणी के 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' के अनुसार संवादात्मक या गाथात्मक शैली में नदी या जालबद्ध मत्स्यों के मुख से ये वाक्य उच्चरित हुये, फलतः उन्हें इनका ऋषि कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इनके द्रष्टा या रचयिता तो कोई अन्य मानव ऋषि होगा किन्तु उस स्थल-विशेष में ये मन्त्र आख्यानादि में नदी आदि के मुख से उच्चरित होने से उनके ही वाक्य हुए, अतः 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' के अनुसार उन्हें भी ऋषि मान लिया गया। सम्भवतः ऐसे स्थलों के लिए ही वेंकटमाधव ने लिखा है—'अर्थज्ञानं ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्'। इस प्रकार मन्त्रार्थ-परिवर्तन से कुत्रचित् ऋषि-परिवर्तन भी सम्भव है। यास्क ने लिखा भी है—

'एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति[1]।' अर्थात् ऋषियों की मन्त्र-दृष्टियाँ अभिप्राय-भेद पर भी निर्भर हैं।

इसी प्रकार निरुक्त के निम्नोद्धृत एक प्रसंग में कहा गया है कि 'तर्क' ही ऋषि है। यह तर्क है मन्त्रार्थ-विचार या ऊहापोह। जो भी विद्वान् यह अभ्यूह-ऊहापोह करता है उसे सब आर्ष अर्थात् ऋषि या मन्त्रार्थविचार से सम्बद्ध समझना चाहिए—

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिम्प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किं चाऽनूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति[2]।"

---

१. यास्क—निरुक्त ७।३।

२. यास्क—निरुक्त १३।१२।

वेदमन्त्रों में तो इन्द्रियों, ऋतुओं तथा सूर्य-किरणों के लिए भी 'ऋषि' शब्द का प्रयोग हुआ है जब कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राणों को भी ऋषि कहा गया है[1]। तात्पर्य यह है कि ऋषि-नाम अनेकार्थक हैं। इसका अर्थ केवल मन्त्रद्रष्टा या व्याख्याता नहीं। निश्चय ही बहुत सारे ऋषि-नाम व्यक्तिवाचक या ऐतिहासिक हैं किन्तु सभी को हम ऐसा नहीं कह सकते। जहाँ तक उन ऋषियों को मन्त्र-कर्त्ता न मानकर मन्त्रद्रष्टा माना गया है या वेद को अपौरुषेय माना जाता है, इस विषय में हम परम्परावादी दृष्टिकोण से ही सोचने को बाध्य नहीं। अवश्य ही सूक्तों या मन्त्रों की रचना ऋषियों ने की है। इसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से अगर हम सोचें तो निश्चित है कि सम्पूर्ण वेद एक साथ एक समय एकाएक सृष्टि के आदि में नहीं आये। हाँ, इस वैदिक ज्ञान का प्रकाश निश्चय ही सत्त्व-प्रधान हृदय वाले उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानी तपस्वी व्यक्तियों के अन्तःकरण में एक दैवी प्रेरणा से ही हुआ होगा। प्रत्येक शुभ ज्ञान के पीछे ईश्वरीय प्रेरणा होती ही है। अवश्य ही वह काल अत्यन्त रमणीय एवं व ऋषिजन पूत चित्त वाले होंगे जिन्होंने अपनी मार्मिक अनुभूति एव तपश्चर्या से अर्जित पवित्रता को शब्दों में बाँध दिया। इसी कारण अरविन्द कहते हैं—"ऋषि स्वयं वैयक्तिक रूप से सूक्त का निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और अपौरुषेय ज्ञान का" (वेद-रहस्य, अध्याय २ पृ० ४२)।

वह काल इतना प्राचीन है कि आज भी उसका निश्चय हो पाना कठिन है। इस दृष्टि से यदि विद्वान् लोग श्रद्धाधिक्य से वेद-ज्ञान को अनादि और अपौरुषेय कहते हैं तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

मन्त्रों के देवता और उसका स्वरूप

देवता का माहात्म्य—मन्त्रों का अर्थ करने के लिए उसके देवता का ज्ञान होना आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण है। देवता ही मन्त्र का वर्ण्य विषय होता है जिसके द्वारा हम मन्त्र का अभिप्राय समझने में सफल होते हैं। देवता-ज्ञान के विना श्रौत-स्मार्त कर्मों की संसिद्धि नहीं हो सकती—'न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्त्तकर्मप्रसिद्धिः[2]।'

बृहद्देवता में भी लिखा है कि मन्त्रों का भाष्य या अर्थ करने वाले व्यक्ति को यत्नपूर्वक देवता-ज्ञान करके ही मन्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होना चाहिए—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥

---

१. प्राणा ऋषयः—माध्य० शतपथ ७।२।३।५, ८।४।१।५।
२. ऋक्सर्वानुक्रमणी, परिभाषा-प्रकरण सूत्र १।

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते[1] ।।

सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण में भी लिखा है—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यति[2] ।' अर्थात् जो व्यक्ति मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द आदि के ज्ञान के बिना यज्ञ का अध्यापन करता है वह सूखे पेड़ से टक्कर मारता है या गढे में गिरता है । तात्पर्य यह है कि उसका यज्ञ या अध्ययन निष्फल होता है । इसीलिए वेद-भाष्यकार महीधर ने भी कात्यायन के सर्वानुक्रमसूत्र का उद्धरण देते हुए लिखा है कि दैवत ज्ञान के बिना अर्थज्ञान असम्भव है । अतः मन्त्रार्थ से पूर्व मन्त्रों का देवता अवश्य जानना चाहिए[3] ।

देवता शब्द का निर्वचन व अर्थ—'देव' शब्द दिवादिगण की 'दिव्' धातु से निष्पन्न होता है । निरुक्तकार यास्क ने इस शब्द का निर्वचन करते हुए इसको दा, दीप तथा द्युत धातु एवं द्युलोकवाची 'द्यु' या 'दिव्' शब्द से भी इसे निष्पन्न माना है—'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः स देवता[4] ।' 'देव' शब्द से ही स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय होकर 'देवता' शब्द बनता है । दोनों में कोई अर्थभेद नहीं[5] ।

वैसे तो देवता प्रायः सभी वैदिक ग्रन्थों में ३३ की संख्या (८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ प्रजापति, १ इन्द्र या वषट्कार) में निर्दिष्ट हैं[6] किन्तु मन्त्रों से

---

१. बृहद्देवता अध्याय १ श्लोक २, ४ ।
२. आर्षेय ब्राह्मण (ताण्ड्यों का) १।१ ।
३. महीधर-भाष्य की उपक्रमणिका, पृ० २ ।
४. यास्क– निरुक्त, ७।१५ ।
५. 'देवात्तल्'—अष्टाध्यायी ५।४।२७ ।
६. क—त्रयस्त्रिंशद् वै देवताः—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।२।५, जैमिनीय ब्राह्मण २।१२६ ।
ख—त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः–माध्यन्दिन शतपथ ११।६।३।४, ४।५।७।२ तथा तैत्तिरीय संहिता ३।५।२।३ ।
ग– त्रयस्त्रिंशद्देवताः—काठक संहिता ३७।७, मैत्रायणी सं० ३।४।२ ।
घ—त्रयस्त्रिंशद् वै सोमपा देवताः—कौषीतकी ब्राह्मण २।६, काठक संहिता २६।६ ।
ङ—त्रिंशदेता देवताः (त्रयश्चापरे)—कपिष्ठलकठसंहिता ४४।३ ।

सम्बद्ध जो देवता हैं वे इनके अतिरिक्त भी हैं जो कि मन्त्रों के वर्ण्य विषय, स्तुति या हविर्भाक्त्व के कारण मन्त्र-देवता के रूप में उनसे सम्बद्ध किये गये हैं। निरुक्त के दैवतकाण्ड में ऐसे सभी देवतावाची शब्दों का निर्वचन एवं अर्थ-निरूपण करते हुए उनसे सम्बद्ध एकाधिक मन्त्रों का उदाहरण भी प्रस्तुत कर उन्हें स्पष्ट किया गया है।

वर्गीकरण की दृष्टि से इस देवमण्डल को मुख्यतया तीन भागों में विभक्त करके प्रत्येक भाग का एक प्रमुख देवता स्वीकार किया गया है जो कि निरुक्तकार यास्क एवं बृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी इन तीनों के अनुसार—पृथिवी स्थान में अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र या वायु तथा द्युस्थान में सूर्य के रूप में मान्य हैं[१]। शेष अन्य देवता इन्हीं तीनों के अंशावयव, पर्याय या कुछ कर्मभेद से इन्हीं की शक्तियाँ होने से इनमें ही अन्तर्भूत हैं। जैसा कि कहा भी है—

"तत्तत्स्थाना अन्यदेवतास्तद्विभूतयः। कर्मपृथक्त्वाद्धि पृथगभिधानस्तुतयो भवन्ति।' तथा 'तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्[२]।'

मन्त्रों के देवता—मन्त्रों से सम्बद्ध देवता उन मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय के रूप में ही होते हैं। जिस मन्त्र में अग्नि की स्तुति है उसका देवता अग्नि होगा। ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा भी है—'या तेनोच्यते सा देवता (परिभाषा सूत्र २।५)' इस पर षडगुरुशिष्य ने अपनी टीका में लिखा है—'तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता।' यह प्रतिपादन या वर्णन निन्दात्मक भी हो सकता है। जैसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३४वें सूक्त के कुछ मन्त्रों का देवता 'अक्षकितव' है जिसमें द्यूत की निन्दा की गई है।

जिस प्रकार सूक्त या मन्त्र में वर्णित विषय-वस्तु को मन्त्र का देवता कहा जाता है उसी प्रकार उस सूक्त या मन्त्र को पढ़कर जिस किसी देवता को हवि दी जाती है, वह भी उस सूक्त का देवता माना जाता है। ऐसे देवता को 'हविर्भाक्' देवता कहते हैं जब कि प्रथम को 'सूक्तभाक्' देवता कहते हैं।

इसी प्रकार ऋग्भाज् एवं निपातभाज् ये दो और देवता भी हैं। जब किसी ऋचा या मन्त्र का देवता उस सूक्त के अन्य मन्त्रों से पृथक् किसी अन्य देवता से सम्बद्ध होता है तो उसे 'ऋग्भाज्' देवता कहते हैं जब कि गौण रूप से स्तुत या

१. निरुक्त ७।५, बृहद्देवता १।५, ऋक्सर्वानु० परिभाषा० २।८।
२. ऋक्सर्वानुक्रमणी परिभाषा० २।१२-१३ तथा निरुक्त ७।५।

हव्य-प्राप्त देवता को 'निपातभाज्' देवता कहते हैं। इस बात का संकेत निरुक्त एवं बृहद्देवता में भी किया गया है[1]।

मन्त्र-देवता के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द के विचार

स्वामी दयानन्द ने देव या देवता शब्द का अर्थ 'मन्त्र' किया है। उनके अनुसार देवता मन्त्र की विषयवस्तु है। अतः जिस विषय या अर्थ का वर्णन मन्त्र में हो वह मन्त्र ही उस देवता के नाम से अभिहित होता है। इसमें उन्होंने प्रमाण-स्वरूप माध्यन्दिन यजुर्वेद अध्याय १४ के २० वें मन्त्र 'अग्निर्देवता वातो देवता···· वरुणो देवता' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि अग्नि, वायु, सूर्यादि विषयों का प्रकाश या वर्णन जिस मन्त्र में किया जाय वही देवता है, जो कि मन्त्र ही हो सकता है, क्योंकि इन वेद-मन्त्रों में ही सभी विद्याओं का प्रकाश निहित है और वेद सभी सत्य-विद्याओं की पुस्तक है[2]।

स्वामी दयानन्द के अनुसार पूर्वोक्त अग्नि, वायु आदि देवता किसी जडवस्तु के वाचक न होकर मुख्यार्थ में सब परमेश्वर के वाचक हैं। इसी प्रकार इनकी पूजा-उपासनादि का तात्पर्य भी उसी एक निराकार प्रजापति ब्रह्म की उपासना से है जिसका मुख्य नाम 'ओ३म्' है तथा अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्रादि सभी शब्द उसके विशेषण के रूप में ही वेद-मन्त्रों में विद्यमान हैं। अतः ये शब्द मुख्यार्थ वृत्ति में जहाँ परमेश्वरपरक आध्यात्मिक अर्थ ही ध्वनित करेंगे वहीं गौण रूप से अन्य अर्थों के भी वाचक होकर याज्ञिक, आधिदैविक या व्यावहारिक अर्थ-प्रक्रिया में भी अपना महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार एक आत्मा (परमात्मा) ही सब मन्त्रों का मुख्य देवता है। इस सन्दर्भ में निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। (निरुक्त ७।४)

(ख) समस्तानां (सूक्तानां मन्त्राणां वा) प्रजापतिः।
ओङ्कारः सर्वदेवत्यः पारमेष्ठ्यो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकाः।
एकैव महानात्मा देवता। तद्विभूतयो अन्या देवताः[3]।

(ग) आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।

---

१. निरुक्त ७।१३ तथा बृहद्देवता अध्याय १ श्लोक १७, १८।

२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारप्रकरण।

३. सर्वानुक्रमणी, परिभाषा० २।१०, ११, १४, १५, १८।

एतमेके वदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।। (मनु० १२।१२३)

(घ) असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः ।
यदक्षरं च वाच्यं च यथैतद् ब्रह्म शाश्वतम् ।। (बृहद्देवता १।६२)

(ङ) ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् । भूतं भवद्
भविष्यदिति सर्वमोङ्कार । (माण्डूक्योपनिषद् १।१)

(च) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। (कठोपनिषद् २।१५)

(छ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
(ऋग्वेदसंहिता १।१६४।४६)

इस प्रकार स्वामी दयानन्द के अनुसार मन्त्रों में विद्यमान अग्नि, वायु, सूर्य आदि समस्त शब्द मुख्य रूप से एकमात्र प्रजापति ब्रह्म या उस परमेश्वर के ही वाचक हैं जिसका मुख्य नाम 'ओउम्' है। फलत उनके अनुसार वेदमन्त्रों का मुख्य अर्थ भी आध्यात्मिक ही हो जाता है किन्तु गौण रूप से ये शब्द भौतिक या अचेतन अग्नि, वायु, सूर्य आदि पदार्थों के वाचक भी होते हैं जिसके कारण मन्त्रों का अर्थ आधिदैविक, आधिभौतिक, याज्ञिक या व्यावहारिक अर्थ प्रक्रिया में भी करना सम्भव है।

महीधर और दयानन्द के भाष्य में देवता-भेद के कारण

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में प्रदत्त मन्त्रों के देवता और आचार्य महीधर द्वारा स्वीकृत मन्त्रों के देवताओं में बहुशः अन्तर दृष्टिगत होता है। महीधर ने यजुः-सर्वानुक्रमणी में पठित मन्त्रों के देवताओं को ही अपने भाष्य में भी तत्तत् मन्त्रों के देवता के रूप में स्वीकृत किया है जब कि स्वामी दयानन्द ने ऐसा न करके अनेक मन्त्रों में सर्वानुक्रमणी से पृथक देवता का मन्त्रों में निर्देश किया है। यद्यपि ऐसे भी स्थल हैं जहाँ उन्हें सर्वानुक्रमणी-प्रोक्त देवता ही मान्य है (जैसे माध्यन्दिन-संहिता १।६ में 'प्रजापति') किन्तु वे सर्वत्र ही अनुक्रमणी पर आश्रित नहीं हैं। उदाहरण के लिए इस संहिता की प्रथम कण्डिका (स्वामी दयानन्द के अनुसार मन्त्र) को ही लें जिसका देवता सर्वानुक्रमणी के अनुसार शाखा, वायु और इन्द्र है जब कि स्वामी

दयानन्द के अनुसार समस्त कण्डिका (या मन्त्र) का एक ही देवता 'सविता' है। इस प्रकार वे देवता-निर्णय के लिए आचार्य महीधर की भाँति पूर्णरूप से सर्वानुक्रमणी पर ही आश्रित नहीं हैं।

क्या मन्त्रों के देवता नियत हैं या देवता-निर्णय में सर्वानुक्रमणी ही प्रमाण है? (दयानन्दीय मन्त्र-देवता का प्रामाण्य-विवेचन)

यदि मन्त्रों के देवता नियत हों तथा इस विषय में ऋषि, देवता, छन्द आदि का ज्ञान कराने वाले बृहद्देवता तथा अनुक्रमणी ग्रन्थ ही परम प्रमाण हों तो स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त मन्त्रों के देवताओं के परिवर्तन और उनके प्रामाण्य पर सन्देह होना स्वाभाविक है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द से पूर्व भी अनेक भाष्यकार देवता के लिए पूर्णरूपेण सर्वानुक्रमणी पर ही आश्रित नहीं थे। उदाहरणतः भाष्यकार उवट (११वीं शती) ने अपने माध्यन्दिन-भाष्य की उपक्रमणिका में लिखा है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवतांश्छान्दसं च यत॥

उनके इस लेख से स्पष्ट है कि वे देवता-निर्णय के लिए अनुक्रमणी या शतपथ पर ही आश्रित न होकर तर्क एवं गुरु-परम्परा का भी आश्रय लेने का संकेत कर रहे हैं। वर्तमान में उपलब्ध शुक्लयजुर्वेद का 'कात्यायन-सर्वानुक्रमसूत्र' ही एक-मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें यजुर्वेदीय मन्त्रों के देवताओं का उल्लेख है तथा जिसका महीधर ने पूर्णरूपेण आश्रय लिया है। उवट के पूर्व लेख से यही ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ या तो उनसे अर्वाचीन है अथवा वे इसे पूर्णतः प्रामाणिक नहीं मानते। अन्यथा वे इसका उल्लेख या आश्रय लेने का संकेत अवश्य करते। निरुक्तकार यास्क ने भी मन्त्रों के देवताओं को निश्चित नहीं माना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"।

इस स्थल की व्याख्या में आचार्य दुर्ग ने लिखा है—

"यदर्थवस्तु कामयमानः ऋषिर्यस्यां देवतायामभिष्टुतायाम् आर्थपत्यम् अर्थपतिभावम् आत्मन इच्छन् अमुष्या देवताया प्रसादेनाहम् अमुष्यार्थस्य पतिर्भविष्यामि इत्येतां बुद्धिं पुरोधाय स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवत एव स मन्त्रो भवति। एतन्मन्त्र देवता-लक्षणम्।" (निरुक्त, दुर्गटीका ७।१)।

कुछ इसी प्रकार का भाव बृहद्देवता में भी प्रकट किया गया है—

अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रं तद्देव एव सः ॥

इससे स्पष्ट है कि मन्त्रों का देवता बहुधा उन मन्त्रों के प्रयोक्ता पर भी निर्भर है जो कि अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए किसी देवता-विशेष का मन में संकल्प कर उसके लिए स्तुति का प्रयोग कर रहा होता है । तब वह संकल्पित देवता ही उस मन्त्र का भी देवता हो जाता है । जिन मन्त्रों में देवता-नामोल्लेखपूर्वक स्तुति-विधान है वहाँ तो प्रायः उस देवता को ही मन्त्र का देवता मान लिया जाता है किन्तु ऐसे स्तुति-प्रधान मन्त्र ऋग्वेद में ही बहुलायत से हैं । यजुर्वेद, जिसमें कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण अनेक मन्त्र शतपथ ब्राह्मण में संकेतित विनियोग के कारण क्रिया-विशेष से ही सम्बद्ध हो गये हैं, में ऐसे मन्त्रों का प्रायः अभाव होने तथा उनकी ब्राह्मणोक्त यज्ञकर्म में सम्बद्धता के कारण देवता-निर्णय में कठिनाई होती है । अनुक्रमणीकार ने तो उनका देवता ब्राह्मणोक्त क्रियाविधान के परिप्रेक्ष्य में मान लिया है किन्तु स्वामी दयानन्द ऐसा नहीं मानते हैं । वे निरुक्त और बृहद्देवता के पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर उनका देवता अपने मन्त्र के अर्थानुसार देते हैं । जैसे 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा०' (माध्य० सं० १।१) इस प्रथम मन्त्र का देवता अनुक्रमणीकार तथा महीधर ने 'शाखा' माना है जब कि शाखा शब्द का मन्त्र में उल्लेख तक नहीं है । स्पष्ट है कि वे इस मन्त्र को शतपथ ब्राह्मण में शाखाच्छेदन रूप क्रिया में विनियुक्त होने के कारण ही इसका देवता भी 'शाखा' मान रहे हैं । किन्तु स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का देवता 'सविता' माना है । उनके अनुसार 'इषे त्वा' से लेकर 'पशून् पाहि' तक सम्पूर्ण मन्त्र में 'सविता' देवता को लक्ष्य करके प्रार्थना या स्तुति की गई है । अतः उनके अनुसार इस मन्त्र का देवता सविता है ।

यहाँ ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द के समान ही आचार्य दुर्ग एवं स्कन्दस्वामी भी इस 'इषे त्वो०' मन्त्र का देवता 'शाखा' (जो सर्वानुक्रमसूत्रकार और उसके अनुयायी महीधर को मान्य है) नहीं मानते हैं । वे इस मन्त्र को अनादिष्ट देवता वाला मानकर इसका देवता 'इन्द्र' या 'महेन्द्र' मानने का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—'यद्दैवतः स यज्ञस्तद्दैवतं प्रधानं हविः—तत्संस्कारपरा 'इषे त्वादयः' तेऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा[1] ।' यही सम्भावना निरुक्त-टीकाकार स्कन्दस्वामी ने भी इस मन्त्र के सम्बन्ध में व्यक्त की है ।

---

१. निरुक्त, दुर्गटीका ७।४ ।

स्वयं बृहद्देवता एवं सर्वानुक्रमणी ग्रन्थों में भी देवतानिर्णय के सन्दर्भ में परस्पर विरोध दृष्टिगत होता है जिसका संकेत यास्क ने भी अपने निरुक्त अध्याय ११ खण्ड ६ में किया है। वहाँ पर 'नवोनवो भवति जायमानः' (ऋक्० १०।८५।१९) की व्याख्या में इसका चन्द्रमापरक अर्थ करते हुए उन्होंने 'आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके' यह लिखकर इस मन्त्र में आदित्य देवता की भी सत्ता स्वीकार की है। बृहद्देवता में इस मन्त्र के प्रथम दो पादों का देवता सूर्य तथा शेष दो पादों का चन्द्रमा कहा है। और्णवाभ आचार्य इसका देवता 'अश्विनौ' मानते हैं जब कि सर्वानुक्रमणी में इसका देवता चन्द्रमा ही है। इसी कारण यास्क ने इन सन्दर्भों में वेदाध्ययन की अपनी परम्परा के महत्त्व के साथ ही तर्क एवं ऊहा की महत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है—

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः । अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः ।
·······पारोवर्यवित्सु तु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।
·······तर्कमृषिम्प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् ।'

—निरुक्त (परिशिष्ट) १३।१८

अर्थभेद से देवता-भेद—स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में जहाँ पर भी सर्वानुक्रमसूत्र से भिन्न देवता रखे उसका कारण उनके मन्त्रार्थ की महीधर के मन्त्रार्थ से भिन्नता ही है। यह देवतापरिवर्तन उनके मन्त्रार्थ को देखते हुए आवश्यक एवं स्वाभाविक था। उनका यह मन्त्रार्थ कितना प्रामाणिक एवं उचित है यह पृथक् विवेच्य विषय है, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि वर्ण्यविषय की भिन्नता से देवताभेद अपरिहार्य है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का निम्न प्रसिद्ध मन्त्र विचारणीय है—

चत्वारिशृंगास्त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥

—ऋग्वेद संहिता, ४।५८।३, माध्य० सं० १७।९१

इस मन्त्र का देवता सर्वानुक्रमणी एवं बृहद्देवता के अनुसार अग्नि तथा सूर्य है।[1] जब कि आचार्य यास्क ने 'महोदेवः' का 'एष महान् देवो यद्यज्ञः' अर्थ करते हुए इसका देवता यज्ञ माना है तथा सम्पूर्ण मन्त्र की संगति भी यज्ञपरक ही

---

१. बृहद्देवता ५।११।

५

लगायी है।[1] यही मन्त्र यजुर्वेद संहिता के १७।९१ में भी है जिसका भाष्य करते हुए आचार्य महीधर ने इसकी संगति यज्ञपुरुषपरक (यास्क के समान यज्ञपरक नहीं) लगाई है तथा इसका देवता यज्ञपुरुष माना है। यजुःसर्वानुक्रमसूत्र में भी इसका देवता यज्ञपुरुष ही है।[2] महाभाष्यकार पतंजलि ने इस मन्त्र की संगति अपने व्याकरणशास्त्र में शब्द-ब्रह्मपरक लगाते हुए 'महान् देवः शब्दः' लिखकर इसका देवता 'शब्द-ब्रह्म' माना है।[3] अतः ये सभी आचार्य सर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता मानते हुए यही द्योतित करते हैं कि अर्थभेद से देवताभेद स्वाभाविक है।

बृहद्देवता या अनुक्रमणीकारों ने अपने समय तक प्राप्त एवं ज्ञात मन्त्रार्थ परम्पराओं का अध्ययन करके मन्त्रों के देवताओं का संकलन अवश्य प्रस्तुत किया है जो कि वेदार्थ में अत्यन्त उपयोगी एवं सहायक हो सकता है किन्तु यदि कोई चिन्तक मनीषी किसी नए रूप में वेदार्थ का दर्शन कर उसे प्रस्तुत करना चाहे तो निश्चय ही उसके लिए सर्वानुक्रमणी द्वारा प्रस्तुत सभी देवता मान्य नहीं हो सकते। स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बात घटित हुई है। उन्होंने परम्परागत मध्यकालीन याज्ञिक प्रक्रिया से भिन्न मन्त्रों का अर्थ नए रूप में लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक अर्थ-प्रक्रिया में प्रस्तुत किया। फलतः सर्वानुक्रमसूत्र-प्रोक्त देवता उनके मन्त्रार्थ में सम्बद्ध नहीं हो पाए जिसके कारण उन्हें अपने मन्त्रभाष्य के अनुरूप मन्त्रों के भिन्न देवता मानने पड़े। निरुक्त टीकाकार आचार्य दुर्ग तो मन्त्रों का न केवल देवताभेद अपितु विनियोग भेद भी मानते हैं तथा प्रतिविनियोग में अर्थभेद से देवताभेद भी स्वभावतः स्वीकार करते हैं।[4]

यहाँ एक बात और भी ज्ञातव्य है कि सर्वानुक्रमणी आदि की सत्ता रहते हुए भी वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका देवता निश्चित करना कठिन है। केवल मन्त्र में विद्यमान किसी देवतावाची पद को देखकर ही मन्त्र-देवता का अनुमान करना ठीक नहीं है। निरुक्तकार यास्क ने इस विषय में 'त्वां हि……इन्द्रं न त्वा……वायुम्पृणन्ति०' प्रभृति (ऋग्वेद ६।४।७) मन्त्र का उदाहरण देते हुए लिखा है कि इन्द्र एवं वायु पद को देखकर इस मन्त्र में इनके भी देवता होने का भ्रम होता है जब कि इस मन्त्र का देवता अग्नि है जिसका मन्त्र में नाम तक नहीं। अतः इस प्रकार जब आदिष्ट देवता वाले मन्त्रों के विषय में विभिन्न विरोध एवं

---

१. निरुक्त १३।७।
२. यजुः सर्वानुक्रमसूत्र अध्याय २ अनु० २८।
३. पतंजलि—महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
४. निरुक्त, दुर्गटीका २।८।

भ्रान्तियाँ देखी जाती हैं तब 'इषे त्वोर्जे०' (माध्य० सं० १।१) प्रभृति अनादिष्ट-देवता वाले मन्त्रों का तो कहना ही क्या। एवं विध मन्त्रों के लिए निरुक्तकार ने यथेच्छ देवता मानने का संकेत करते हुए लिखा है—'तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्राः—अपि वा सा कामदेवता स्यात्।' इसकी व्याख्या में टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है—'कामतो हीच्छातस्तस्मिन् (मन्त्रे) देवता कल्पयितव्येत्यभिप्रायः[1]।'

देवता वास्तव में मन्त्रार्थ या मन्त्र का विषय ही है जिस प्रकार मन्त्रों का अभिप्राय दुरूह है वैसे ही देवताज्ञान भी कठिन है जिसके पास जितनी मेधा या तर्कशक्ति रहेगी तदनुसार ही वह मन्त्रार्थ को स्पष्ट करेगा तथा वैसे ही देवताभेद भी बढ़ता जाएगा। इसीकारण बृहद्देवता में लिखा है—

न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्।
योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ते कृत्स्नशो देवताः⋯⋯॥[2]

ऋग्वेद के भाष्यकार वेंकटमाधव ने भी अपनी देवतानुक्रमणी में लिखा है—

देवता तत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्।
शक्यते तु किमस्माभिर्याथातथ्येन भाषितुम्॥ (पृ० ५५)

क्या देवता विग्रहवती है?—यद्यपि देवता मन्त्र का वर्ण्यविषय ही होता है किन्तु कुछ लोगों की यह मान्यता रही है कि यह संज्ञा औपचारिक या पारिभाषिक ही है। इन लोगों के अनुसार ये जो अग्नि, वायु, आदि महान् असाधारण प्राकृतिक शक्तियाँ हैं इनमें किसी अधिष्ठाता चेतनदेवता का वास है जिसके कारण हम इन अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों को देवता नाम से जानते हैं। सम्भवतः इसी कारण अश्व, शकुनि, मण्डूक, ग्रावा, वृक्ष आदि साधारण पदार्थ तथोक्त देवत्व कोटि में नहीं आते थे जिनके सन्दर्भ में निरुक्तकार यास्क ने भी लिखा है—'अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते। यथाऽश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि[3]।' यदि मन्त्रों में वर्ण्यविषयता के कारण ही देवत्व का निर्धारण होता तो ये पदार्थ 'अदेवता' क्यों कहे जाते?

इसके साथ ही कुछेक की यह भी मान्यता रही है कि ये देवता मनुष्य के समान ही विग्रहवान् अलौकिक प्राणी हैं।[4] इस धारणा का मुख्य आधार यह रहा है कि वेदों में अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनमें इन इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति मनुष्यों के

१. निरुक्त, दुर्ग टीका ७।४।
२. बृहद्देवता ८।१२९-१३०।
३. यास्क—निरुक्त ७।४।
४. वही ७।६।

समान की गई है जिनमें उनके आँख, कान, नाक, हाथ, पैर, घर, पत्नी आदि की चर्चा के साथ ही उनसे खाने, पीने, सुनने आदि की प्रार्थना की गई है जो कि मानवाकार होने पर ही सम्भव है। यह मान्यता मुख्य रूप से याज्ञिक पक्षवालों की ही है क्योंकि अध्यात्म पक्षवालों के अनुसार तो अग्नि, इन्द्र, वायु आदि विभिन्न देवताओं के नामों से केवल मात्र एक परमात्मा ही अभिधेय होता है। इसी प्रकार इस पक्ष में इन्द्र आदि देवताओं से रथ, अश्व आदि वे समस्त पदार्थ जिनकी मन्त्रों में चर्चा है तथा जगत् के अन्य जड पदार्थ जैसे ओषधि, वनस्पति आदि भी उस एक परमात्मा के ही अंगीभूत होने के कारण उसके ही वाचक हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में निरुक्त में भी लिखा है—

> "माहाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्याऽऽत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति·······
> आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माऽश्व आत्मायुधमात्मेषव
> आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य—[१]।"

अतः मन्त्रों के देवता अश्व, रथ, वृक्ष आदि होने पर भी इन सबका वाच्यार्थ अध्यात्म-पक्ष में आत्मपरक ही होता है। फलतः यहाँ हमें विभिन्न देवताओं के नामों और अन्य पदार्थों से भी केवलमात्र उस परमात्मा का ही बोध होता है जो आकृतिविहीन है अथवा जिसकी आकृति यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-सृष्टि ही है। अतः इस अध्यात्मपक्ष में इन देवताओं के पुरुषविध होने की कोई बात नहीं है।

नैरुक्त पक्ष में भी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विद्यमान अग्नि, वायु और आदित्य रूपी तीन देवता ही प्रमुख हैं तथा शेष देवता या अन्य पदार्थ पृथक्-पृथक् नामों से अभिधेय होने पर भी तीनों लोकों के प्रमुख इन तीन देवताओं के ही अवयव या तदङ्ग होने से उनमें ही समाहित हैं। इस पक्ष (जो आधिदैविक पक्ष भी है) में भी तीनों लोकों के प्रमुख इन तीनों देवताओं का आकार स्वतः प्रत्यक्ष है। अतः इनके लिए भी देवताओं में इस प्रकार के किसी मानवीय आकार की कल्पना की आवश्यकता नहीं है।

याज्ञिकों में भी दूसरा वह पक्ष भी है जो कि इन देवताओं को मनुष्यों के समान विग्रहवान् नहीं मानता अर्थात् अग्नि, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि जो देवता जिस रूप में दिखाई दे रहे हैं यही उनका स्वरूप व आकार आदि है, इनसे पृथक् किसी अन्य मनुष्यप्रकारक चेतन प्राणी के रूप में उनको कल्पित करने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक इनके मानवाकार रूप में वेदों में स्तुति प्रार्थना आदि की बात

१. यास्क—निरुक्त ७।४।

है वह तो केवल आलंकारिक वर्णन मात्र है। जिस प्रकार अचेतन प्रस्तर, नदी आदि के लिये भी चेतना वालों के समान स्तुति तथा विभिन्न क्रियाओं का व्यवहार रूपकालंकार में किया जाता है वैसे ही इन अग्नि, वायु, आदि देवताओं के लिए भी समझना चाहिए। इस बात की चर्चा निरुक्त में यास्क ने भी की है।[1]

फिर भी बहुत याज्ञिकों की यह धारणा रही कि ये अग्नि आदि देवता पुरुषविग्रह रूप ही हैं तथा प्रत्यक्ष दृश्यमान अग्नि, पृथिवी आदि का जो अपुरुषविध महान् स्थूल भौतिक रूप है वह उनका कर्म है अर्थात् ये उसी प्रकार कर्मात्म-रूप में है जिस प्रकार यजमान की कर्मात्मा यज्ञ होता है। इसके साथ ही विभिन्न आख्यानों उपाख्यानों में अग्नि आदि देवों का मानवीय वर्णन प्राप्त होने के कारण, भले ही वह अन्य लोगों के अनुसार आलंकारिक ही क्यों न हो, कुछ याज्ञिक लोग इस बात को श्रद्धा व विश्वासपूर्वक मानते ही रहे कि अग्न्यादि तत्वों में तदधिष्ठाता देवता पुरुषविग्रहयुक्त ही होता है।

देवताओं के सन्दर्भ में विद्यमान इन विभिन्न मान्यताओं में तत्त्वतः कोई विशिष्ट भेद नहीं है। जैसा कि निरुक्त में कहा है—'माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते'—वही यथार्थ है। वेदों और वैदिक साहित्य में देवताओं की विभिन्न नामों से विविध प्रकार के माहात्म्य का जो आलंकारिक वर्णन उपलब्ध होता है वही इन विभिन्न मान्यताओं का मूल है। वैसे इन सब की परिणति या लक्ष्य अन्तिम रूप से उस एकमेव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता अतिशय शक्ति-सम्पन्न, सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मतत्व को ही निरूपित करने में है जो अपने विभिन्न कर्मों व शक्तियों के कारण विभिन्न नामों से वेद में कीर्तित किया गया है।

आचार्य महीधर व स्वामी दयानन्द के देवता सम्बन्धी दृष्टिकोण में सूक्ष्म भेद

स्वामी दयानन्द ने स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि के सन्दर्भ में जो वेद मन्त्र हैं उन सबसे जिसकी स्तुति आदि की जाती है उसका एकमात्र देवता निराकार परमात्मा माना है तथा इन मन्त्रों में अग्नि, वायु आदि देवता वाचक शब्दों का अर्थ भी वे उसी एकमात्र प्रजापति चेतन ब्रह्मपरक ही करते हुए उसी की स्तुति या उपासना वेद मन्त्रों में मानते हैं। किन्तु आचार्य महीधर का दृष्टिकोण इनसे भिन्न प्रतीत होता है। उनके अनुसार 'अग्नि' भले ही अग्रणीत्व के कारण ब्रह्म का नाम भी हो किन्तु यह इस भौतिक अग्नि में एक अग्न्यभिमानी देवता का भी द्योतक होता है। इसी कारण जब हम 'अग्नये स्वाहा' कहते हैं तो इस भौतिक अग्नि में विद्यमान

---

१. यास्क—निरुक्त ७।७।

तदभिमानी देवता को ही हवि प्रदान कर रहे होते हैं तथा स्तुति, पूजा, उपासना आदि में भी यही भौतिक अग्नि ही प्रथमतः हमारे लिए पूज्य एवं उपास्य होता है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार 'अग्नि' नाम से परमेश्वर ही उपास्य या पूज्य है। इस भौतिक अग्नि का पूजा या उपासना से कोई सम्बन्ध नहीं[1]। उनके अनुसार अग्नि देवता परक मन्त्रों को पढ़कर हम जो हवि 'अग्नये स्वाहा' आदि वाक्य का उच्चारण करते हुए देते हैं उसका सम्बन्ध स्तुति के रूप में तो चेतन निराकार ब्रह्म से रहता है तथा जो हवि हम इस अचेतन व भौतिक अग्नि को देते हैं उसका प्रयोजन वातावरण को शुद्ध करना होता है। हाँ भौतिक अग्नि को हवि देते समय पढ़े जाने वाले मन्त्र का उद्देश्य एक यह भी होता है कि इस प्रसंग में मन्त्रों के पुनः-पुनः आवृत्त होने के कारण उनके कण्ठस्थ होने से वेदों की रक्षा भी अनायास ही हो जाती है जब कि कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जो यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के प्रतिपादक होने से इन यज्ञों में विनियुक्त होकर उच्चरित होते हैं[2]। अतः उनके अनुसार सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार परमात्मा के अतिरिक्त अग्नि आदि भौतिक पदार्थों में किसी अन्य अभिमानी देवता का अभाव होने से उसकी पूजा की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार वे किसी जड़ या अचेतन वस्तु की पूजा के विरोधी हो जाते हैं किन्तु आचार्य महीधर अग्निरूप तेजस्वी अचेतन वस्तु या वृक्ष की 'शाखा' को भी जब देवता मानते हैं तब उसके अन्तर्गत अग्न्यभिमानी या शाखाभिमानी देवता की सत्ता स्वीकार करते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा भी है—"शाखादीनामचेतनत्वेऽपि तदभिमानिनीनां देवतानां सत्वाद्देवतात्वम्"—इसी प्रकार जब शाखा को सम्बोधित करते हुए मन्त्र पाठ किया जाता है तब 'हे शाखे' इस सम्बोधन का अभिप्राय शाखाभिमानी देवता से ही होता है। इस प्रसंग में प्रथम मन्त्र के उनके भाष्य में लिखा भी है—'यद्यप्यचेतना शाखा तथापि तदभिमानिनीं देवतामुद्दिश्यैवम् (हे शाखे इति सम्बोधनम्) उक्तम्'—अतः उनके अनुसार 'हे अग्ने' इस सम्बोधन का तात्पर्य भी मन्त्रों या यज्ञों में अग्न्यभिमानी देवता को लक्ष्य करके उसकी स्तुति या उससे याचना आदि के सन्दर्भ में आवाहन रूप में विद्यमान है। भले ही उसका अभिप्राय इस भौतिक अग्नि के माध्यम से अन्ततः उस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म से ही क्यों न हो किन्तु माध्यम या साक्षात् स्तुति में सम्बोधन से तो यह आहवनीय, गार्हपत्यादि भौतिक यज्ञिय अग्नि ही लक्षित होती है[3]।

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेद विषय विचार, पृ० ७२ एवं ८८।
२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृ० ४२-४३।
३. द्रष्टव्य—महीधरभाष्य ३।१३, १९, २४ आदि।

किन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार यह भौतिक अग्नि स्तुत्य या उपास्य हो ही नहीं सकती। ऐसे मन्त्रों में 'अग्नि' शब्द से सीधे परमेश्वर का ही ग्रहण होता है। उनके अनुसार मन्त्र में जब 'अग्नि' शब्द से भौतिक अग्नि वाच्य होता है तब उसका तात्पर्य इस अग्नि के उपयोग से विज्ञान, कला-कौशल आदि भौतिक उन्नति को सिद्ध करने का संकेत वेद में निहित होता है। इस प्रकार जब वे स्तुति रूप में अग्नि का देवत्व स्वीकार करते हैं तब उसका वाच्यार्थ परमात्मा मानते हैं तथा जब वेद मन्त्र में 'अग्नि' शब्द का अर्थ भौतिक अग्नि करते हैं तब उसका तात्पर्य इस आग्नेय या तैजस तत्त्व, जो ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदि व्यावहारिक उपयोग में सब पदार्थों में अग्रणी है, का उपयोग कर इससे लाभ उठाने की प्रेरणा या उपदेश की सत्ता मन्त्र में स्वीकार कर रहे होते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार इस भौतिक यज्ञिय अग्नि में सर्वव्यापक परमेश्वर के अतिरिक्त कोई तदभिमानी देवता, जो भौतिक होने के साथ ही उपास्य एवं प्रार्थनीय हो, नहीं है जिसका आवाहन, स्तवन या जिससे याचना आदि की जा सके[1]।

स्वामी दयानन्द प्रदत्त निरुक्त के प्रमाण पर विचार

'अग्नि' शब्द से जो भौतिक अग्नि अभिधेय है उसके स्तवन, पूजन आदि के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने अपना विरोध प्रकट करते हुए इस या एतत्प्रकारक अन्य शब्दों से केवल मात्र एक चेतन परमात्मा ही अभिधेय होकर पूजन, स्तवन आदि का सम्बन्ध उससे ही मानने में अन्य अनेक प्रमाणों के साथ ही निरुक्तकार यास्क का निम्न प्रमाण भी प्रस्तुत किया है—

> **'इममेवाग्निं महान्तमात्मानं विप्रा बहुधा वदन्ति।**
> **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्'—निरुक्त ७।१८।**

निरुक्तकार का यह वाक्य ऋग्वेद के 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु······ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति०' (ऋग्वेद १।१६४।४६) इस प्रसिद्ध मन्त्र के सन्दर्भ में है। यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या निरुक्तकार यास्क को इन्द्र-अग्नि आदि नामों से स्तुति, पूजा, उपासना आदि के सन्दर्भ में इस भौतिक अग्नि आदि पदार्थों का तात्पर्य अभिमत है या नहीं। स्वामी दयानन्द ने इसी प्रसंग में आचार्य सायण एवं महीधर के अर्थों का भी खण्डन करते हुए लिखा है कि—"इन लोगों के भाष्य में अग्नि-इन्द्रादि शब्दों से सर्वत्र भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया गया है जब कि इसका मुख्य अर्थ परमेश्वर है जो कि निरुक्त में प्रदर्शित है तथा इन्द्रादि कभी भी

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रश्नोत्तरविषय, पृ० ३९१-३९३ तथा वेदविषय-विचार, पृ० ७८।

रूप धारण नहीं करते। परमेश्वर 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं०' (यजुः ४०।८) आदि मन्त्रों के अनुसार कायारहित है तथा अग्नि, इन्द्र आदि नाम मुख्य वृत्ति से परमेश्वर के ही वाचक हैं जब कि गौणी वृत्ति से ये भौतिक पदार्थों के वाचक होते हैं[१]।"

मेरे विचार से निरुक्तकार यास्क ने अग्नि शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है—'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अङ्गं यज्ञेषु प्रणीयते०—'प्रभृति वह सब अग्नि मात्र के लिए है चाहे उसका वाच्य परमात्मा हो या भौतिक पदार्थ। 'निरुक्तकार के अनुसार यह भौतिक अग्नि गौण या अप्रधान है तथा मन्त्र में 'अग्नि' शब्द से मुख्यतः परमेश्वर का ही ग्रहण होता है' इस विचार से सहमत हो पाना कठिन है। यास्क ने जो अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई है उसके पूर्व 'अग्निः पृथिवीस्थानः तं प्रथमं व्याख्यास्यामः'—ऐसा लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि वे इस भौतिक अग्नि का ही निर्वचन एवं इसी के अर्थपोषण में मन्त्रार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा भी है—"यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्निपात-मेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजन्ते' (निरुक्त ७।१८)।

अर्थात् सूक्त में जिसकी चर्चा है तथा जिसको हवि प्रदान करते हैं वह यही भौतिक अग्नि है। इस 'अग्नि' या एतत्पर्यायवाची नामों से शेष दो उत्तर अर्थात मध्यस्थानी एवं द्युस्थानी अग्नि भी अप्रधान या आनुषंगिक रूप से स्तुति या हवि प्राप्त करती है। इस सन्दर्भ में निरुक्त टीकाकार दुर्ग ने भी लिखा है—"सोऽय-मेवाऽग्निः पार्थिवः। अग्निमानय अग्निं प्रणय इत्येतमेव हि लोकः प्रति पद्यते न मध्यमं नाप्युत्तमम्.......तस्माच्चाग्नि शब्देन पार्थिवस्य ज्योतिषो मुख्यः सम्बन्धः। गौण इतरयोर्मध्यमोत्तमयोः। यथाग्निशब्देन न तथा मध्यमोत्तमाभ्यां विद्युत्सूर्य-शब्दाभ्यां लोकप्रसिद्धया मुख्यः सम्बन्धः—आदि (दुर्ग टीका ७।१८)।"

स्वामी दयानन्द ने 'भ्रान्ति निवारण' नामक पुस्तक में संकेत किया है कि जब अग्नि से पूजा कर्म अर्थ सम्बद्ध होगा तब वह परमेश्वर का ही वाचक होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने यास्क का निम्न वचन उद्धृत करते हुए लिखा है कि वह अग्नि जो परमेश्वर का वाचक है वह चूल्हे में जलने वाले प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि का वाचक नहीं है—'स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते (निरुक्त ७।१६)।' किन्तु इस उद्धरण से यह सिद्ध नहीं होता है कि पूजा, स्तुति आदि में अग्नि का अर्थ परमेश्वर वाची ही हो। न ही इस वाक्य से यह सिद्ध होता

१. दयानन्द—ऋग्वेदभाष्य १।१।१ (नमूने के अंक में प्रथम सूक्त की व्याख्या)।

है कि जो अग्नि शब्द परमेश्वर-वाचक है वह चूल्हे में जलने वाले भौतिक अग्नि का वाचक नहीं हो सकता। वास्तव में निरुक्त की इस पंक्ति का तात्पर्य इन सबसे कुछ भी नहीं है। वहाँ तो प्रकरण ही दूसरा कुछ है। पृथिवी स्थानी देवता अग्नि के सन्दर्भ में वहाँ आचार्य यास्क ने ऋग्वेद के दो मन्त्र उपस्थित करते हुए उनका अर्थ पृथिवी स्थानी अग्निदेवतापरक किया है। यहाँ अब शंका होती है कि क्या 'अग्नि' शब्द से पृथिवीस्थानी अग्नि ही वाच्य होता है या अन्य दो मध्यस्थानी व द्युस्थानी अग्नियाँ भी इससे वाच्य हो सकती हैं। इसी सन्दर्भ में यास्क ने लिखा है कि—'स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते—'अर्थात कोई यह न सोचे कि 'अग्नि' शब्द से पृथिवीस्थानी अग्नि का ही ग्रहण होता है अपितु ये दोनों मध्यस्थानी एवं द्युस्थानी (विद्युत और सूर्य) अग्नियाँ भी इस 'अग्नि' शब्द से अभिहित होती हैं। अतः स्वामी दयानन्द की पूर्वोक्त धारणा में निरुक्त के प्रस्तुत वाक्य की कोई विशेष संगति ही नहीं है।

इसी प्रकार 'इन्द्रं मित्रं वरुणं....एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' मन्त्र एवं तत्सम्बद्ध जो निरुक्त का स्थल उन्होंने उद्धृत किया है उससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि निरुक्तकार यास्क अग्नि शब्द से मुख्यार्थ वृत्ति में परमेश्वर का ग्रहण कर रहे हैं। यास्क मूलतः निर्वचनकर्त्ता हैं जो वेदार्थ की विभिन्न आध्यात्मिक, याज्ञिक आदि विधाओं में विद्यमान अर्थों को अपने निर्वचन के साथ उद्धृत करते चलते हैं जिनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक या याज्ञिक सभी प्रक्रियाएँ विद्यमान हैं। इनमें वे किसे मुख्यार्थ वृत्ति में मानते हैं तथा किसे गौण रूप में, इसका कोई विवाद नहीं है। यह सन्दर्भ तो इस बात का भी द्योतक हो सकता है कि आध्यात्मिक अर्थ में अग्नि आत्मा का वाचक है जो इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नामों से भी अभिधेय होता है अथवा यह भी संभव है कि इसी भौतिक अग्नि को यास्क इन्द्र; मित्र, वरुण आदि नामों से अभिहित होने में वे प्रमाण प्रस्तुत करते हों, क्योंकि दुर्गाचार्य के इस स्थल की टीका देखने से स्पष्ट है कि यास्क का यही अभिप्राय है कि यह भौतिक अग्नि ही जिसे हम हवि प्रदान करते हैं या जिसकी स्तुति करते हैं इन्द्रमित्रादि अभिधानों से अभिहित होता है। वे लिखते हैं—

> "तत्रैतद् भवति कोऽयमग्निरिति। आत्मेत्यात्मविदः।
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० १।१६४।४६) इति मन्त्रदर्शनात्।
> अविवक्षितस्थानविशेषो निर्ज्ञातैतदभिधानो देवताविशेषो
> लोकवेदप्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः। विवक्षितविशिष्ट-
> स्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्नि-
> रिति नैरुक्तसमयः" (निरुक्त दुर्गटीका ७।१४)।

मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि अग्नि शब्द का परमात्मपरक अर्थ जो स्वामी दयानन्द ने किया है ठीक नहीं है, अपितु इस विषय में स्वामी जी का यह कथन कि 'निरुक्तकार के अनुसार भी अग्नि का मुख्य अर्थ परमेश्वर है तथा स्तुतिकर्म में भौतिक अग्नि निरुक्तकार को अभिप्रेत नहीं, अतएव सायण एवं महीधर का अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि का ग्रहण करना निरुक्तकार के अभिप्राय के विरुद्ध है[1]'—आदि, निरुक्तकार यास्क का ऐसा कोई अभिप्राय हमें उनके लेख से प्रतीत नहीं होता। इस विषय में तो हमें स्वामी दयानन्द का चिन्तन ही निरुक्तकार यास्क की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और क्रान्तिकारी प्रतीत होता है जो कि स्यात् वेदों की मूल भावना के अधिक समीप है।

वास्तव मे निरुक्तकार वैदिक शब्दों का निर्वचन एवं उसके अर्थों के प्रस्तोता है। वे वेदार्थ की विभिन्न प्रक्रियाओं मे किसी प्रक्रियाविशेष के पोषक नहीं हैं। उनका निर्वचन आध्यात्मिक, याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा विभिन्न नैरुक्तों के अनुसार होता है। निश्चय ही अग्नि शब्द का परमात्मा अर्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया में है जो निरुक्तकार को भी मान्य है। किन्तु भौतिक यज्ञिय अग्नि में पूजा के प्रति विरोध का स्वर उनके शास्त्र से ध्वनित नहीं होता जिसके आधार पर आचार्य महीधर के अर्थ का स्वामी जी ने अशुद्ध कहा है। उनके इस विरोध का मुख्य कारण यह है कि वे मूर्तिपूजा के प्रबल विरोधी एवं अमूर्त्त या निराकार ब्रह्म की उपासना के पोषक हैं। यदि भौतिक अग्नि की पूजा, प्रार्थना, उससे याचना एवं उसका आवाहन आदि उन्हें मान्य हो तो यह प्रकारान्तर से मूर्त्त एवं जड़ वस्तु की पूजा और उपासना को सिद्ध करेगा। अतः वे इस भौतिक अग्नि का उस परमब्रह्म की पूजा उपासना में किसी भी प्रकार मध्यस्थ रखने को उत्सुक नहीं हैं। इसी कारण उनके वेदभाष्य में जहां कहीं भी इन्द्र या अग्नि आदि शब्द आये हैं उसका अर्थ उन्होंने परमात्मपरक करते हुए ही उनसे पूजन, स्तवन आदि क्रियाओं को सम्बद्ध माना है अथवा जब उनका अर्थ भौतिक अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि प्राकृतिक वस्तुपरक किया है तब वेदमन्त्र में इनकी व्यावहारिक उपयोगिता का उपदेश दिया गया है, यह माना है।

आध्यात्मिक अर्थ की प्रमुखता—वैसे तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यही प्रतीत होता है कि आचार्य महीधर एवं सायण भी इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नामों की एकान्विति अन्ततः ब्रह्म में ही मानते हैं। आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में ऋग्वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' वाले मन्त्र को उपस्थित करते हुए लिखा है—

१. द्रष्टव्य—ऋग्वेदभाष्य नमूने का अंक, प्रथम मन्त्र का भाष्य।

'यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः। तथा च मन्त्रवर्णः—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः'—(ऋ० १।१६४।४६) तथा—

'वाजसनेयिनश्चामनन्ति' तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा इति। (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।६)
'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।'

इस उपर्युक्त वाक्य से तो स्पष्ट है कि वे भी स्वामी दयानन्द के समान ही प्रत्येक देवतावाची शब्द में अन्ततः कोई विभिन्नता न मानकर उसका तात्पर्य परमेश्वर में ही मानते हैं। हाँ यह बात अवश्य है कि उन्होंने स्वामी दयानन्द के समान अपने भाष्य में इन देवतावाची शब्दों का अर्थ सीधे परमेश्वर ही न करके उसकी विभिन्न शक्तियों, गुणों और कृत्यों के आधार पर उसका जो अग्नि, वायु, सूर्य आदि नामकरण किया गया है, उन्हीं का प्रयोग अपने वेद भाष्य में कर दिया है। यदि वेदमन्त्रों में उन ईश्वरीय शक्तियों को विभिन्न नामों से अभिहित करते हुए उनसे प्रार्थना, याचना, आवाहन आदि की सत्ता है तो मन्त्रभाष्य में उसकी प्रतिध्वनि स्वाभाविक है।

स्वामी दयानन्द आचार्य सायण के पूर्वोक्त—'यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः' इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—'इदमसमञ्जसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात् इन्द्रादिरूपधारणमीश्वरो नैव करोति। स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' (यजुः ४०।८), अज एकपाद् (ऋ० ७।३५।१३) इति मन्त्रार्थविरोधात्[1]।'

स्वामी जी के इस वाक्य से स्पष्ट है कि उनका मुख्य आक्षेप यही है कि परमेश्वर जब अकाय एवं अज है तो फिर कैसे इन्द्र आदि रूप में अवतरित होकर आएगा। किन्तु उन्होंने सायण के इस वाक्य का तात्पर्य अत्यन्त मोटे रूप में लेकर खण्डन किया है। उन्हें यहाँ मूर्त्त वस्तु की पूजा या ईश्वर के अवतार की गन्ध आ रही है। सम्भवतः यहाँ सायण का अभिप्राय इतना स्थूल नहीं रहा है जैसा कि पूर्वोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वे भी इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं की स्तुतियों की परिसमाप्ति एकमात्र परमेश्वर में ही मानते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपना भाष्य मुख्यतः आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक अर्थ-प्रक्रिया में किया है जब कि इन आचार्यों

१. स्वामी दयानन्द—ऋग्वेदभाष्य नमूने का अंक, प्रथममन्त्र तथा ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, भाष्यकरण शंका-समाधानादिविषय, पृ० ३६५।

का अभिप्राय मुख्यतः याज्ञिक अर्थ करने का रहा है। इस याज्ञिक पद्धति में उन्होंने परमेश्वर के विभिन्न नामों को, जो मन्त्र में आए हैं, उसी रूप में रखते हुए उनकी स्तुति, आवाहन आदि में उसका उपयोग किया है। फलस्वरूप पृथक् देवतानामों से दैवी शक्तियों में पार्थक्य का अनुभव होने के साथ ही उस ब्रह्म या परमात्मा की स्तुति, उपासना आदि में इन नामों द्वारा वाच्य भौतिक पदार्थों का साहचर्य भी ध्वनित होने लगता है। इसके साथ ही देवताओं का आलंकारिक रूप में जो मानवीकरण वेदमन्त्रों में पाया जाता है उसका प्रभाव भी इन सायण एवं महीधर आदि आचार्यों के वेदभाष्य में लक्षित होता है। किन्तु इन सबके कारण इनके मन्त्र-भाष्यों से उस ब्रह्म के 'अकाय' या 'अज' आदि विशेषणों पर कोई आक्षेप या उसका अवतार लेना तथा सशरीर प्रकट होना आदि नहीं सिद्ध होता है। अतः इनका अर्थ भी निरुक्त के प्रमाणों से पृथक् या अभिप्रायविरुद्ध नहीं प्रतीत होता, जैसा कि स्वामी जी का आक्षेप है।

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रों में विद्यमान अग्नि आदि देवनामों का अर्थ स्पष्ट ही परमात्मपरक या केवल भौतिकवस्तुपरक करके किसी ऐसी संभावना को बिलकुल ही समाप्त कर दिया है जिससे उनके मन्त्रार्थ में अग्निनामक किसी अलौकिक दिव्यपुरुषविशेष या तदभिमानी देवता की किसी ऐसी सत्ता का बोध हो जो एकमेव सर्वव्यापक निराकार ब्रह्म से पृथक् हो। महीधर या सायण के मन्त्रार्थ में यह बात नहीं हो पायी है। वे याज्ञिक क्रियाविधान में देवताओं के स्तवन, पूजन, आवाहन आदि को कुछ इस प्रकार निरूपित करते हैं कि इनका भौतिक देवत्व ही प्रकट हो पाता है जब कि इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अभिप्राय आवृत ही रह जाता है। स्वामी दयानन्द को इसी आध्यात्मिक अर्थ पर बल देने के लिए इन भाष्यकारों की कुछ कठोर आलोचना करनी पड़ी।

मन्त्रार्थ की याज्ञिक, आधिदैविक आदि विभिन्न प्रक्रियाएँ होने पर भी यह तथ्य है कि इन मन्त्रों का प्रयोजन केवल मात्र याज्ञिक कर्मकाण्डपरक ही न होकर अन्ततः अध्यात्मतत्व को ही द्योतित करना है। इस दृष्टि से वेदमन्त्रों का अन्तिम अर्थ आध्यात्मिक ही है। इसी कारण अग्नि शब्द से स्थूल रूप में चाहे कोई भी भौतिक पदार्थ ध्वनित होता हो, जिसका यज्ञआदि में हम उपयोग करते हों या स्तुति, पूजा, उपासना आदि में जिसका नामोच्चार करते हों, किन्तु हमारा चरम अभिधेय व लक्ष्य वह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही होता है जो सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी एवं अनश्वर है। सम्भवतः इसी कारण स्वामी दयानन्द वेदमन्त्रों में

विद्यमान अग्नि आदि शब्दों से प्रमुख वाच्यार्थ परमात्मा ही मानते हैं। उस अवस्था में इसका भौतिक अग्निवाला अर्थ गौण ही रह जाता है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा प्रदत्त निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

ब्रह्म ह्यग्निः ······ माध्य० शतपथ ब्राह्मण १।५।१।११

आत्मा वा अग्निः ····वही ७।३।१।२

अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ···वही ९।१।२।४२

प्राणोऽग्निः परमात्मा ····मैत्रायणी उपनिषद् ६।९

आत्मा वै देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।—मनु० १२।११९ आदि।

देवताविषय में स्वामी दयानन्द की अवधारणा का निष्कर्ष

स्वामी दयानन्द की देवताविषयक मान्यता अत्यन्त स्पष्ट, अधिक यथार्थ और ग्राह्य है जिसमें काल्पनिकता या अविश्वसनीयता का कोई अवसर ही नहीं है। उन्होंने सभी प्राकृतिक शक्तियों को अचेतन एवं मूर्तिमान् देवता मानते हुए उन्हें उनके गुणों व कार्यों के आधार पर अग्नि, वायु आदि विभिन्न नामों से अभिहित माना है जब कि एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर को वे अमूर्त्तिमान् किन्तु चेतन देवता मानते हैं जो अपने विभिन्न गुणों के कारण अनेक नामों से अभिहित होता है। इसमें अनेकता, पार्थक्य या मूर्त्तिमत्ता का कोई स्थान नहीं है।

इसी प्रकार वे दान द्योतनादि गुणों के कारण माता, पिता आचार्य, अतिथि आदि को भी मूर्त्तिमान् किन्तु चेतन देवता मानते हैं जिसका कि संकेत निरुक्त में भी—"अस्ति ह्याचारबहुलं लोके, देवदेवत्यम् अतिथि देवत्य पितृदेवत्यम्' (निरुक्त ७।४) कहकर किया गया है। इस सन्दर्भ में अपनी भाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द ने आरण्यक का भी निम्न प्रमाण प्रस्तुत किया है—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव' (तै० आ० ७।११)।

इस प्रकार उनके अनुसार अग्नि, वायु, जल आदि भौतिक पदार्थ मूर्त्तिमान् किन्तु जड़ देवता हैं तथा सत्योपदेष्टा विद्वान्, ज्ञान का दान करनेवाले, वेदविद्या से अन्तःकरण को प्रद्योतित करनेवाले ज्ञानी महात्मा, योगी, मूर्त्तिमान् किन्तु चेतन देवता हैं जिनमें देव शब्द के दान् दीपन, द्योतन प्रभृति अर्थ समाहित हैं। इसका संकेत उनके भाष्य में भी उपलब्ध होता है जिसमें उन्होंने 'देवाः' का अर्थ 'सत्यो-

पदेशकाः विद्वांसः (यजुः ११।६०)', 'धार्मिका विद्वांस' (माध्य० सं० ९।४०), 'देदीप्यमानाः योगिनः' (माध्य० सं० ७।१८) सर्वविद्याविदो न्यायाधीशाः (माध्य० सं० ९।१६) आदि किया है। इन अर्थों की पुष्टि ब्राह्मण के निम्न प्रमाणों से भी द्रष्टव्य है—'विद्वांसो हि देवाः' (माध्य० शतपथ ३।७।३।१०) तथा 'ब्राह्मणो वै सर्वा देवता' (तैत्ति० ब्राह्मण १।४।४, १।२।४), आदि।

●

तृतीय अध्याय

मन्त्रों के स्वर तथा छन्द के सम्बन्ध में उभय भाष्यकारों की मान्यताओं का अध्ययन

वेदार्थज्ञान में स्वरज्ञान की उपयोगिता

वेदार्थ के ज्ञान में स्वरज्ञान की उपयोगिता असन्दिग्ध है। यह स्वरशास्त्र व्याकरणशास्त्र का ही अवयवभूत है जो कि वेदांगों में प्रमुख है[1]। ऋग्वेद के भाष्यकार एवं स्वरशास्त्र के असाधारण वेत्ता वेंकटमाधव ने लिखा है कि जिस प्रकार दीपक के आश्रय से मनुष्य अन्धकार में भी अव्याहत गति से चल सकता है उसी प्रकार स्वरज्ञान के कारण मनुष्य को प्रत्येक पद का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति[2] ॥

इन्होंने स्वविरचित द्वादशविध अनुक्रमणियों के उपोद्घात के आरम्भ में पदार्थज्ञान के हेतुओं में स्वर का निर्देश करते हुए लिखा है—'नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते[3]।'

भाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के आरम्भ में व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजनों की व्याख्या करते हुए 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ में उत्पन्न होने वाले संशय के निराकरण के लिए लिखा है—

"यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तो-दात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति[4]।"

अर्थात् वैयाकरण स्वरशास्त्र का ज्ञाता होने से निश्चय कर लेगा कि यदि 'स्थूलपृषती' शब्द में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर है तो शब्द में बहुव्रीहि समास है तथा यदि समास के अन्त में उदात्तत्व है तो तत्पुरुष समास होगा[5]।

इसी प्रकार मीमांसा ९।२।३१ के तृतीय वर्णक (व्याख्या) में भाष्यकार शबरस्वामी ने लिखा है—'अथ श्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति, उच्यते, अर्थाव-

१. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्, महाभाष्य १।१।१।
२. वेंकटमाधव—स्वरानुक्रमणी १।८।
३. वेंकटमाधव—ऋग्वेदानुक्रमणी, परिशिष्ट, पृ० १०५।
४. व्याकरणमहाभाष्य १।१।१।
५. 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'—अष्टाध्यायी ६।२।१।
'समासस्य'—अष्टाध्यायी ६।१।२१७।

बोधनार्थं भविष्यति ।" इससे स्पष्ट है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये स्वरमन्त्रों के अर्थज्ञान में नितान्त सहायक एवं आवश्यक हैं ।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने लौकिक साहित्य में स्वरशास्त्र की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करते हुए वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता को स्पष्टतया स्वीकार करते हुए लिखा है—"स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्[१] ।" अर्थात् स्वर वेद में ही विशेष अर्थ का बोधक होता है ।

वेदार्थज्ञान में स्वर और स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'स्वर-व्यवस्था विषयः' प्रकरण के प्रारम्भ में 'अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतया स्वराणां.....' ऐसा लिखकर स्पष्ट ही स्वरज्ञान की वेदार्थ में उपयोगिता स्वीकार की है । इसी प्रकार अपने 'सौवर' ग्रन्थ की भूमिका एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'पठनपाठनव्यवस्था प्रकरण' में भी उन्होंने अत्यन्त स्पष्टरूप से स्वरों की उपयोगिता के सन्दर्भ में लिखते हुए महाभाष्य के—

> दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोपराघात् ।।

इन प्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत किया है जिसमें शब्दार्थ में स्वर को निर्णायक तत्त्व मानते हुए यह बताया गया है कि किस प्रकार अशुद्ध उच्चारण आद्युदात्त करने के कारण बहुव्रीहि समास वाला अर्थ द्योतित हो गया जब कि उच्चारणकर्त्ता को अभीष्ट था कि वह इस शब्द का अन्तोदात्त उच्चारण करता जिससे तत्पुरुष समास का अर्थ ध्वनित हो । अतः स्वामी दयानन्द के पूर्वोद्धृत लेखों से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि वे वेदार्थज्ञान में स्वरज्ञान की उपयोगिता स्वीकार कर रहे हैं ।

वेदार्थ में स्वर की आवश्यकता एवं महत्ता का सबसे अच्छा उदाहरण है माध्यन्दिन संहिता के प्रथम अध्याय के १८ वें मन्त्र का 'भ्रातृव्यस्य वधाय' यह अंश । यहाँ 'भ्रातृव्यस्य' इस पद में संशय होता है कि इसका अर्थ क्या किया जाय । 'भ्रातृव्य' के दो अर्थ प्रसिद्ध है—एक 'शत्रु' और दूसरा 'भतीजा' । यहाँ 'व्यन्' प्रत्यय के नित होने के कारण पद में आद्युदात्त देखकर ही हम शत्रु अर्थ स्वीकार करते हैं[२], अन्यथा भतीजे के वध में तो अर्थ का अनर्थ हो जाय । शाखा-प्रवचनकारों

---

१. विश्वनाथ— साहित्यदर्पण, परिशिष्ट ३ ।

२. भ्रातुर्व्यच्च, व्यन् सपत्ने—अष्टाध्यायी ४।१।१२३-१२४ ।
ञ्नित्यादिर्नित्यम्—अष्टाध्यायी ६।१।१९७ ।

ने सम्भवतः इसीलिए यहाँ अपने काल में होने वाले स्वरोच्चारण के शैथिल्य का अनुभव और स्वर के अभाव में 'भ्रातृव्य' शब्द के अर्थ में उत्पन्न होने वाले सन्देह को ध्यान में रखकर 'भ्रातृव्यस्य' के स्थान पर 'द्विषतः' यह स्पष्टार्थक पद रख दिया है जिससे किसी प्रकार का सन्देह ही न रहे[1]।

आचार्य महीधर और स्वर

स्वामी दयानन्द के समान आचार्य महीधर का कोई ऐसा वाक्य कहीं उपलब्ध नहीं होता जिससे वेदार्थज्ञान में स्वरज्ञान की उपयोगिता के सन्दर्भ में उनके विचार ज्ञात हो सके। किन्तु उनके वेदभाष्य को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी स्वामी दयानन्द के समान ही स्वर प्रक्रिया के ज्ञान को अत्यन्त ही महत्त्व देते हैं।

उन्होंने इस संहिता के प्रथम मन्त्र के अपने भाष्य में अत्यन्त विशद रूप से प्रत्येक पद की व्याकरण-प्रक्रिया लिखी है। व्याकरण-प्रक्रिया का पर्यवसान स्वर-प्रक्रिया में ही होता है। इस प्रथम मन्त्र के प्रत्येक पद की स्वर-प्रक्रिया जैसी आचार्य महीधर ने दी है वैसी तो स्वामी दयानन्द ने किसी भी मन्त्र की नहीं दी है। उनके इस मन्त्र की स्वरप्रक्रिया के अवलोकन से ही ज्ञात हो जाता है कि वे वेदार्थज्ञान में स्वरज्ञान को कितना आवश्यक मानते हैं।

यद्यपि प्रथम मन्त्र में निदर्शन-स्वरूप सभी पदों की अविकल व्याकरण-स्वर-प्रक्रिया लिखने के बाद आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में अन्यत्र कहीं भी किसी मन्त्र की स्वरप्रक्रिया नहीं दी है पुनरपि मन्त्रों में वे यत्र-तत्र कठिन शब्दों की व्याकरण-प्रक्रिया का संकेत अवश्य कर देते हैं। सभी मन्त्रों की व्याकरण व स्वरप्रक्रिया न देने का कारण उन्होंने वेदभाष्य का अत्यन्त विस्तृत हो जाना लिखा है—'एवमग्रेऽपि पदस्वरप्रक्रियोहनीया विस्तरमयान्नोच्यते[2]।

जहाँ तक वेदभाष्य में स्वरप्रक्रिया का प्रश्न है—स्वामी दयानन्द ने भी किसी भी मन्त्र की स्वरप्रक्रिया अविकल-रूप से नहीं दी है। वे भी किन्हीं विशेष पदों का ही मन्त्रों में व्याकरण एवं स्वरप्रक्रिया का संकेत यत्र-तत्र कर देते हैं। इस दृष्टि से दोनों ही भाष्यकारों का वेदभाष्य प्रायः समान ही है, किन्तु आचार्य महीधर द्वारा अपने भाष्य में दिग्दर्शन-रूप में प्रस्तुत प्रथम मन्त्र की स्वर-व्याकरण-प्रक्रिया का अपना महत्त्व तो है ही। इन दोनों भाष्यकारों के भाष्य में प्रदत्त विभिन्न पदों की स्वरप्रक्रिया की समीक्षा षष्ठ अध्याय में विशेष रूप से प्रस्तुत की गई है।

---

१ 'द्विषतो वधाय'—काण्वसंहिता १।१८।

२. माध्यन्दिन संहिता, महीधरभाष्य १।१।

वेदार्थज्ञान में छन्दोज्ञान की महत्ता

स्वामी दयानन्द वेदार्थज्ञान में छन्दोज्ञान को भी उपयोगी मानते हैं। छन्दः-शास्त्र की गणना स्वयं भी वेदार्थ के उपकारक ग्रन्थों में होने से वेदांगों में ही होती है। प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण ने भी अपने ऋग्वेदभाष्य में उसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए लिखा है—

"अतिगभीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि"। तथा 'एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वम्[१]।'

स्वामी दयानन्द अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में छन्दोज्ञान को वेदार्थज्ञान में उपयोगी मानते हुए लिखते हैं—'मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायी-महाभाष्याध्ययनं ततो निघण्टुनिरुक्तकल्पछन्दोज्योतिषां वेदांगानाम्—[२]' इत्यादि।

आचार्य महीधर की मान्यता

आचार्य महीधर ने अपने वेदभाष्य के प्रारम्भ में—"तच्चाध्ययनं प्रति मन्त्र-मृषिछन्दोदेवताज्ञानपूर्वकं विधेयम् अन्यथा दोषश्रवणात्" ऐसा लिखकर यद्यपि छन्दो-ज्ञान को वेदाध्ययन में आवश्यक माना है किन्तु वेदार्थ में उसकी उपयोगिता के विषय में कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया है। वैदिक ग्रन्थों में यज्ञकर्म में विनियुक्त मन्त्रों में छन्दों का ज्ञान यजन-याजन कर्म में या पारायण आदि करते समय आवश्यक माना गया है तथा उसके ज्ञान के अभाव में दोषसंकीर्तन किया है। इसलिए वैदिक छन्दोज्ञान कर्मकाण्ड में उपयुक्त होकर दोष की अनुत्पत्ति या केवल अदृष्ट को उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में वह केवल अदृष्टार्थ है ऐसी महीधर की मान्यता प्रतीत होती है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कात्यायन के सर्वानुक्रमसूत्र का निम्न उद्धरण प्रस्तुत किया है—

"एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयति तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं भवति—पापीयान् भवति। तस्माद् वेदमन्त्राणामृष्यादिज्ञानमर्थज्ञानं चाऽऽवश्यकम्[३]।"

क्या वेदार्थज्ञान में छन्दोज्ञान अनुपयोगी है?

यद्यपि आचार्य महीधर वेदार्थज्ञान में छन्दोज्ञान की उपयोगिता के विषय में मौन हैं किन्तु कुछ भाष्यकार छन्दोज्ञान को वेदार्थ में अनुपयोगी भी मानते हैं।

---

१. आचार्य सायण—ऋग्वेदभाष्य का उपोद्घात, षडंगप्रकरण।
२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषय, पृ० २६२।
३. आचार्य महीधर के वेदभाष्य का प्रारम्भिक अंश।

प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने अपने ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखा है— 'तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात्ते दर्शयिष्येते । न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्तस्य ।'

उनके इस लेख से स्पष्ट है कि जहाँ वे ऋषि और देवताज्ञान को मन्त्रार्थज्ञान में उपयोगी मानते हैं वहीं छन्दों की वेदार्थ में कोई उपयोगिता नहीं स्वीकार करते हैं। अतः उनके मत में भी मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान केवल अदृष्टार्थ ही प्रतीत होता है ।

आचार्य मध्वविरचित ऋग्वेदभाष्य (तीन अध्याय मात्र) की व्याख्या में जयतीर्थ ने स्कन्दस्वामी के पूर्वोद्धृत लेख का खण्डन करते हुए छन्दों को मन्त्रार्थ में उपयोगी माना है किन्तु यह उपयोगिता किस प्रकार है इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया है ।

स्वामी दयानन्द एवं आचार्य सायण, जिन्होंने छन्दोज्ञान को मन्त्रार्थ में उपयोगी माना है, के वेदभाष्यों से भी यह नहीं प्रतीत होता या ऐसा कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि छन्दोज्ञान को मन्त्रार्थ में किस प्रकार उपयोगी माना जाय ?

मन्त्रार्थ में छन्द की उपयोगिता

यह निश्चित है कि जिस प्रकार अन्य पाँच वेदांग वेदार्थ में उपयोगी हैं, उसी प्रकार उनके साथ परिगणित छन्दःशास्त्र का भी वेदार्थ में उपयोगी होना आवश्यक है अन्यथा इसकी वेदार्थ में साक्षात् उपकारक षडंगों में गणना निरर्थक होती । इस विषय में हम कुछ निम्न प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन्त्रों के छन्दोज्ञान से उनका अर्थ समझने में किस प्रकार सहायता मिलती है ।

महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा दर्शन में ऋक् (= पद्यबद्ध मन्त्र) का लक्षण करते हुए लिखा है—'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था[1]'—अर्थात् मन्त्रों में 'ऋक्' वह है जिनमें अर्थ के अनुरोध से पाद की व्यवस्था होती है । इसी प्रकार ऋग्वेद-भाष्यकार वेंकटमाधव ने भी लिखा है—

पादे पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः[2] ।

अर्थात् मन्त्र के अवान्तर अर्थ प्रायशः प्रत्येक पाद में समाप्त हो जाते हैं । माधव के नाम से मुद्रित आख्यातानुक्रमणी के उपोद्घात में छन्दोऽनुक्रमणी का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. जैमिनि—पूर्वमीमांसा २।१।३५ ।

२. वेंकटमाधव—छन्दोऽनुक्रमणी ८।१४ ।

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः ।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्धया प्रकल्पितः;
छन्दोऽनुक्रमणी तस्मात् ग्राह्या सूक्ष्मेक्षिकापरैः ।।

इसमें स्पष्ट ही सूक्ष्मार्थ चाहने वालों को छन्दोऽनुक्रमणी के आश्रय लेने का संकेत किया है । अतः इन उद्धरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मन्त्रों के अवान्तर अर्थ-निर्णय में छन्द की उपयोगिता आवश्यक है ।

पाणिनि का एक सूत्र है—'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (अष्टा० ८।१।१८)। इस सूत्र के अनुसार जब क्रियापद पाद के आरम्भ में प्रयुक्त होता है तब वह उदात्त स्वरवाला होता है जबकि मध्य एवं अन्त में प्रयुज्यमान क्रियापद अनुदात्त होता है। ऐसी मान्यता है कि वाक्य में जो पद उदात्तवान् होता है उसका अर्थ प्रधान होता है तथा अनुदात्त का गौण[१] । स्वरों का उपयोग तो मन्त्रार्थ में निर्विवाद है । यहाँ इस पाणिनि के सूत्र से स्पष्ट है कि क्रियापद का यह उदात्तत्व छन्दोऽनुरोधजन्य पादव्यवस्था के कारण ही है तथा इस प्रकार निश्चय ही क्रियापद की यह उदात्तता मन्त्र के उस पाद के अर्थ को अपनी उदात्तता के कारण अवश्यमेव प्रभावित करेगी ।

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने अनिर्दिष्टदेवता वाले मन्त्रों में दैवतज्ञान कैसे करना चाहिए इसके विषय में लिखकर देवों के भक्तिसाहचर्य का विधान किया है । तदनुसार अग्नि देवता का गायत्री, इन्द्र का त्रिष्टुप् और आदित्य का जगती छन्द के साथ सम्बन्ध दिखाया है[२] । यास्क के इस भक्ति साहचर्य का यह अभिप्राय है कि यदि किसी मन्त्र का देवता स्पष्ट ज्ञात न हो सके तो इस भक्तिसाहचर्य के अनुसार दैवतज्ञान कर लेना चाहिए । तदनुसार अनिर्दिष्टदेवताक गायत्रीछन्दवाले मन्त्र का अग्नि, त्रिष्टुप् छन्दवाले मन्त्र का इन्द्र तथा जगती छन्दवाले मन्त्र का देवता आदित्य हो जाता है । इस प्रकार दैवतज्ञान से मन्त्रार्थ के ज्ञान में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है क्योंकि मन्त्र का वर्ण्य विषय ही तो देवता है ।[३]

निरुक्तकार यास्क ने जहाँ छन्दोज्ञान को अनिर्दिष्टदेवतावाले मन्त्रों के देवताज्ञान में साधन माना है वहीं आचार्य पिंगल ने सन्दिह्यमानछन्दस्क मन्त्र के छन्दो-

---

१. क—तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्—निरुक्त ४.२५ ।
ख—युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा, पृ० ६३-७३ ।

२. निरुक्त ७।७-१० ।

३. वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे-मन्त्रे प्रयत्नतः ।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ।। बृहद्देवता १।२ ।

निर्णय में देवताज्ञान को साधन मानते हुए लिखा है—'आदितः सन्दिग्धे, देवतादितश्च[1]।' अतः स्पष्ट है कि छन्द और देवता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है तथा दोनों ही आचार्य यास्क एवं पिंगल इसे वेदार्थज्ञान में उपयोगी मानते हैं। इन प्रमाणों से स्वामी दयानन्द की वेदार्थज्ञान में छन्दोज्ञान की उपयोगिता सम्बन्धी मान्यता को निश्चय ही बल मिलता है।

आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त मन्त्रों के छन्दों का आधार

आचार्य महीधर ने अपने वेदभाष्य में सभी मन्त्रों के छन्दों का निर्देश नहीं किया है। उन्होंने केवल उन्हीं मन्त्रों के छन्दों का निर्देश किया है जिनके छन्द यजुःसर्वानुक्रमसूत्र में आचार्य कात्यायन ने लिख दिए हैं। अपने भाष्य के प्रारम्भ में वे लिखते हैं—'तत्र ऋचां नियताक्षरावसानानामावश्यकं छन्दः कात्यायनेनोक्तम्।' उनके इस वाक्य से स्पष्ट है कि यजुर्वेद की इस माध्यन्दिनीय शाखा में विद्यमान ऋचाओं के छन्द जो कात्यायन ने लिखे हैं वे उन्हें मान्य हैं तथा उन्होंने अपने भाष्य में उसे ही उद्धृत किया है जैसे—'पुरा क्रूरस्य०' (माध्य० सं० १।२८) एवं 'वीति होत्रं त्वा०' (माध्य० सं० २।४) आदि। किन्तु इस संहिता में ऋचाएँ तो बहुत ही कम है। बहुतायत से तो ऋङ्मिश्रित यजुष् या केवल यजुष् ही हैं जिनमें पादव्यवस्था का अभाव है। अतः ऐसे यजुषों का छन्दोनाम केवल अक्षर-गणना पर ही आधृत है। इनमें अधिकांश मन्त्रों के छन्द तो कात्यायन ने लिख दिए हैं जिन्हें महीधर ने भी अपने भाष्य में उद्धृत कर दिया है किन्तु जिन अनेक मन्त्रों के छन्दोनाम कात्यायन ने अपने सर्वानुक्रमसूत्र में नहीं दिया है उनके छन्दोनाम महीधर ने भी तदाश्रित होने से ही नहीं दिया है। जैसे प्रथमाध्याय के ३१ मन्त्रों में केवल प्रारम्भिक विनियोगमन्त्र एवं २८ वें मन्त्र का छन्दोनाम तो लिखा है शेष किसी भी मन्त्र के छन्दोनाम का उल्लेख उन्होने नहीं किया है।

यजुःसर्वानुक्रमसूत्र में लिखा है—'यजुषामनियताक्षरावसानत्वादेकेषां छन्दो न विद्यते[2]।' अर्थात् यजुषों में अक्षरसंख्या अनियत होने से कुछ के छन्द तो हैं किन्तु अनेक मन्त्रों में छन्द की कल्पना नहीं की जा सकती। अक्षर गणना के अनुसार सबसे कम एक अक्षरवाला छन्द दैवी गायत्री है तथा सर्वाधिक १०४ अक्षरोंवाला छन्द उत्कृति कहलाता है जो कि दो और अक्षरों के वृद्धिभेद से 'स्वराट् उत्कृति'

---

१. पिंगलाचार्यकृत छन्दःसूत्र ३।६१-६२।

२. यजुःसर्वानुक्रमसूत्र १।१।

नाम से १०६ अक्षरों तक का होता है[१]। अतः जो यजुर्मन्त्र १०६ अक्षरों से अधिक अक्षरवाले हैं उनके छन्दों का उल्लेख यजुःसर्वानुक्रमसूत्र में नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में आचार्य महीधर ने भी छन्दःसम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को निम्नरूप में प्रस्तुत किया है—

> 'यजुषां षडुत्तरशतावसानानामेकाक्षरादीनां पिंगलेन
> 'दैव्येकम्' इत्यादिनोक्तं छन्दो बौद्धव्यम्। तदधिकानां
> तु 'होता यक्षद्वनस्पति०' इत्यादीनां नास्ति छन्दःकल्पना[२]।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य महीधर इस माध्यन्दिन यजुःसंहिता के मन्त्रों के छन्दों के लिए पूर्णरूप से कात्यायनसर्वानुक्रमसूत्र के ही अनुगामी हैं तथा १०६ से अधिक अक्षरों वाले मन्त्रों में वे छन्दःकल्पना नहीं करते। उन्होंने अनेक यजुर्मन्त्रों के छन्दोनाम, जिनके छन्द संभावित हैं, अपने भाष्य में विस्तारमय के कारण नहीं दिया है तथा तत्रात् मन्त्रों का छन्दोज्ञान पिंगलछन्दःसूत्र से ही कर लेने का संकेत करते हुए उन्होंने अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—'यजुषां पिंगलोक्तं छन्दो बौद्धव्यम्, विस्तरमयान्नोच्यते।'

स्वामी दयानन्द द्वारा सर्वानुक्रमसूत्र का अनुसरण नहीं

स्वामी दयानन्द मन्त्रों के छन्दों के सन्दर्भ में आचार्य महीधर के समान यजुःसर्वानुक्रमसूत्र का अनुसरण नहीं करते हैं। वहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ पर उनके द्वारा प्रदत्त छन्दोनामों का सर्वानुक्रमसूत्र या महीधर द्वारा प्रदत्त छन्दोनामों से भिन्नता है। उदाहरण के लिए हम प्रथम मन्त्र को ही लेते हैं। इस मन्त्र का छन्द स्वामी दयानन्द ने 'इषे त्वोर्जे त्वा०' से लेकर 'भागं' पर्यन्त का 'स्वराड्-बृहती' माना है तथा 'प्रजावति' से लेकर 'पशून् पाहि' तक शेष भाग का छन्द 'ब्राह्मी-उष्णिक' माना है। ज्ञातव्य है कि इस मन्त्र में कुल ८० अक्षर हैं। स्वराड्-

---

१. क—दैव्येकम्, चतुःशतमुत्कृतिः, द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ,
—पिंगलछन्दसूत्र २।३, ४।१, ३।६१।

ख—पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपनी पुस्तक 'वैदिक छन्दोमीमांसा' पृ० ८६ (द्वितीय संस्करण) में सबसे बड़ा छन्द 'अभिकृति' माना है तथा उसे १०४ अक्षरों वाला लिखा है जो ठीक नहीं। 'अभिकृति' छन्द १०० अक्षरों का होता है तथा १०४ अक्षरों-वाले छन्द का नाम उत्कृति ही है। इस विषय में द्रष्टव्य-पिंगल छन्दःसूत्र ४।१, ४।३ तथा यजुःसर्वानुक्रमसूत्र ५।१।

२. महीधर भाष्य का प्रारम्भिक अंश।

बृहती में ३८ एवं ब्राह्मी-उष्णिक् में ४२ अक्षर कहे गए हैं[1]। इस प्रकार यह मन्त्र स्वामी दयानन्द के अनुसार दो छन्दों वाला है।

अब इसी मन्त्र का महीधर प्रदत्त छन्द भी विचारणीय है। 'इषे त्वा' से लेकर 'पशून् पाहि' तक जो मन्त्र है उसे एक कण्डिका मानकर आचार्य महीधर ने उसमें पाँच मन्त्र माने हैं। इसमें पहला मन्त्र उन्होंने तीन अक्षरोंवाला, दूसरा भी तीन अक्षरों का, तीसरा चार अक्षरों का, चौथा ६२ अक्षरों का तथा पाँचवां मन्त्र ९ अक्षरों का माना है। ज्ञातव्य है कि सर्वानुक्रमसूत्र में भी इसी प्रकार इस कण्डिका में ५ मन्त्र माने गये हैं किन्तु उसमें एकमात्र केवल प्रथम मन्त्र 'इषे त्वा' का ही छन्द अनुष्टुप् लिखा है। वैसे तो पादबद्ध अनुष्टुप् ३२ अक्षरोंवाला होता है किन्तु केवल अक्षरगणना पर आश्रित यह अनुष्टुप् पिंगल छन्द सूत्र के 'दैव्येकम्' (२।३) इस नियम से तीन अक्षरोंवाला होने के कारण 'दैवी अनुष्टुप्' नाम से अभिहित किया गया है। आचार्य महीधर ने इसी एकमात्र मन्त्र का छन्द लिखकर कण्डिका के शेष चार अन्य मन्त्रों के छन्दों का नाम नहीं लिखा है किन्तु उनके अक्षरों की गणना कर दी है। अक्षर गणनानुसार द्वितीय मन्त्र भी दैवी-अनुष्टुप् है जबकि तृतीय मन्त्र दैवी-बृहती[2] तथा ६२ अक्षरोंवाला चौथा मन्त्र स्वराड्-अतिशक्वरी या विराट्-अष्टि हो सकता है।[3] ९ अक्षरोंवाला पाँचवां मन्त्र आसुरी-जगती या याजुषी-बृहती समझना चाहिए।[4]

मन्त्रों के अक्षरों की संख्या देने पर भी महीधर द्वारा उनका नामोल्लेख न करना यही बताता है कि वे छन्दों का नाम भी उन्हीं मन्त्रों का देते हैं जिनका उल्लेख सर्वानुक्रमसूत्र में किया गया है। इस प्रकार वे छन्दों के नामोल्लेख में पूर्णतया इस माध्यन्दिन संहिता के सर्वानुक्रमसूत्र पर ही आश्रित हैं तथा इस सम्बन्ध में उनका कोई पृथक् चिन्तन नहीं है।

इस प्रथम मन्त्र में छन्दोभेद का कारण—इस संहिता के प्रथम मन्त्र में ही दोनों आचार्यों द्वारा प्रदत्त छन्दोभेद का कारण विचारणीय है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि महीधर ने 'इषे त्वो' से लेकर 'पशून् पाहि' तक के ८० अक्षरों की एक कण्डिका को पाँच मन्त्रों के रूप में विभक्त किया है जब कि स्वामी दयानन्द

---

१. पिंगलछन्दःसूत्र ३।२९, २।१५ तथा यजुःसर्वानुक्रमसूत्र ५।१।

२. पिंगलछन्दःसूत्र २।३।

३. पिंगलछन्दःसूत्र ४।५ एवं सर्वानुक्रमसूत्र ५।१।

४. 'जह्यादासुरी'—पिंगलछन्दःसूत्र २।१३ तथा २।१४।

ने सम्पूर्ण कण्डिका को ही एक मन्त्र के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य महीधर का यह विभाग याज्ञिक प्रक्रिया में पाँच भागों में विभक्त कर इस मन्त्र का विनियोग करने के कारण है जो सर्वानुक्रमसूत्र में भी दृष्टिगोचर होता है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में याज्ञिक अर्थ या विनियोग की कोई अपेक्षा न कर इसका अर्थ ईश्वरप्रार्थनापरक किया है। अतः उनके अनुसार सम्पूर्ण मन्त्र या कण्डिका परस्पर सम्बद्ध होने के कारण एक ही अर्थ में निबद्ध है। अतः उसे पाँच भागों में विभक्त करने की आवश्यकता नहीं है। स्वामी दयानन्द की इस मान्यता पर कोई आक्षेप भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि भले ही याज्ञिक प्रक्रिया में इसे पञ्चधा विभक्त कर विनियोग किया गया हो किन्तु 'इषे त्वा' से लेकर 'पाहि' पर्यन्त को सम्पूर्ण एक मन्त्र के रूप में मानना समीचीन एवं प्रामाणिक है। इस सन्दर्भ में निम्नप्रमाण द्रष्टव्य है—

१—गोपथ ब्राह्मण का 'इषे त्वोर्जेत्वा·······श्रेष्ठतमाय कर्मण' इत्येवमादिं कृत्वा·······' यह पाठ ध्वनित करता है कि यह एक मन्त्र है।[1]

२—महाभारत में लिखा है—

पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः।
यजमानस्य पशून् पाहि····················॥[2]

यहाँ यदि हम 'इषेत्वा' से 'पशून् पाहि' तक सम्पूर्ण को एक मन्त्र मानें तभी यहाँ यजुर्वेद के आदि मन्त्र में पशुहिंसा निवारणसम्बन्धी अर्थ की सत्ता सिद्ध होगी।

३—वायुपुराण में भी लिखा है—

ततः पुनर्द्विमात्रन्तु चिन्तयामास चाऽक्षरम्।
प्रादुर्भूतं च रवतं तच्छेदेन गृह्य सा यजुः॥
इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता पुनः।
ऋग्वेद एकमात्रस्तु द्विमात्रस्तु यजुःस्मृतम्[3]॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि विनियोग के समान ही प्रतिपाद्य-विषय के अर्थभेद से भी मन्त्रों के विभाग में अनेकता सम्भव है तथा यह भिन्न विभाग ही छन्दों के पृथकत्व का कारण बन जाता है।

---

१. गोपथ ब्राह्मण, पूर्वार्चिक १।२९।
२. महाभारत, शान्तिपर्व ३४४।२१ (कुम्भकोण संस्करण)।
३. वायुपुराण, उत्त० अध्याय २६ श्लोक १९, २०।

अब विचारणीय यह है कि स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में ८० अक्षर होने पर ३८ अक्षरों का स्वराट् बृहती तथा ४२ अक्षरों का दूसरा ब्राह्मी-उष्णिक् छन्द क्यों माना, सम्पूर्ण ८० अक्षरों का एकमेव छन्द 'कृति'[1] क्यों नहीं मान लिया जैसा कि उन्होंने इस संहिता के अध्याय ९ मन्त्र ३२ एवं ३३ में ८० अक्षर होने पर उसका छन्द 'कृति' मान लिया है। इस सन्दर्भ में सोचने पर इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने मन्त्र के दो भाग कर दिए हैं। 'इषे त्वा' से लेकर 'भागम्' पर्यन्त मन्त्रभाग को एक अर्थ खण्ड के रूप में प्रस्तुत किया है तथा 'प्रजावतीः' से लेकर 'पशून् पाहि' तक का अंश दूसरे अर्थखण्ड के रूप में ज्ञात होता है। यद्यपि पूरे मन्त्र में एक ही—"ईश्वर से उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए प्रार्थना' विषय है किन्तु यह उपर्युक्त दो अंशों में अभिव्यक्त है। यह बात उनके अन्वय को भी देखने से स्पष्ट होती है। सम्भवतः इसीकारण उन्होने दो मन्त्रांशो में पृथक्-पृथक् अर्थात् ३८ अक्षरोंवाले मन्त्रांश का एक छन्द तथा ४२ अक्षरोंवाले मन्त्रांश का दूसरा छन्द कल्पित किया है।

यद्यपि इस मन्त्र के प्रथम अंश के 'अघ्न्या' और 'इन्द्राय' ये दो पद मन्त्र के द्वितीय अर्थांश से सम्बद्ध है। अतः ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि स्वामी दयानन्द की एक मन्त्र में अनेक छन्दों की कल्पना में यही एकमात्र हेतु है, किन्तु यह भी एक कारण हो सकता है क्योंकि अर्थ करते समय मन्त्र के एकाधिक पदों का पूर्वापर सम्बद्ध होना कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता।

उभय भाष्यकारों की छन्दःकल्पना का विवेचन

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में प्रत्येक मन्त्र का छन्दोनिर्देश किया है। ऐसा कोई भी मन्त्र नहीं है जिसका उन्होंने छन्द न लिखा हो। इसके विपरीत आचार्य महीधर ने केवल उन्हीं मन्त्रों का छंदोनिर्देश अपने भाष्य में किया है जिनका छन्द यजुःसर्वानुक्रमसूत्र में लिखा है। उनके भाष्य में ऐसा कोई भी मन्त्र नहीं मिलता जिसका छंद उन्होंने लिखा हो और वह सर्वानुक्रमसूत्र में संकेतित न किया गया हो। इस प्रकार छन्दः सन्दर्भ में महीधर पूर्णतया सर्वानुक्रमसूत्र पर ही आश्रित हैं। इस सन्दर्भ में हम पहले दिखा चुके हैं कि किस प्रकार प्रथम मन्त्र या कण्डिका में उन्होंने सर्वानुक्रमसूत्र का अन्धानुसरण करते हुए केवल एक मन्त्र का ही छन्दोनाम लिखा तथा अन्यों की अक्षर-गणना तो की किन्तु उनके छन्दों का नामोल्लेख नहीं किया। अब इस सन्दर्भ में एक अन्य मन्त्र पर हम विचार उपस्थित करते हैं।

---

१. प्रकृत्या चोपसर्गवर्जितः—पिंगलछन्दःसूत्र ४।४।

इस माध्यन्दिन संहिता के आठवें अध्याय का ५३वाँ मन्त्र है—'युवं तमिन्द्रापर्वता०' आदि। इस मन्त्र के छन्दः सम्बन्ध में महीधर ने लिखा है—'अत्यष्टिरवसानत्रयोपेता षट्षष्ट्यक्षरत्वाद् द्व्यूना।' अर्थात् इस मन्त्र के तीन विरामों तक का छन्द अत्यष्टि है किन्तु इसमें केवल ६६ अक्षर हैं। अतः दो अक्षर कम है।

ज्ञातव्य है कि अत्यष्टि छन्द में कुल ६८ अक्षर होते हैं[1]। अतः उन्हें यहाँ दो अक्षर कम अर्थात् ६६ अक्षर होने से 'विराट्-अत्यष्टि' छन्द लिखना चाहिए था[2]। किन्तु सर्वानुक्रमसूत्र में चूँकि 'अत्यष्टि' लिखा है। अतः महीधर ने उसका अनुकरण करते हुए अपने भाष्य में भी इसका छन्द 'अत्यष्टि' लिख दिया तथा दो अक्षर कम होने से उसमें दोष परिमार्जनार्थ 'द्व्यूना' यह शब्द लिख दिया।

यजुःसर्वानुक्रमसूत्रकार छन्दोनिर्देश में प्रायः मुख्य छन्दोनाम का ही उल्लेख करते हैं, उसके भेद-उपभेद का नहीं। यहाँ मुख्य छन्द अत्यष्टि है जो ६८ अक्षर का होता है किन्तु दो अक्षर कम होने पर वह 'विराट् अत्यष्टि' इस नामभेद से अभिहित होता है। सर्वानुक्रमसूत्रकार ने यहाँ मुख्य छन्दोनाम 'अत्यष्टि' ही दे दिया है जैसा कि इस संहिता के प्रथम मन्त्र 'इषे त्वा' का छन्दोनाम 'अनुष्टुप्' लिख दिया था। जब कि वास्तव में वह अनुष्टुप के भेद 'दैवी-अनुष्टुप्' छन्द में था। महीधर ने वहाँ प्रथम मन्त्र के भाष्य में जिस प्रकार 'अनुष्टुप्' छन्द न लिखकर उसका वास्तविक विशिष्ट भेदयुक्त नाम 'दैवी-अनुष्टुप्' लिखा है उसी प्रकार उनको यहाँ 'अत्यष्टि' का भेद 'विराट्-अत्यष्टि' लिखना चाहिए था। इस प्रसंग में माध्यन्दिन संहिता के एक अन्य भाष्यकार उवट भी द्रष्टव्य हैं जो सर्वानुक्रमसूत्रकार द्वारा प्रोक्त 'अत्यष्टि' छन्द को स्वीकार करते हुए भी अक्षरगणना पर आधृत 'अष्टि' छन्द का भी नामोल्लेख करते हैं जिसमें दो अक्षर अधिक हैं या जो 'स्वराट्-अष्टि' के नाम से भी अभिहित हो सकता है[3]। इस प्रकार वे मन्त्रों में सर्वानुक्रमसूत्रकार द्वारा प्रदत्त छन्दोनाम से पृथक् भी छन्दोनाम का उल्लेख कर देते हैं।

अब इसी ८।५३ मन्त्र के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत छन्दोनाम पर विचार किया जाता है। स्वामी जी ने इस मन्त्र के चारों अवसानों के (महीधर के समान केवल तीन अवसानों के ही नहीं) चार पृथक्-पृथक् छन्द लिखे हैं जो निम्न हैं—

---

१. पिंगलछन्दःसूत्र ४।७, यजुःसर्वानुक्रमसूत्र ५।१।
२. पिंगलछन्दःसूत्र ४।७ तथा ३।६०, यजुःसर्वानुक्रमसूत्र ५।१।
३. अतिच्छन्दा अष्टिः, अत्यष्टिर्वा-उवटभाष्य ८।५३।

आर्षी-अनुष्टुप् (३२ अक्षरोंवाला), आसुरी-उष्णिक् (१४ अक्षरोंवाला), प्राजापत्या-बृहती (२० अक्षरोंवाला) तथा विराट्प्राजापत्या-पंक्ति (२२ अक्षरों-वाला)[१]।

स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त छन्द आचार्य महीधर या सर्वानु-क्रमसूत्रकार द्वारा प्रदत्त छन्दों से बिलकुल ही भिन्न हैं। वे मन्त्र के छन्दोनिर्धारण के लिए सर्वानुक्रमसूत्रकार के आश्रित या अनुयायी नहीं हैं। सर्वानुक्रमसूत्र में जहाँ 'युव' से लेकर 'विश्वतः' पर्यन्त अर्थात् त्रयवसान तक के ६६ अक्षरों का एकमेव 'अत्यष्टि' छन्द लिखा है वहीं स्वामी दयानन्द तीनों अवसानों का तीन पृथक्-पृथक् छन्द स्वीकार करते हैं तथा तृतीय अवसान से आगे चतुर्थ अवसान तक का भी पृथक् छन्दोनिर्देश कर रहे हैं।

सर्वानुक्रमसूत्रकार ने लिखा है—'यजुषामनियताक्षरत्वादेकेषां छन्दो न विद्यते'[२] अर्थात् यजुषों के अनियताक्षर होने से कई एक के छन्द नहीं होते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य महीधर ने लिखा है—'यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानां....छन्दो बोद्धव्यम्। तदधिकानां तु 'होता यक्षद्वनस्पति०' इत्यादीनां नास्ति छन्दः-कल्पना[३]।'

अर्थात् १०६ अक्षरों के मन्त्रों में तो छन्दः कल्पना की जा सकती है किन्तु इससे अधिक के यजुर्मन्त्रों जैसे 'होता यक्षत् वनस्पति०' (माध्य० सं० २१।४६) आदि में छन्दः कल्पना सम्भव नहीं है। आचार्य महीधर की इस मान्यता का कारण सम्भवतः यही है कि १०६ अक्षरों से अधिक का कोई छन्द नहीं कहा गया है। सबसे बड़ा छन्द 'स्वराड्-उत्कृति' होता है जिसमें १०६ अक्षर होते हैं। 'होता यक्षद् वनस्पति०' मन्त्र में कुल २०२ अक्षर हैं अतः एवंविध मन्त्रों में छन्दः कल्पना महीधर के अनुसार सम्भव नहीं है।

स्वामी दयानन्द द्वारा १०६ से अधिक अक्षर वाले मन्त्रों में भी छन्दः कल्पना का आधार

जैसा कि पहले लिखा गया है कि स्वामी दयानन्द ने इस संहिता के प्रत्येक मन्त्र का छन्दोनिर्देश किया है। अतः इस 'होता यक्षद् वनस्पति०' (माध्य० स० २१।४६) मन्त्र तथा एवंविध अन्य अनेक मन्त्रों में भी जिनमें १०६ से अधिक अक्षर हैं, में छन्दः कल्पना करते हुए वे अपने भाष्य में उनके नामों का उल्लेख करते हैं।

---

१. पिंगलछन्दःसूत्र २।१६, २।१३, २।११, ३।६०।

२. कात्यायन यजुःसर्वानुक्रमसूत्र १।१।

३. पिंगलछन्दःसूत्र ४।१, ३।६०, कात्यायन यजु.सर्वानुक्रमसूत्र ५।१।

प्रकृत 'होता यक्षद्०' मन्त्र का छन्द उन्होंने 'भुरिक्-अभिकृति' माना है। यह छन्द १०१ अक्षरों वाला होता है[1]। अतः इस मन्त्र में उन्होंने दो 'भुरिक्-अभिकृति' माने हैं। इस प्रकार १०६ अक्षर से अधिक अक्षर वाले मन्त्रों में अनेक छन्दों की कल्पना करने के कारण ये मन्त्र अनेक छन्दस्क हो जाते हैं।

स्वामी दयानन्द ने छन्दोनिर्देश में सर्वानुक्रमणियों का अनुसरण न करते हुए सहस्रों वर्षों से याज्ञिक प्रक्रिया एवं तदनुगामी सर्वानुक्रमणियों के काल्पनिक छन्दोनिर्देश के भार से दबे हुए मन्त्रों के छन्दों को नए रूप में जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह अपने आप में एक अपूर्व साहस का कार्य है। जहाँ आचार्य महीधर ब्राह्मण एवं सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट छन्दों की काल्पनिकता को जानते हुए उसके भार से अपने को मुक्त न कर सके वहीं स्वामी दयानन्द ने छन्द की जो वास्तविक परिभाषा है उसको चरितार्थ करते हुए प्रत्येक मन्त्र में छन्दः कल्पना का सफल प्रयत्न किया है। 'छन्द' की परिभाषा है—

'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' (ऋक्सर्वानुक्रमणी २।६)
'छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते' (बृहत् सर्वानुक्रमणी, पृ०१)

अर्थात् मन्त्रों में विद्यमान अक्षरों की इयत्ता का बोध करा देना ही छन्दः-कल्पना का मुख्य उद्देश्य होता है। स्वामी दयानन्द ने इसी कारण १०६ से अधिक अक्षरों वाले मन्त्रों में भी अक्षर गणना के अनुसार छन्दः कल्पना कर उनका नाम निर्देश अपने भाष्य में कर दिया है जिससे उन मन्त्रों के अक्षर परिमाण का बोध हो सके, भले ही उनमें अनेक छन्दों की कल्पना ही क्यों न करनी पड़े। इस प्रकार स्वामी दयानन्द की छन्दो विषयक धारणा प्राचीन एवं प्रमाणाश्रित होते हुए भी अभिनव रूप में चिन्तित एवं यथार्थ के अधिक निकट होने के कारण प्रशंसनीय ही कही जाएगी।

जहाँ तक महीधर का सम्बन्ध है, उन्होंने केवल परम्परा का अनुसरण किया है। उनका वेदार्थ मुख्य रूप से याज्ञिक है फलतः उन्होंने याज्ञिक विनियोग एवं तदाश्रित सर्वानुक्रमसूत्र का पूर्ण अनुसरण करते हुए उसके छन्दों को स्वीकार कर लिया है। परम्परानुयायी होने के कारण सम्भवतः उनको इस विषय में कुछ अधिक सोचने की आवश्यकता भी नहीं थी। स्वामी दयानन्द का वेदार्थ तो इस सबसे भिन्न था। अतः स्वाभाविक था कि वे इस सन्दर्भ में परम्परागत दृष्टिकोण से भिन्न ढंग से विचार करते, जैसा कि उन्होंने किया भी है, तथा अपना दृष्टिकोण कुछ नए रूप में प्रस्तुत करते। उनके इस अभिनव चिन्तन के कारण ही जो मन्त्र सर्वानुक्रम-

---

१. पिंगलछन्दःसूत्रम् ४।१ एवं ३।५६।

सूत्र एवं महीधर के अनुसार एक छन्द वाले थे वे दो या अधिक छन्दों वाले हो गये[1] तथा अकल्पित छन्दों वाले मन्त्रों में भी अक्षरों की इयत्ता का बोध कराने के लिए छन्दों की कल्पना की गई।

छन्दोनिर्देश में अशुद्धियाँ

स्वामी दयानन्द के भाष्य में मन्त्रों में प्रदत्त छन्दोनिर्देश में कहीं-कहीं कुछ अशुद्धियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। जैसे इस संहिता के प्रथम अध्याय के १२ वें मन्त्र का छन्दोनिर्देश करते हुए स्वामी जी ने उसका छन्द स्वराट् (ब्राह्मी) त्रिष्टुप् लिखा है। इस छन्द में ६८ अक्षर होते हैं[2] जब कि मन्त्र में ६९ अक्षर वर्त्तमान हैं। अतः इसका छन्द 'भुरिक्-अत्यष्टि' होना चाहिए[3]। यह भूल सम्भवतः मन्त्र के अक्षर-गणना में अनवधानता के कारण हुई प्रतीत होती है।

दयानन्द भाष्य में छन्दों के स्वरों का निर्देश

आचार्य महीधर सहित वेदों के जितने भी भाष्यकार हैं वे अपने भाष्य में ऋषि, देवता, छन्द का निर्देश तो प्रायः कर देते हैं किन्तु गायत्र्यादि छन्दों के षड्जादि स्वरों[4] का निर्देश किसी ने भी अपने भाष्य में नहीं किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ही एकमात्र ऐसे भाष्यकार हैं जिन्होंने अपने वेद-भाष्य में प्रति-मन्त्र स्वरों का निर्देश किया है। सम्भवतः इसका कारण यही रहा होगा कि वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे जिसके कारण उन्हें सामगान आदि का निश्चय ही कुछ अभ्यास रहा होगा। सामगान में षड्ज आदि स्वरों के ज्ञान की आवश्यकता रहती ही है। अतः मन्त्रगान एवं उसके छन्दों का षडज आदि स्वरों के साथ उनका सम्बन्ध दिखाने के लिए सम्भवतः उन्होंने प्रतिमन्त्र स्वरों का निर्देश करना भी उचित समझा हो।

इस स्वरनिर्देश में स्वामी दयानन्द की एक और विशिष्टता यह भी है कि आचार्य पिंगल[5] ने जहाँ केवल प्रथम सप्तक अर्थात् गायत्री से जगती पर्यन्त के छन्दों

---

१. जैसे—माध्यन्दिन संहिता ५।७, ८।५३ आदि।

२. पिंगलछन्द सूत्र २।१५ तथा ३।६०।

३. वही ४।५ तथा ३।५९, यजुःसर्वानुक्रमसूत्र ५।१।

४. स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः।

—पिंगलछन्दःसूत्र ३।६४।

५. प्राचीन छन्दःशास्त्र के प्रवक्ताओं में से आचार्य पिंगल के अतिरिक्त किसी ने भी स्वरों का उल्लेख नहीं किया है।

के स्वरों का निर्देश किया है वहीं स्वामी दयानन्द ने द्वितीय सप्तक अर्थात् अतिधृति से अति जगती एवं तृतीय सप्तक अर्थात् कृति से उत्कृति पर्यन्त के छन्दों में भी स्वरों की कल्पना एवं उनका निर्देश प्रथम सप्तक के स्वरों के आनुपूर्वी के अनुसार ही कर दिया है। यह बात उनके वेदभाष्य में प्रदत्त मन्त्रों के छन्दों के स्वरों को देखने से स्पष्ट हो जाती है।

●

चतुर्थ अध्याय

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में दोनों भाष्यकार

वेदार्थ की पंचविध या त्रिविध प्रक्रिया

वेदार्थ की प्रक्रिया के सन्दर्भ में सबसे प्राचीन संकेत तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है जिसमें इसके **पाँच** अधिकरणों (= प्रक्रियाओं) का निर्देश करते हुए लिखा है—

"अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकम् अधिज्यौतिषम् अधिविद्यम् अधिप्रजम् अध्यात्मम् ।" (तैत्तिरीयोपनिषद् १।३।१) ।

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य लोग पहले अनेकविध वेदार्थ प्रस्तुत किया करते थे किन्तु बाद में मुख्यतः तीन प्रक्रियाओं में ही वेदार्थ सीमित हो गया— आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक । तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित पूर्वोक्त पंचविध प्रक्रियाओं में से अधिलोक एवं अधिज्योतिष का आधिदैविक प्रक्रिया में, अधिविद्य का आधिभौतिक प्रक्रिया में तथा अधिप्रज एवं अध्यात्म का आध्यात्मिक प्रक्रिया में अन्तर्भाव समझना चाहिए ।

आध्यात्मिक प्रक्रिया—आत्मा शब्द का अर्थ है शरीर[1], जीव और ईश्वर । "आत्मानमधिकृत्य इत्यध्यात्मम् (विभक्त्यर्थे अव्ययीभावसमास)" जो आत्मा के विषय में कहा जाए वह अध्यात्म कहलाता है । इस प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ में शरीर, जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी सभी विज्ञानों का अन्तर्भाव हो जाता है ।

इस आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी उत्तरोत्तर अनेक परिवर्तन हुए पहले अध्यात्मप्रक्रिया से शरीरविज्ञान का फिर आत्मविज्ञान का सम्बन्ध टूटा और अन्त में अध्यात्म का अर्थ केवल आत्मचिन्तन रह गया । इस परिवर्तन का प्रभाव उपनिषदों में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । ईश, कठ आदि उपनिषदों में शरीर, आत्मा और परमात्मा तीनों का वर्णन मिलता है जब कि मुण्डक में आत्मा और परमात्मा दो का ही उल्लेख है और माण्डूक्य में तो अकेले ब्रह्म का ही प्रतिपादन है ।

आधिदैविक और आधिभौतिक प्रक्रिया—प्राग्याज्ञिक काल में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को द्यु एवं पृथिवी इन दो भागों में बाँटकर उन्हें ही तात्स्थ्य उपाधि

---

१. क—द्वावात्मानौ अन्तरात्मा शरीरात्मा च—महाभाष्य १।३।६७ ।
ख—अथर्ववेद १०।२।३२ तथा १०।८।४३ में भी जीव के लिए प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' विशेषण में आत्मा शब्द का अर्थ शरीर ही है ।

से देव और भूत कहा जाता था। तदनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों का वर्णन आधिभौतिक प्रक्रिया का अंग था और पृथिवी से ऊपर के समस्त पदार्थों का वर्णन आधिदैविक प्रक्रिया का अंग। उस समय देव शब्द का अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' इतना ही समझा जाता था। उत्तरकाल में यज्ञों की प्रकल्पना के साथ ही नए दैवतवाद का भी उदय हुआ और देव शब्द के प्राचीन अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' के साथ 'दानाद् वा दीपनाद् वा' अंश और जोड़ दिया गया। तदनुसार अग्नि, जल, वायु, नदी, पर्वत, वनस्पति प्रभृति पदार्थों की गणना भी देवों में की गई क्योंकि ये सभी मनुष्य को कुछ न कुछ लाभ देते हैं तथा वह उनसे उपकृत होता है। अतः प्राग्याज्ञिक काल के आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का बहुलांश नूतन परिबृंहित आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के अन्तर्गत समाहित हो गया और आधिभौतिक प्रक्रिया की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई। किन्तु याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के कारण आधिभौतिक प्रक्रिया के लुप्त होने पर भी वेदार्थ का त्रिविधत्व बना रहा। इसी कारण आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में 'इत्यधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्' लिखकर अनेक मन्त्रों का अर्थ आधिदैविक एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया में प्रस्तुत किया है जैसे—'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्०' (ऋ० १।१६४।२१) तथा 'ऋचो अक्षरे परमे०' (ऋ० १।१६४।३९)[1] आदि; किन्तु 'अथाधिभौतिकम् या इत्याधिभौतिकम्' लिखकर कोई मन्त्रार्थ नहीं दिया है। किसी प्राचीन भाष्यकार ने भी आधिभौतिक अर्थ अपने भाष्य में नहीं प्रस्तुत किया है। वैसे निरुक्तभाष्यकार दुर्ग ने—'मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरध्यात्माधिदैवताधिभूताधियज्ञेऽवस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते[2]'—यह लिखकर आधिभौतिक मन्त्रार्थ प्रक्रिया की भी सत्ता अवश्य स्वीकार की है।

अधियज्ञ या याज्ञिक प्रक्रिया—मन्त्रार्थ की त्रिविध प्रक्रियाओं में सम्प्रति अध्यात्म एवं अधिदैवत के साथ अधियज्ञ की गणना होती है। निरुक्तकार यास्क ने भी—'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा' (निरुक्त १।२०) ऐसा लिखकर वेदवाणी के अधियज्ञ, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन अर्थों को वाणी का पुष्प एवं फलस्थानीय माना है। इसी प्रसंग में टीकाकार आचार्य दुर्ग ने भी लिखा है—'सोऽयमेवमधिदैवतमधियज्ञं चोच्छिद्याऽध्यात्ममेवाऽभिसम्पादयति'—इससे स्पष्ट ही इस त्रिविध प्रक्रिया का संकेत मिलता है जो आचार्य यास्क को अभीष्ट है।

प्राचीनतम वेदभाष्यकार तथा निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी ने भी—"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां

---

१. निरुक्त ३।१२ और १३।११।
२. निरुक्त ४।१९ में दुर्गाचार्य की टीका।

त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्[1]—"ऐसा लिखकर त्रिविध प्रक्रिया में मन्त्रार्थ को आचार्य यास्क द्वारा अभिमत माना है।

गृह्यसूत्र एवं मनुस्मृति के निम्न श्लोकों से भी स्पष्ट हो जाता है कि त्रिविध प्रक्रिया में आधिदैविक और आध्यात्मिक के साथ आधियाज्ञिक प्रक्रिया की ही गणना की जानी चाहिए—

> अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम् ।
> मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते ।।[2]
>
> अधियज्ञं ब्रह्मं जपेदाधिदैविकमेव च ।
> आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ।।[3]

त्रिविध प्रक्रिया से भिन्न मन्त्रार्थ पृथक् नहीं

पूर्वोक्त तीनों प्रक्रियाओं से भिन्न भी मन्त्रार्थ करने की शैली का संकेत निरुक्त में उपलब्ध होता है जिससे यह शंका होती है कि क्या इस त्रिविध प्रक्रिया से भिन्न भी मन्त्रार्थ सम्भव है। जैसे—

१—**आख्यान शैली**—निरुक्त १०।१० की व्याख्या में यास्क ने लिखा है—ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता—अर्थात् तत्त्वद्रष्टा ऋषि कभी-कभी अपने मन्त्रदर्शन को आख्यानात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हैं। तब मन्त्रार्थ को किसी कल्पित आख्यान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाता है। इन आख्यानों का मूल ब्राह्मणग्रन्थ, बृहद्देवता या सर्वानुक्रमणी में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का १२वां 'स जनास इन्द्रः' वाला प्रसिद्ध इन्द्रसूक्त इसी शैली में व्याख्यात है।

२—**ऐतिहासिक शैली**—निरुक्त में यास्क ने कई मन्त्रों की व्याख्या 'इत्यैतिहासिकाः' ऐसा लिखकर ऐतिहासिक शैली के माध्यम से अर्थ करनेवालों का संकेत किया है। जैसे—'तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्राऽसुर इत्यैतिहासिकाः[4]' आदि—इससे प्रतीत होता है कि किन्हीं लोगों को मन्त्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थ करना भी अभिप्रेत था।

---

१. निरुक्त स्कन्द टीका ७।५, भाग ३, पृ० ३६।
२. शांखायन गृह्यसूत्र १।२।१९।
३. मनुस्मृति ६।८३।
४. निरुक्त २।१६।

३—नैरुक्त प्रक्रिया—यह निरुक्तकारों की अभीष्ट प्रणाली है, जिसमें प्रत्येक शब्द का निर्वचन आवश्यक है तथा प्रत्येक शब्द यौगिक हो जाता है। फलतः वृत्र त्वष्टा का पुत्र नहीं प्रत्युत 'वृणोतेर्वर्धतेर्वा' से निष्पन्न होने के कारण मेघ हो सकता है। इसी प्रकार 'विश्वामित्रः सर्वमित्रः' है 'च्यवनः च्यावयिता स्तोमानाम्' है तथा 'प्रियमेघ प्रिया अस्य मेघा' के रूप में व्याख्यात होने से किसी व्यक्तिविशेष का बोध न कराकर इन निरुक्तियों या शब्दार्थों से युक्त किसी भी व्यक्ति या वस्तु का वाचक हो सकता है।[1]

किन्तु मन्त्रार्थ की ये समस्त प्रक्रियाएँ पूर्वोक्त त्रिविध-प्रक्रिया से भिन्न वेदार्थ की किसी प्रक्रिया विशेष के रूप में मान्य नहीं।

निरुक्तकार ने अर्थ निदर्शन में जहाँ याज्ञिक, नैदान, परिव्राजक[2] आदि विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों के मतों का उल्लेख अपने शास्त्र में किया है उसी प्रकार इन सबका भी किसी पदविशेष के अर्थ में उल्लेख कर दिया है। उन्हें वेदार्थ की किसी पूर्ण प्रक्रिया के रूप में मान्यता देने का प्रश्न ही नहीं है। आख्यानपरक प्रक्रिया या ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में कोई मन्त्र या सूक्तविशेष ही प्रस्तुत किया जा सकता है। सभी सूक्तों या मन्त्रों को आख्यान या इतिहास से सम्बद्ध कर अर्थ प्रस्तुत करना असम्भव है। वह मन्त्र या सूक्त जिसमें कोई आख्यान या इतिहास सम्बद्ध है, आधिदैविक आदि प्रक्रिया में ही व्याख्यात किया जाता है। इस प्रकार मन्त्र का मुख्य (प्रतिपाद्य) अर्थ तो आधिदैविक, आध्यात्मिक या याज्ञिक ही रहेगा किन्तु इतिहास या आख्यान उसी अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होगा। उदाहरणतः जैसे आचार्य महीधर का माध्यन्दिन संहिता के १०।३३-३४ मन्त्रों का अर्थ इतिहास-सम्बद्ध होने पर भी याज्ञिक ही माना जाएगा, उससे पृथक् नहीं। इसी प्रकार 'इति नैरुक्ताः' कह कर किये गये निर्वचन पूर्वोक्त त्रिविध प्रक्रिया में ही किसी शब्द विशेष के निर्वचन वैशिष्ट्य के कारण विशेषार्थ को ही ध्वनित करेंगे, सम्पूर्ण मन्त्र का कोई अर्थविशिष्ट नहीं सूचित करते हैं। इस प्रकार निरुक्त में मन्त्रार्थ के सन्दर्भ में प्रदत्त विभिन्न मत इस त्रिविध प्रक्रिया में किसी मन्त्र के पदार्थ में भिन्न बुद्धि रखनेवाले आचार्यों या सम्प्रदायों के नाम के उल्लेख मात्र हैं, वेदार्थ की प्रक्रिया के रूप में उनका कोई पृथक् महत्त्व नहीं होने से ये सब उन त्रिविध प्रक्रियाओं में ही अन्तर्भूत है।

---

१. वही २।१७, २।२४, ४।१९, ३।१७।
२. निरुक्त ५।११, ६।९, २।८।

याज्ञिक प्रक्रिया की कल्पना

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एवं पिण्ड की स्थूल तथा सूक्ष्म रचना क्यों और कैसे हुई ? उस ब्रह्माण्डपुरुष और जीवात्म-पुरुष में परस्पर क्या साम्य है ? इस ब्रह्माण्ड के निर्माण में कैसे और किस प्रकार का योगदान उस विराट् पुरुष से प्राप्त होता है ? आदि सृष्टिप्रक्रिया का जो सूक्ष्म एवं संकेतात्मक वर्णन वेदों में मिलता है उसे तथा इसके साथ ही जो अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्व वेद में वर्णित हैं उनका इस सृष्टि प्रक्रिया में कैसे सामञ्जस्य हुआ तथा उसका प्रभाव क्या होता है ? आदि गूढ़ बातों को सरलतया प्रकट करने के लिए ही ऋषियों द्वारा प्राचीनकाल में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य आदि विभिन्न प्रकार के छोटे और बड़े यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है—'कल्पनात् कल्पः'। इसी कारण इन यज्ञों का व्याख्यान करनेवाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहलाते हैं।

प्रारम्भिक यज्ञों की सादगी व सात्विकता

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई थी वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्विक थे। उनमें बाह्य आडम्बर या दिखावा तथा मांसमदिरा आदि तामसिक पदार्थों का किञ्चिन्मात्र भी समावेश नहीं था। इस सम्बन्ध में शतपथ का निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

'यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति।
न कोष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति।
तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्येतर्हि प्राकृतानि।

—माध्यन्दिन शतपथ० १।१।२।७

अर्थात् गाड़ी से ही हवि का ग्रहण करे। शकट ही यज्ञ है। इसलिए हवि ग्रहण में याजुष मन्त्र शकटसम्बन्धी ही हैं! कोष्ठ (अन्न रखनेवाला कोठा या कुसूल) या भस्त्रा (चमड़े की थैली) सम्बन्धी नहीं हैं। पुराने ऋषि भस्त्रा से हवि ग्रहण करते थे। तब ये याजुष मन्त्र उनके लिए भस्त्रा सम्बन्धी थे। इसलिए ये याजुष मन्त्र सामान्य हैं (अर्थात् कहीं पर भी = भस्त्रा में या गाड़ी में भी इनका विनियोग हो सकता है)।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्त्तन होता रहा है। निरुक्तकार यास्क ने भी 'पूर्वे याज्ञिकाः' (निरुक्त ७।२३) लिखकर पूर्वयाज्ञिकों की क्रियाओं का उल्लेख किया है। इस 'पूर्व' विशेषण से ही स्पष्ट है कि निरुक्त में दिखाई गई याज्ञिक क्रिया यास्क के समय

उस रूप में नहीं होती थी। दूसरे यह कि पहले यज्ञों में बाह्य आडम्बर नहीं था तथा उत्तरोत्तर इन आडम्बरों में वृद्धि होती गयी क्योंकि जिस पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधान आहुतियों के लिए केवल बारह मुठ्ठी जौ या व्रीहि (धान) की आवश्यकता होती है,[1] जिसे पहले लोग कोष्ठ या भस्त्र में ही रखकर लाते थे उसी यज्ञ में इस थोड़े से बारह मुठ्ठी अन्न के लिए अब यज्ञस्थान में गाड़ी भर अन्न लाने का क्यः प्रयोजन है? इसे बाह्य आडम्बर (अपनी सम्पन्नता का दिखावा) ही तो कहा जाएगा।

याज्ञिकप्रक्रिया में परिवर्त्तन तथा नए यज्ञों की कल्पना

जिस विषय में जनसाधारण की रुचि अधिक हो जाती है, व्यवहार कुशल समझे जाने वाले लोग उस जनरुचि का अनुचित लाभ उठाने का अवश्य प्रयत्न करते हैं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जनसाधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये जिससे उनका काम भी बनता जाये। इसी नियम के अनुसार जब जनसाधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी तब लोभ आदि के वशीभूत होकर[2] याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों में रोचकता लाने के लिए उनमें उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि के साथ ही शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध प्रकार के नए-नए यज्ञ, होम आदि की सृष्टि की। इस प्रकार यज्ञों में क्रमशः सात्विकता एवं सादगी की हानि और बाह्य आडम्बर की वृद्धि होने लगी। नए यज्ञों की कल्पना से अन्त में याज्ञिक कल्पना का प्रारम्भिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण आँखों से सर्वथा ओझल होने लगा। फलतः इस काल में कल्पित अधिकांश यज्ञों की क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ कुछ भी सम्बन्ध न रहा। सम्भवतः काम्येष्टियाँ कुछ इसी कोटि की प्रतीत होती हैं।

याज्ञिक प्रक्रिया और वेदार्थ

जब प्रारम्भ में आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् के साम्य के आधार पर यज्ञों की कल्पना की गई तब आध्यात्मिक तथा आधिदैविक जगत् की क्रियाओं तथा पदार्थों का वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों का अभिप्राय समझाने के लिए उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों की तत्त्त क्रियाओं के साथ किया गया। जिस प्रकार नाटक करने वाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन

१. कात्यायन श्रौतसूत्र (दर्शपौर्णमासेष्टि) २।३।२०।

२. तुलनीय—लोभाद् वास आदित्समाना औदुम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः। मीमांसा शाबरभाष्य १।३।४।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवादों को अनुकरण करते हैं जब कि उस संवाद के साथ उन नटों का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। ठीक उसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों का उनके प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। दूसरे शब्दों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का निमित्तमात्र है[1]।

यज्ञों के आरम्भकाल में याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की यही स्थिति थी। इसलिए उस समय याज्ञिक क्रिया कलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ उनके प्रतिनिधिरूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे[2]। किन्तु उत्तरकाल में जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया वाला मुख्य अर्थ गौण बनता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिकप्रक्रिया तक ही सीमित हो गया। अर्थात् 'यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः' का वाद प्रवृत्त हो गया[3] और इसकी चरम परिणति मन्त्रानर्थक्यवाद में हुई[4]।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिए यज्ञों की सृष्टि हुई तब उन समस्त यज्ञों के विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक प्रक्रियाओं के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण-ग्रन्थ एवं श्रौत-सूत्रों में इस प्रकार के अनेक विनियोग उपलब्ध होते हैं। जैसे मैत्रायणी संहिता में लिखा है—'निवेशनः संगमनो वसूनाम्

---

१. द्रष्टव्य—अरविन्द-वेदरहस्य, प्रथम भाग, पृ० ४६-५८।

२. 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूप कमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाऽभिवदति-गोपथ ब्राह्मण २।२।६ तथा कुछ पाठभेद से ऐतरेय ब्राह्मण १।४।—स्वामी दयानन्द ने इसी आधार पर 'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि० (माध्य० सं० १५।५४)' मन्त्र का अग्न्याधान के बाद उसे प्रज्वलित करते समय अग्निहोत्र में विनियोग किया है।

३. 'वेदा हि यज्ञार्थम् अभिप्रवृत्ताः'—वेदांग ज्योतिष के अन्त में।

४. 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते'
—मीमांसासूत्र १।२।१।

इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते[१] ।" अर्थात् अग्निचयन में 'निवेशनः संगमनो' (माध्य० संहिता १२।६६) इस इन्द्र देवता वाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करे। अब यहाँ विचारणीय यह है कि याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र और विशेषण युक्त महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि भी देवता भिन्न-भिन्न हैं[२] तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न देवता होने में तो कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। फिर ऐसी अवस्था में ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में निश्चय ही इन्द्र शब्द का मुख्यार्थ त्याग कर गौणी वृत्ति की कल्पना करनी पड़ेगी[३]। इससे स्पष्ट है कि ऐसे विनियोग 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति[४] इस विनियोग की परिभाषा की दृष्टि से काल्पनिक ही कहे जाएँगे।

इसी प्रकार अनेक काल्पनिक विनियोग श्रौतसूत्रों में भी मिलते हैं जैसे--

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति सं बुभूषन् दधिभक्षम्[५] ।
दधिक्राव्णो अकारिषम् इति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य[६] ।'

अर्थात् 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' (ऋ० ४।३९।६) से दही का भक्षण करे।

आश्चर्यजनक बात यह है कि मन्त्र के 'दधिक्रावा' पदान्तर्गत 'दधि' अवयव का दही वाचक 'दधि' के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मन्त्रगत 'दधिक्रावा' पद

---

१. मैत्रायणी संहिता ३।२।४।
२. क—तुलनीय—तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः—मीमांसा, शाबरभाष्य २।१।१६।

ख—तुलनीय—अथातोऽभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्रायांहोमुचे—निरुक्त ७।१३।
३. 'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथासिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो वर्तते।'—मीमांसा शाबर-भाष्य ३।२।४।
तथा—'बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसम्भवात्। तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः।'—अथर्ववेद सायणभाष्य १।१।१।
४. गोपथ ब्राह्मण २।२।६ एवं ऐतरेय ब्राह्मण १४, १३, १६ आदि।
५. शांखायन श्रौतसूत्र ४।१३।२।
६. आश्वलायन श्रौतसूत्र ६।१३।

अश्व का वाची है[१] । अत एव यास्क ने दधिक्रावा तथा तत्समानार्थक 'दधिक्राः' पद का निर्वचन 'दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा'[२] दिखाया है । तदनुसार 'दधि' शब्द 'कि' या 'किन्' प्रत्ययान्त है[३] । औत्तरकालिक याज्ञिकों ने न केवल 'दधिक्रावा' पद के अपितु सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा करके दही वाचक 'दधि' शब्द के साथ अक्षर-वर्णसादृश्य मात्र के आधार पर इस मन्त्र का दधिप्राशन में विनियोग कर दिया ।

मन्त्रानर्थक्यवाद

याज्ञिक काल में वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र जब यज्ञ बन गए तब कर्मकाण्ड में साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग कहीं निष्प्रयोजन न माने जाये इसलिए वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा[४] । मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मण-ग्रन्थ मुख्य बन गए । ब्राह्मण-ग्रन्थों की मुख्यता यहाँ तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व०' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट्, लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मणग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि अर्थ वाला (विधायक वाक्य) माना गया अर्थात् प्रारम्भ में किसी मन्त्र के किसी पद विशेष की उपेक्षा की गई परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसमें विद्यमान किसी पदमात्र के सादृश्य से विनियोग की कल्पना की गई । 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (ऋ० १।८९।८ तथा माध्यन्दिन संहिता २५।२१) एवं 'वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम्०' (ऋ० ६।७५।३ तथा माध्यन्दिन संहिता २९।४०) आदि मन्त्रों का कर्णवेध संस्कार में किया गया विनियोग ऐसा ही है[५] । मन्त्रों में पठित 'कर्ण' पदमात्र को देखकर इसका विनियोग कर्णवेध में ठीक उसी प्रकार कर दिया गया है जैसा कि 'दधिक्राव्णो अकारिषम्०' मन्त्र का दधिभक्षण में ।

---

१. अश्वनामसु पठितम्, निघण्टु १।१४ ।

२. निरुक्त २।२८ ।

३. अष्टाध्यायी ३।२।१७१ ।

४. क—'आश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदेयाद् अपि सर्वा दाशतयी-रनुब्रूयात्' —आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १४।१।२ ।

ख—'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवे शंसति'—सायणाचार्य—ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में उद्धृत ।

५. कात्यायन गृह्यसूत्र—कर्णवेध संस्कार ।

बाद में तो अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई । जैसे कि 'शन्नो देवीरभिष्टये०' (माध्यन्दिन संहिता ३६।१२) मन्त्र का शनैश्चर की और 'उदबुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि०[1]' (माध्यन्दिन संहिता १५।५४) मन्त्र का बुध की पूजा में[2] । इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे कर्मकाण्डी ने घोषणा कर दी कि मन्त्र अनर्थक है[3] अर्थात् मन्त्रों का यज्ञों में क्रियमाण कर्मों के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है । उनका यज्ञान्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट (धर्मविशेष) उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में (शतपथ को छोड़कर) विनियोग (= इस मन्त्र से यज्ञ का अमुक कर्म करे) का ही उल्लेख प्रायः मिलता है । अतएव ब्राह्मण का लक्षण ही 'विनियोजकं ब्राह्मणम्' ऐसा याज्ञिकों में प्रसिद्ध हो गया ।[4] इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं वे प्रायः आनुषङ्गिक हैं अर्थात्

---

१. क—स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र को अग्निहोत्र में अग्न्याधान के बाद अग्नि को प्रज्वलित करने के सन्दर्भ में विनियुक्त किया है जो अन्वर्थक एवं संगत है । द्रष्टव्य-संस्कारविधि ।

ख—महीधर सहित किसी भी भाष्यकार ने इस मन्त्र का सम्बन्ध 'बुध' आदि ग्रहों के साथ किसी भी प्रकार नहीं निरूपित किया ।

ग—नवग्रह की पूजा में विनियुक्त इन मन्त्रों के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'शन्नो देवी० उद्बुध्यस्वाग्ने०' इत्यादि मन्त्रों में कहीं शनैश्चर, मंगल और बुध आदि ग्रहों के नाम भी नहीं हैं । परन्तु विद्याहीन होने से आजीविका के लोभ से ब्राह्मणों ने जाल रच रखा है । किसी ने विचारा कि ग्रहों का मन्त्र पृथक् निकालना चाहिए, सो मन्त्रों का अर्थ तो नहीं जानता, किन्तु अटकल से उसने युक्ति रची कि शनैश्चर शब्द के आदि में तालव्य शकार है इससे यही शनैश्चर का मन्त्र है—'उदबुध्यस्व' क्रिया से बुध को ले लिया—(सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण, पृ० ३३३ (१८७५ ई०) ।

२. अग्निवेश्य गृह्यसूत्र ५, वैखानस गृह्यसूत्र ४।१३, १४ आदि ।

३. 'अनर्थका हि मन्त्राः'—निरुक्त १।१५ ।

४. भट्टभास्कर - तैत्तिरीय संहिता भाष्य, भाग १, पृ० ३ तथा 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि'—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र परिभाषा प्रकरण १।३४ ।

मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिए ब्राह्मणग्रन्थों की रचना नहीं हुई है। अतः इन ब्राह्मणग्रन्थों से (शतपथ को छोड़कर) वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन—कौत्स आदि याज्ञिकों द्वारा पल्लवित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रतिवाद जैमिनि और यास्क[1] ने बड़े प्रयत्न से किया है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर अथवा तर्कजीवी होने के कारण याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण मे याजुष मन्त्रों का विनियोग दिखलाते हुए माध्यन्दिन संहिता के लगभग १८ अध्यायों के मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी प्रदर्शित किया है।

आचार्य महीधर का भाष्य याज्ञिक है

आचार्य महीधर ने अपना सम्पूर्ण वेदभाष्य याज्ञिक प्रक्रिया में ही प्रस्तुत किया है। उनका सम्पूण मन्त्रार्थ यज्ञ की गहन प्रक्रिया स गुम्फित है जिसको जानने के लिए शतपथ ब्राह्मण में संकेतित एव कात्यायन श्रौतसूत्र में विद्यमान यज्ञों का पूर्ण स्वरूप एवं उनमें क्रियमाण तत्तत क्रियाओं की सांगोपांग जानकारी अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूण है। उन्होंने अपने इस याज्ञिक भाष्य में प्रमाणस्वरूप जो उद्धरण भी प्रस्तुत किए हैं वे केवल इन्हीं दो ग्रन्थों के हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्पूर्ण भाष्य कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रोक्त अविकल यज्ञपद्धति पर ही आश्रित है।

इस संहिता के मन्त्रों का चयन भी जिस क्रम से किया गया है, जैसे दर्शपौर्णमास (प्रथम व द्वितीय अध्याय), अग्न्याधेय (तृतीयाध्याय), अग्निष्टोम (चतुर्थ से अष्टमाध्याय तक) आदि, ठीक उसी क्रम से इन यज्ञों की प्रत्येक क्रिया एवं उसका पूर्ण विधान कात्यायन श्रौतसूत्र में निरूपित है। फलतः आचार्य महीधर ने अपने मन्त्रभाष्य के साथ आवश्यकता पड़ने पर यत्र-तत्र मन्त्र-सम्बद्ध क्रियमाण कर्म एवं उसके कर्तृत्व रूप में सम्बद्ध यजमान व पुरोहितों के साथ ही साधन रूप में प्रयुक्त यज्ञिय पात्रों का किस स्थल विशेष पर कैसे और क्या उपयोग किया जाये, इसका पूर्ण परिचय व विवेचना भी प्रस्तुत किया है जो निश्चित ही श्लाघनीय है। क्योंकि याज्ञिक मन्त्रार्थ में बहुत से ऐसे स्थल होते हैं जहां जब तक मन्त्र-सम्बद्ध क्रिया-विधि का पूर्ण परिचय प्राप्त न हो तब तक मन्त्रार्थ अधूरा और निरुद्देश्य सा प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों पर श्रौतसूत्रों के प्रमाण के साथ यज्ञिय

१. पूर्वमीमांसा १।२।१ तथा निरुक्त १।१६।

विधि की उपस्थापना करते हुए मन्त्रार्थ प्रस्तुत करना आचार्य महीधर की अन्यतम विशेषता है। उदाहरण के लिए इस सन्दर्भ में 'तं प्रत्नथा पूर्वथा०' (माध्य० सं० ७।१२) तथा 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि०' (माध्य० सं० १०।२१) प्रभृति मन्त्रों का भाष्य द्रष्टव्य है।

महीधरभाष्य के प्रथम अध्याय की संक्षिप्त विषयवस्तु

जैसा कि ऊपर लिखा गया कि आचार्य महीधर का मन्त्रार्थ पूर्णरूप से केवल याज्ञिक प्रक्रिया, जो ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर श्रौतसूत्रों में कल्पित व वर्णित है के अनुसार ही किया गया है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम इस संहिता के प्रथम अध्यायस्थ मन्त्रों के उनके भाष्य के आधार पर विषयवस्तु का संकेत करते हैं।

मन्त्र संख्या १—याज्ञिक प्रक्रिया में यह मन्त्र पाँच भागों में विभक्त है जिसका विनियोगानुसार पृथक्-पृथक् अर्थ निम्न प्रकार प्रदर्शित है—

दर्श अथवा पौर्णमास याग में 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' इन दो मन्त्रों को बोलकर शमी अथवा पलाश की शाखा का छेदन किया जाता है। अतः ये दोनों मन्त्र उसी सन्दर्भ में शाखा को सम्बोधित करके उच्चरित होते हैं। 'वायवः स्थ' इस मन्त्र से अध्वर्यु इस याग में वर्त्तमान गाय के छः बछड़ों का उपस्पर्शन करता हुआ गायों को दुहते समय बछड़ों को दूर करने के लिए हाँकते समय बोलता है। 'देवो वः सविता' से लेकर 'स्यात' पर्यन्त मन्त्र उन छः गायों में से किसी एक का शाखा से स्पर्श करते हुए उनको संस्कृत करने के लिए उच्चरित होता है। अतः इस मन्त्र का अर्थ उन गायों से सम्बद्ध है। पुनः 'यजमानस्य पशून् पाहि' यह मन्त्र बोलकर उस शाखा की स्थापना अध्वर्यु आहवनीय अथवा गार्हपत्य अग्नि के पूर्व भाग में करता है। अतः यह प्रार्थना उसी शाखा से की जाती है।

मन्त्र २—शाखा में पवित्र संज्ञक कुशाओं को बाँधते हुए 'वसोः पवित्रमसि' यह बोला जाता है। 'द्यौरसि पृथिव्यसि' उच्चारण करके अध्वर्यु स्थाली का आदान करता है तथा 'मातरिश्वनो'—प्रभृति शेषांश का उच्चारण करते हुए वह आहवनीयाग्नि में उसका अधिश्रयण करता है। अतः यह समस्त मन्त्र स्थाली को सम्बोधित करके ही व्याख्यात है।

मन्त्र ३—'वसो०' से लेकर 'सहस्रधारम' पर्यन्त मन्त्र का उच्चारण करके अध्वर्यु शाखा को स्थाली के ऊपर स्थापित करता है। पुनः 'सुप्वा' पर्यन्त मन्त्र गाय को दुहते समय पढ़ा जाता है। इसके बाद 'काम् अधुक्षः ?' यह मन्त्र अध्वर्युः दोग्धा से प्रश्न रूप में उच्चरित करता है।

मन्त्र ४—'किस गाय को दुहा ?' इस पूर्व प्रश्न के उत्तर में अध्वर्यु 'सा विश्वायुः' प्रभृति मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उनका तीन नामकरण करता है। पुनः दूध के लिए 'इन्द्रस्य त्वा' आदि मन्त्र द्वारा विष्णु से उस हव्यरूप क्षीर की प्रार्थना रक्षा के लिए की गई है। इस प्रकार मन्त्र का व्याख्यान इन्हीं सन्दर्भ में है।

मन्त्र ५—इसमें यजमान द्वारा अग्नि के समक्ष सत्यवचन रूपी व्रत का ग्रहण है।

मन्त्र ६—यह मन्त्र प्रणीतापात्र को गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि के पास स्थापित करते समय बोला जाता है जिसका अर्थ-सन्दर्भ उस यज्ञपात्र को सम्बोधित करके है। 'कर्मणे वां वेषायवाम्' यह शूर्प एवं अग्निहोत्रहवणी को सम्बोधित करके है।

मन्त्र ७—शूर्प एवं अग्निहोत्रहवणी को गार्हपत्य अग्नि में तपाते समय 'प्रत्युष्टं०' आदि मन्त्र बोला जाता है। 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' यह रक्षोविघ्नादि के निवारणार्थ एवं विस्तीर्णता की प्राप्ति का संकेतक है।

मन्त्र ८—शकट की धुरा का स्पर्श करके प्रकृत मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। 'देवानाम्०' प्रभृति शकट को लक्ष्य करके है जो तत्सन्दर्भ में ही व्याख्यात है।

मन्त्र ९—यह मन्त्र भी शकट को लक्षित करके ही व्याख्यात है।

मन्त्र १०—अध्वर्यु अग्नि देवता के लिए चार मुष्टि हव्य प्रकृत मन्त्र को बोलकर अग्निहोत्रहवणी में स्थापित करता है।

मन्त्र ११—शकट में स्थित व्रीहिशेष का अभिमर्शन, प्राग्दर्शन, अध्वर्यु का शकटावतरण एवं हविः स्थापन के विधान सम्बन्धी क्रियापरक व्याख्या इस मन्त्र में है।

मन्त्र १२, १३—पवित्रसंज्ञक दो या तीन कुशाओं का छेदन करके प्रोक्षणी-पात्र के जल में रखना तथा उससे हवि का प्रोक्षण करते हुए शुद्ध करने के सन्दर्भ में ही यह मन्त्र 'आपः' और 'हवि' को लक्षित करके व्याख्यात है।

मन्त्र १४—यज्ञ में विद्यमान कृष्णमृगचर्म को लक्षित करके 'शर्मासि०' प्रभृति एवं उलूखल को लक्षित करके 'अद्रिरसि०' प्रभृति मन्त्र की व्याख्या की गई है।

मन्त्र १५—हवि को उलूखल में रखकर उसे कूटते समय इस मन्त्र का उच्चारण होता है। अतः हवि एवं मुसल को लक्षित करके ही यहां मन्त्रार्थ किया है।

मन्त्र १६—यज्ञिय पात्रों एवं तद्द्वारा सम्पाद्यमान विविध कार्यों के सन्दर्भ में उन्हें सम्बोधित करके मन्त्र की व्याख्या की गई है।

मन्त्र १७—यज्ञिय वस्तुओं को सम्बोधित करके उन्हें विभिन्न क्रियाओं से सम्बद्ध कर इस मन्त्र का व्याख्यान किया है।

मन्त्र १८—विभिन्न कपालों पर अंगारों को रखते हुए उन कपालों को सम्बोधित करके तत्परक मन्त्र की व्याख्या की गयी है।

मन्त्र १९—मृगचर्म, शिला प्रभृति यज्ञिय वस्तुओं को लक्षित करके तत्सन्दर्भ में ही मन्त्र की व्याख्या है।

मन्त्र २०—'धान्यमसि०' यह दृषद् (शिला) को लक्षित करके तथा 'देवान् प्रीणय०' प्रभृति तण्डुलों एवं तज्जन्य हवि को लक्षित करके व्याख्यात है।

मन्त्र २१—पिष्ठ हवि का पात्रों में संवपन के समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है जिसकी व्याख्या भी तत्परक ही है।

मन्त्र २२—पिष्ठ पदार्थ का मिश्रण, आहवनीयाग्नि में अधिश्रयण तथा उसका कपालों पर प्रथन और उसका अग्नि से आच्छादन सम्बन्धी क्रियाओं के सन्दर्भ में यह मन्त्र व्याख्यात है।

मन्त्र २३—पुरोडाश एवं उदक को लक्षित करके यहाँ मन्त्रार्थ किया है।

मन्त्र २४ से २७—ये चार मन्त्र दर्शपौर्णमास की विविध क्रियाओं, जैसे—'स्फ्य' नामक यज्ञपात्र का सतृण ग्रहण, मृत्तिका आदान, मृत्प्रक्षेप, स्फ्य से परिग्रह (रेखाकरण) प्रभृति क्रियाओं में विनियोगानुसार व्याख्यात है।

मन्त्र २८—इस मन्त्र का व्याख्यान ब्राह्मण की यज्ञसम्बन्धी एक कथा तथा याज्ञिक प्रैष सन्दर्भ में किया गया है।

मन्त्र २९—स्रुवा प्रभृति यज्ञपात्रों को तपाकर शुद्ध करने के सन्दर्भ में ही उन्हें लक्षित करके इस मन्त्र का अर्थ किया है।

मन्त्र ३०—यज्ञिय पाश (रस्सी) एवं आज्य को सम्बोधित करके इस मन्त्र का अर्थ है।

मन्त्र ३१—आज्य को सम्बोधित व लक्षित करके इस मन्त्र का अर्थ किया गया है।

इस प्रकार प्रथम अध्याय के मन्त्रों की इस पूर्वोक्त संक्षिप्त विषयवस्तु को देखकर निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि महीधर का भाष्य पूर्णतया याज्ञिक प्रक्रिया में ही है तथा इस याज्ञिक प्रक्रिया की समस्त रूपरेखा एवं विषयवस्तु उन्होंने शतपथ ब्राह्मण एवं कात्यायनश्रौतसूत्र से प्राप्त की है। इन मन्त्रों के विनियोग के साथ प्रदत्त समस्त क्रियाओं का उल्लेख दर्शपौर्णमास याग के सन्दर्भ में कात्यायन-श्रौतसूत्र के द्वितीयाध्याय के १ से ८ कण्डिका तक में वर्णित है, किन्तु प्रारम्भिक चार मन्त्रों से सम्बद्ध क्रिया का वर्णन चतुर्थाध्याय की द्वितीय कण्डिका में उपलब्ध होता है। इसीलिए उन्होंने अपने प्रायः सभी मन्त्रभाष्य में शतपथ या श्रौतसूत्र का का कोई न कोई प्रमाणवाक्य अवश्यमेव उपस्थित किया है।

त्रिविध प्रक्रिया और दयानन्द-भाष्य

जिस प्रकार आचार्य महीधर का वेदभाष्य वेदार्थ की त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और याज्ञिक प्रक्रिया में से एकमात्र याज्ञिक प्रक्रिया की अर्थपद्धति में पूर्णतया उपनिबद्ध है उस प्रकार स्वामी दयानन्द का भाष्य इन प्रमुख तीन प्रक्रियाओं में से किसी एक में पूर्णरूपेण उपनिबद्ध नहीं प्रतीत होता। अतः यहाँ विचारणीय है कि उनका भाष्य किस प्रक्रिया से सम्बद्ध माना जाय।

स्वामी दयानन्द ने वेदों में प्रमुख रूप से चार विषयों का वर्णन मानते हुए लिखा है—'अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति——' आदि[1]। उनके इस सम्पूर्ण सन्दर्भ को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे वेदों में मुख्यतया चार विषय मानते हैं। पहला विज्ञान काण्ड जिसमें उन्होंने दो भेद माना है—एक परमेश्वर का यथावत् ज्ञान तथा दूसरा परमेश्वर द्वारा निर्मित इस ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों एवं उनके गुणों के यथावत् ज्ञान के साथ ही उनके निर्माण के प्रयोजन और उसके उपयोग का ज्ञान प्राप्त करना। इसमें भी जो प्रथम अर्थात् वेद में प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप एवं तद्विषयक ज्ञान है उसे उन्होंने प्रथम अर्थात् मुख्य माना है।

वेद का दूसरा प्रमुख विषय है कर्मकाण्ड अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों का निरूपण जो कि विस्तृत रूप से शतपथ आदि ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में व्याख्यात है।

वेद का तीसरा विषय है ज्ञानकाण्ड अर्थात् ईश्वर, जीव व प्रकृति के स्वरूप एवं उनके परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान जो कि उपनिषद्, सांख्य तथा वेदान्त आदि शास्त्रों में विस्तृतरूप से निरूपित है।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, पृ० ४७।

चौथा है उपासना काण्ड अर्थात् उस परब्रह्म परमेश्वर की उपासना एवं उसकी प्राप्ति के उपायों पर क्रियान्वित होना जो कि पातंजल योगशास्त्र आदि में निरूपित है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने इन चारों विषयों का वर्णन या इनका मूल वेदों में स्वीकार किया है।

यद्यपि स्वामी दयानन्द ने कहीं भी यह तो स्पष्ट नहीं लिखा है कि वे कितने प्रकार का वेदार्थ मानते हैं तथा उनका वेदार्थ त्रिविध प्रक्रिया में से किस प्रक्रिया में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु वेद के पूर्वोक्त चार विषयविभाग से स्पष्ट है कि वे प्रकारान्तर से वेदार्थ की इस त्रिविध प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं क्योंकि उनका यह चतुर्विध विषय-विभाग मन्त्रों का त्रिविधार्थ मानने पर ही सम्भव है। ज्ञान, उपासना एवं विज्ञानकाण्ड वास्तव में आधिदैविक एवं आध्यात्मिक अर्थप्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। यद्यपि सामान्यतया ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद में कर्मकाण्ड, सामवेद में उपासना तथा अथर्ववेद में विज्ञानकाण्ड की क्रमशः अन्विति की जाती है किन्तु प्रत्येक वेद में इन सभी विषयों के मन्त्र विद्यमान हैं जिसका अर्थ स्वामी जी ने तत्परक ही किया है।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि वेदमन्त्रों से सम्बद्ध कर्मकाण्ड का शतपथ ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रादिकों में विस्तारपूर्वक वर्णन दिया हुआ है। अतः यज्ञीय कर्मकाण्डपरक मन्त्रव्याख्यान करना पिष्टपेषण मात्र होने से उसका विस्तृत व्याख्यान इस भाष्य में नहीं किया जाएगा[1]। उनके इस लेख से तो यह निश्चित है कि उनका भाष्य याज्ञिक प्रक्रिया में नहीं ही है। अब रही आध्यात्मिक या आधिदैविक प्रक्रिया का वेदार्थ, तो यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका भाष्य इनमें से किसी एक प्रक्रिया में है। यद्यपि कुछ मन्त्रों की व्याख्या अवश्य ऐसी है जो आध्यात्मिक या आधिदैविक मानी जा सके, जैसे अध्याय २ मन्त्र १३, १४, १५ प्रभृति, किन्तु सम्पूर्ण मन्त्रभाष्य आध्यात्मिक या आधिदैविक किसी एक प्रक्रिया में पूर्णरूपेण निबद्ध नहीं ही है।

दयानन्दभाष्य मिश्रित प्रक्रिया में है

स्वामी दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदविषयविचार' तथा 'प्रतिज्ञाविषय' प्रकरण को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे किसी एक प्रक्रिया में बंधकर अर्थ नहीं करना चाहते हैं, अपितु उनके अनुसार ज्ञान-कर्म-उपासना तथा विज्ञान ये जो चार विषय वेद में प्रतिपादित हैं, यथावसर जिस-जिस मन्त्र में जो-जो विषय विद्यमान रहेगा, प्रकरण एवं शब्दानुसार उसका तत्परक ही अर्थ किया

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय, पृ० ३८२।

जाएगा। इस सन्दर्भ में हम इस संहिता के स्वामी दयानन्द द्वारा व्याख्यात प्रथम अध्याय के मन्त्रों की विषयवस्तु उपस्थित करते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका भाष्य किसी एक प्रक्रिया में न होकर विभिन्न विषयों से सम्बद्ध होने के कारण मिश्रित अर्थशैली में प्रतीत होता है।

मन्त्र संख्या १—इसमें उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमात्मा की प्रार्थना है। अतः यहाँ आध्यात्मिक अर्थ है।

मन्त्र २—इसमें यज्ञ की महत्ता वर्णित होने से याज्ञिक अर्थ है।

मन्त्र ३—यह अर्थ भी आधियाज्ञिक है।

मन्त्र ४—इसमें वाक्-सम्बन्धी तीन प्रश्न एवं उनके उत्तर के साथ ही परमेश्वर से यज्ञ की रक्षा की प्रार्थना है। यह अर्थ तीनों ही प्रक्रियाओं में संगत है।

मन्त्र ५—यह भी पूर्ववत् है।

मन्त्र ६—इसमें सत्याचरण का विधान एवं असत्याचरण के त्याग का उपदेश है। यहाँ व्यावहारिक अर्थ है।

मन्त्र ७—यह भी व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया में है।

मन्त्र ८—यहाँ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दोनों ही अर्थ हैं जिनमें क्रमशः भौतिक अग्नि एवं ईश्वर विषय है।

मन्त्र ९—यहाँ आधिदैविक अर्थ है। साथ ही भौतिक अग्नि से सम्बद्ध होमकृत्य का प्रतिपादन होने से याज्ञिक अर्थ भी प्रतीत होता है।

मन्त्र १०—यहाँ तीनों ही प्रक्रियाओं में मिश्रित अर्थ प्रतीत होता है।

मन्त्र ११—इसमें यज्ञशाला के निर्माण आदि का वर्णन होने से याज्ञिक तथा साथ ही आधिदैविक अर्थ भी ध्वनित होता है।

मन्त्र १२, १३—यहाँ मुख्यतः आधिदैविक अर्थ है किन्तु याज्ञिक अर्थ का भी संकेत है।

मन्त्र १४ से १६—यज्ञविषयक प्रतिपादन होने से ये मन्त्र याज्ञिक अर्थवाले हैं। इनमें व्यावहारिक अर्थों का भी संकेत है।

मन्त्र १७, १८—ये आधिदैविक तथा व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया में है। अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ का भी संकेत है।

मन्त्र १९, २०—इनके अर्थ यज्ञविषयक होने से याज्ञिक हैं।

मन्त्र २१—यहाँ त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ का संकेत है।

मन्त्र २२ से २७—इन मन्त्रों में यज्ञसम्बन्धी अर्थ की ही प्रधानता है। किन्तु यहाँ 'यज्ञ' शब्द पारिभाषिक यज्ञ का वाची न होकर विस्तृत अर्थ का द्योतक है।

मन्त्र २८—दोषों के निवारण एवं मनुष्यों के कर्त्तव्य का उपदेश होने से यहाँ मन्त्रार्थ व्यावहारिक है।

मन्त्र २९ से ३१—इनके अर्थ मुख्यतः याज्ञिक है किन्तु अन्वय के द्वैविध्य से आध्यात्मिक अर्थ भी निरूपित है।

दयानन्द के आध्यात्मिक अर्थ में भी वैविध्य

त्रिविधार्थ प्रक्रिया में जिस प्रकार मन्त्रों की अनेकार्थता निश्चित है उसी प्रकार उसके अवयवभूत आधिदैविक प्रक्रिया में भी मन्त्रार्थ की विविधता दृष्टिगत होती है। उदाहरणतः इसी प्रथम अध्याय के ८ वें मन्त्र के दयानन्द-भाष्य में आधिदैविक अर्थ की द्विविधता स्पष्ट लक्षित होती है। इसका कारण यह है कि स्वामी दयानन्द ने 'देव' शब्द से दो प्रकार के देवों का ग्रहण किया है। एक तो चेतन तथा दूसरा अचेतन। प्रकृत ८वां मन्त्र अग्निदेवताविषयक है। अतः स्वामी दयानन्द के अनुसार एक मन्त्रार्थ भौतिक अचेतन अग्निपरक है जब कि दूसरा परब्रह्म-परमेश्वर रूप चेतन अग्निपरक होने से आध्यात्मिक हो गया है। इस प्रकार आधिदैविक-मन्त्रार्थ-प्रक्रिया में भी स्वामी दयानन्द की देवताविषयक मान्यता में भेद के कारण मन्त्रार्थ द्विविध हो गया है। महीधर-भाष्य में यह बात नहीं है। वहाँ तो यज्ञिय अग्नि में ही अग्न्यभिमानी देवता की कल्पना होने से मन्त्रार्थ की परिसमाप्ति उसी में होती है।

देवताभेद के कारण मन्त्रों में यह अनेकार्थकता कोई नवीन बात नहीं है। ऋग्वेद के 'चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादाः०' (ऋ० ४।५८।३) आदि प्रसिद्ध मन्त्र का अर्थ करते समय वैयाकरण शब्द-ब्रह्म को ही देव मानते हैं जब कि निरुक्तकार ने इसका देवता यज्ञ माना है। महीधर ने भी इस मन्त्र का व्याख्यान यज्ञपुरुषपरक पृथक् रूप में ही किया है। इस प्रकार मन्त्रों के देवता स्वरूप का निश्चित निर्धारण न हो पाने के कारण आधिदैविक मन्त्रार्थ में भी अनेकता हो सकती है। पुनरपि ये सभी मन्त्रार्थ अन्ततः आधिदैविक ही कहे जाएँगे। इस सन्दर्भ में आचार्य सायण का निम्न वाक्य भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने देवों की विभिन्नता के कारण मन्त्रों की अनेकविध आधिदैविक व्याख्या मानी है, किन्तु अपने भाष्य में याज्ञिक अर्थ की प्रधानता के कारण उन सबका समावेश अधियज्ञ में कर दिया है—

"यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधाऽयं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्ताद्युक्तरीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते ।"
— ऋग्वेद, सायणभाष्य ४।५८।३)

दयानन्दभाष्य में याज्ञिक अर्थ नहीं है

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के प्रथम अध्याय की विषयसूची में मन्त्र २ एवं ३ या अन्य भी जिन्हें हमने याज्ञिक अर्थ की कोटि में रखा है, उन्हें पूर्णरूपेण याज्ञिक प्रक्रिया वाले अर्थों में कहना उपयुक्त नहीं होगा। इन मन्त्रों के अर्थों में यज्ञ की उपयोगिता एवं उसकी प्रशंसा आदि होने से यज्ञ-सम्बन्धी वर्णन के कारण भले ही हम मन्त्रार्थ को याज्ञिक प्रक्रिया में कह दें किन्तु याज्ञिक शब्द से जब हम यह परम्परागत अर्थ ध्वनित करें कि यज्ञ में विनियुक्त इन मन्त्रों का कर्मकाण्डपरक वह अर्थ जो कात्यायनश्रौतसूत्र तथा शतपथ ब्राह्मण पर आधृत है (जैसा कि महीधर ने किया है), तो उस अवस्था में स्वामी दयानन्द का तथोक्त अर्थ याज्ञिक नहीं माना जाएगा। उदाहरणतः प्रथम अध्याय के निम्न द्वितीय मन्त्र—

"वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥"

को यदि ब्राह्मण एवं श्रौतसूत्र में प्रदत्त याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग-सन्दर्भ में देखें तो स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त इस मन्त्र के अर्थ का यज्ञप्रक्रिया के साथ कोई सामञ्जस्य ही नहीं है। याज्ञिक विनियोग में 'वसोः पवित्रम्' से 'ह्वार्षीत्' पर्यन्त पूरे मन्त्र को तीन मन्त्र मानना पड़ता है तथा इसमें पहला अर्थात् 'वसोः पवित्रमसि' यह अंश दर्श व पौर्णमास इष्टि में कुशाओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार 'द्यौरसि पृथिव्यसि' यह अंश स्थाली का आदान करते समय उसको ही सम्बोधित करके उच्चरित होता है। जब कि 'मातरिश्वनो०' प्रभृति शेष सम्पूर्ण मन्त्र गार्हपत्य अग्नि में उस स्थाली के अधिश्रयण के समय उसे सम्बोधित करते हुए कहा जाता है[1]। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त इस मन्त्र के अर्थ को पढ़ने से स्पष्ट है कि इन विविध याज्ञिक प्रक्रियाओं से उनके मन्त्रार्थ का कोई तादात्म्य नहीं है। अतः इस मन्त्रार्थ को तथोक्त परम्परागत-प्रक्रिया-सन्दर्भ में याज्ञिक मानना असम्भव है। यही स्थिति इस अध्याय के मन्त्र संख्या ११, १६, २० प्रभृति तथा अन्य अध्यायस्थ मन्त्रों की भी है।

व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया : दयानन्द भाष्य में एक नया प्रयोग

पूर्वोक्त निष्कर्षों से यह सिद्ध हो जाने पर कि स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य वेदार्थ की परम्परागत त्रिविध प्रक्रिया में से किसी एक प्रक्रिया विशेष से सम्बन्ध

१. द्रष्टव्य—कात्यायनश्रौतसूत्र ४।२।१५-२०।

नहीं है, प्रश्न उठता है कि इस वेदभाष्य की शैली को किस रूप में स्वीकार किया जाय। इस सन्दर्भ में स्वामी जी की ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका से यह पता चलता है कि उन्होंने वास्तव में वेद का अर्थ करने में किसी प्रक्रियाविशेष का आश्रय न लेकर प्रत्येक मन्त्र का लोकव्यवहार तथा परमार्थ में क्या उपयोग हो यह सोचकर एक सामान्य लोकोपकारी एवं लोकोपयोगी अर्थपद्धति को अपनाया है जिससे सामान्य जन की ऐसी धारणा न हो कि वेद केवल यज्ञिय कर्मकाण्ड में ही उपादेय होने से अन्यत्र अनुपयोगी हैं अथवा वे केवल इन्द्र आदि देवों की स्तुति प्रार्थना आदि में ही निबद्ध होकर आधिदैविक या आध्यात्मिक रूप में तो समृद्ध हैं किन्तु उनका सामान्य लोक या व्यावहारिक, सामाजिक जीवन से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वेदभाष्य की इस शैली को उन्होंने 'व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया' के नाम से संकेतित किया है। इस सन्दर्भ में उनका निम्न वाक्य द्रष्टव्य है—

"अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति[1]।"

इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने वेदभाष्य में श्लेष आदि अलंकारों का आश्रय लेकर मन्त्रों का व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दोनों अर्थ दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके सम्पूर्ण भाष्य के अवलोकन से यही प्रतीत होता है कि वेद में मनुष्यों के कर्त्तव्य, जैसे—विद्वान् ब्राह्मण पुरुषों द्वारा अध्ययन-अध्यापन व सत्योपदेश, राजा-प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध, राज्य का योग्यतापूर्वक शासन, प्रजापालन, देशरक्षा, युद्ध में शत्रुओं को पराजित करना, व्यापार, कृषि, माता-पिता, पुत्र आदि के कर्त्तव्य, पदार्थविद्या का ज्ञान, अग्नि, वायु आदि भौतिक पदार्थों की वैज्ञानिक उपयोगिता एवं विज्ञान के आविष्कार द्वारा सुख-समृद्धि की प्राप्ति प्रभृति नाना प्रकार के लोकव्यवहारों, सामाजिक सर्वहितकारी कार्यों तथा भौतिक पदार्थों के उपयोग करने सम्बन्धी विषयवस्तु की चर्चा एवं उपदेश है।

इसके साथ ही उन्होंने पारमार्थिक अर्थप्रक्रिया का भी संकेत किया है जिसका तात्पर्य परमार्थ अर्थात् ईश्वर या परमात्मा से सम्बद्ध वेदार्थ की ओर है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो यह लिखा है कि—'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति'—उसका अभिप्राय यही है कि वेद का कोई भी ऐसा मन्त्र नहीं है जिसमें परमेश्वर से सम्बद्ध अर्थ का परित्याग किया जा सके।

सभी मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ सम्भव नहीं

स्वामी दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विद्यमान 'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय, पृ० ३८३।

मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति' इस वाक्य से कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वामी दयानन्द, प्रत्येक वेदमन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ तो है ही, ऐसा स्वीकार करते हैं[1]। किन्तु स्वामी दयानन्द के इस लेख के आधार पर यह मानना ठीक नहीं प्रतीत होता कि उन्हें वेद के प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ मान्य है। उन्होंने निरुक्त के एक स्थल का उद्धरण देते हुए भाष्यभूमिका में लिखा है—'सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित् परोक्षाणां केचित् प्रत्यक्षाणां केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः[2]।' यहाँ पर 'सर्वे मन्त्राः' शब्द का 'प्रत्येक मन्त्र' अर्थ नहीं है अपितु इसका तात्पर्य यही है कि वेद के समस्त मन्त्रों में कुछ तो प्रत्यक्ष कुछ अप्रत्यक्ष तथा कुछ अध्यात्म अर्थ को व्यक्त करते हैं। स्वामी दयानन्द के 'केचिदध्यात्मम्' इस अंश से यही ध्वनित होता है कि वे सभी मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ नहीं मानते हैं।

जहाँ तक पूर्व 'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति' वाले वाक्य का प्रश्न है, उसका अभिप्राय मात्र इतना ही है कि वेदमन्त्रों का जो भी अर्थ हो, जैसे आधिदैविक, आधियाज्ञिक या व्यावहारिक, वहाँ सब में ईश्वर की भी अन्विति अपने आप समझनी चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण याज्ञिक प्रक्रिया, लौकिक-व्यावहारिक अर्थ या विविध सृष्टि-तत्त्वों के अधिष्ठाता देवों से सम्बद्ध आधिदैविक अर्थ के भी साथ इस वेदज्ञान का दाता ईश्वर स्वयमेव वेद के प्रकाशक एवं सृष्टि के समस्त पदार्थों तथा ज्ञान-विज्ञान के मूल में निमित्त कारण के रूप में सम्बद्ध होने से पदार्थ की इन विविध विधाओं में भी प्रकारान्तर से स्मृत होता है। सम्भवतः स्वामी दयानन्द की यही भावना थी जिसके कारण उन्होंने यह वाक्य लिखा है। उनका यही अभिप्राय भाष्यभूमिका के निम्न वाक्य से भी ध्वनित होता है जो उस पूर्वोक्त वाक्य के आगे विद्यमान है—'कुतः ? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात् कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च……आदि'। यदि हम ऐसा नहीं मानेगें तो फिर इस माध्यन्दिनीय संहिता के—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥—(४०।२)

तथा ऋग्वेद के—

> सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
> सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं विपरेतन[3]॥
> —ऋ० १०।८५।३३ एवं अथर्व० १४।२।२८।

---

१. पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु-यजुर्वेदभाष्यविवरण भूमिका, पृ० ९३-९४।
२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वैदिकप्रयोगविषय, पृ० ३९५।
३. संस्कार विधि, पृ० १५३ (विवाह प्रकरण में विनियुक्त मन्त्र)।

इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ क्या और कैसे किया जा सकता है ? इस मन्त्र में केवल 'परमात्मा मनुष्यों को उपदेश करता है' यह वाक्य मन्त्रार्थ से पूर्व जोड़ देने से ही यह कह देना कि यह आध्यात्मिक हो गया, नितान्त उपहासास्पद होगा।

प्रत्येक मन्त्र का त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ असम्भव है

जिस प्रकार प्रत्येक वेदमन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ असम्भव है उसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र का आधिदैविक और आधियाज्ञिक अर्थ भी सम्भव नहीं है। स्वामी दयानन्द के अनुयायी कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रत्येक मन्त्र का त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ होता है,[१] किन्तु यह बात उचित नहीं प्रतीत होती। शांखायन गृह्यसूत्र के—

अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम् ।
मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते ॥—(१।२।१९)

इस वाक्य से यह सिद्ध करना कि प्रत्येक मन्त्र का त्रिविध अर्थ होता है, ठीक नहीं। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वेदमन्त्रों में अधिदेव, अधियज्ञ और अध्यात्म तीनों ही प्रकार के विषय हैं। प्रत्येक मन्त्र में ही ये तीनों विषय होते हैं, यह निष्कर्ष इससे नहीं निकलता। इसी प्रकार निरुक्त में आचार्य यास्क द्वारा अध्यात्म एवं अधिदैव दोनों प्रक्रियाओं में व्याख्यात कुछ मन्त्रों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना भी गलत होगा कि सभी मन्त्र-त्रिविधार्थ-प्रक्रिया में व्याख्यात हो सकते हैं। निश्चय ही वेद के अनेकों मन्त्र ऐसे हैं जिनके अर्थ त्रिविध हैं, उनमें भी मुख्यतया वे हैं जिनमें देवतावाची पद विद्यमान हैं। इस प्रकार के मन्त्रों का अर्थ करते समय निर्वचन द्वारा यौगिक अर्थप्रवृत्ति के बल पर कुछ पदों के अनेक अर्थ सम्भव हैं जिसके कारण सम्पूर्ण मन्त्र ही अनेकार्थक बन जाता है जैसे 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' (ऋ० १।२२।१७) की व्याख्या में भर्तृहरि ने लिखा है—

'यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन्नधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं च नारायणे आत्मनि चषाले च तया शक्त्या प्रवर्त्तते[२]।' अर्थात् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे०' मन्त्र में विद्यमान एक ही विष्णु शब्द अनेक शक्तिवाला होकर अधिदैवत, अध्यात्म तथा अधियज्ञ में क्रमशः सूर्य, आत्मा एवं चषाल (यज्ञिय यूप के ऊपर का ढक्कन) अर्थ को कहता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी मन्त्रों में ऐसे शब्द हों जिनका त्रिविध अर्थ किया जा सके। देवतावाचक इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि शब्द तो ऐसे हैं जिनका आधिदैविक अर्थ सूर्य, अग्नि एवं जल होता है तथा परमार्थ या अध्यात्म में ये ही शब्द—'महाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा

१. क—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री—सामवेदभाष्यभूमिका, पृ० ४८।
ख—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु—यजुर्वेदभाष्यविवरणभूमिका, पृ० ९२-९५।
२. भर्तृहरि—महाभाष्य टीका १।९।२७।

स्तूयते' तथा 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[1] आदि के आधार पर परमात्मवाचक होते हैं, किन्तु वे मन्त्र जिनमें एवंविध शब्दों का नितराम् अभाव है, उनका त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ कथमपि सम्भव नहीं है। जैसे—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ —(मा० सं० ४०।५)

तथा—स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (मा० सं० ४०।८)

प्रभृति मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक ही हो सकता है आधिदैविक, याज्ञिक या व्यावहारिक नहीं। इसी प्रकार—'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' (मा० सं० ४०।९) प्रभृति मन्त्रों का अर्थ भी आधिदैविक या आधियाज्ञिक नहीं हो सकता।

ऋग्वेद के अक्षसूक्त के—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितवस्तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥
—(ऋ० १०।३४।१३)

मन्त्र का अर्थ न तो आधिदैविक, न आध्यात्मिक और न ही आधियाज्ञिक सम्भव है। इसका तो एकमात्र अर्थ वही सम्भव है जिसे हम व्यावहारिक प्रक्रिया में मान सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी मन्त्रों का सभी प्रक्रियाओं में अर्थ असम्भव है।

इस विषय में शतपथ ब्राह्मण के भाष्य में हरिस्वामी ने भी लिखा है—'मन्त्रा आधियाज्ञिका इषेत्वादयः, त एव देवतापदत्वेनाधिदैविकाः, त एवाऽऽत्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। ईशावास्यादयस्त्वाध्यात्मिका एव।' अर्थात् 'इषेत्वादि' (मा० सं० १।१) मन्त्र अधियज्ञ विषयक हैं, ये ही देवतापरक अर्थाभिधान से आधिदैविक होते हैं तथा आत्मा के प्रति अधिकृत होने पर आध्यात्मिक अर्थ को कहते हैं। 'ईशावास्यम्' (मा० सं० ४०।१) प्रभृति मन्त्र आध्यात्मिक ही हैं अर्थात् वे तीनों अर्थों को नहीं अभिव्यक्त करते।

इसी प्रकार प्रत्येक मन्त्र आधियाज्ञिक प्रक्रिया में भी व्याख्यात नहीं हो सकता। आधियाज्ञिक प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य यज्ञिय कर्मकाण्ड में विनियुक्त मन्त्रों के उस क्रिया-सम्बद्ध अर्थ से है जिसके विषय में ब्राह्मणों में—'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्

---

१. ऋग्वेद १।१६४।४६ तथा निरुक्त ७।४।

रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाऽभिवदति'[1] यह कथन किया गया है। यज्ञों में केवल मन्त्रोच्चारण करने से ही तत्तत् मन्त्र यज्ञसम्बद्ध हो गया, अतएव याज्ञिक है एवं आधियाज्ञिक अर्थ भी रखता है— यह कोई स्वस्थ मान्यता नहीं। जब मन्त्रों का विनियोग यज्ञों में—

'आश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदेयाद् अपि सर्वा दाशतयं रनुब्रूयात्[2]' तथा—
'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजुंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे परिप्लवे शंसति[3]'।

यह कहकर या मानकर किया जाता है तो उनको इतने मात्र से याज्ञिक कहना कोई माने नहीं रखता। यह मान्यता तो उन्हीं लोगों की है जिनके लिए यज्ञ के अतिरिक्त वेदमन्त्रों का अन्य कोई प्रयोजन नहीं[4] तथा वेद के सभी मन्त्रों की परिसमाप्ति यज्ञ में उच्चारण मात्र कर देना ही है। इस प्रकार तो वेद का कोई भी मन्त्र यज्ञ में अविनियुक्त हुए विना नहीं रह सकता।

वेद के अनेक मन्त्र तो ऐसे हैं जिनका यज्ञिय कर्मकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है। फलतः इन मन्त्रों का आधियाज्ञिक अर्थ सम्भव ही नहीं है। इस विषय में हम इस संहिता के ४० वें अध्यायस्थ मन्त्रों को उपस्थित करते हैं जो ईशावास्योपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। आचार्य महीधर ने ३९ वें अध्याय पर्यन्त समस्त माध्यन्दिन-संहिता का भाष्य तो याज्ञिक प्रक्रिया में किया है जो कि यज्ञिय कर्मकाण्ड में पूर्णतया विनियुक्त हैं, किन्तु ४० वें अध्याय के मन्त्रों को वे किसी भी प्रकार के यज्ञिय कर्मकाण्ड से सम्बद्ध नहीं मानते हैं। इस अध्याय के मन्त्रों के विषय में उन्होंने लिखा है कि इन मन्त्रों का कर्मकाण्ड में किसी भी प्रकार विनियोग न होने से ये ज्ञानकाण्ड में निरूपित हैं। अतः इनका अर्थ यज्ञिय कर्मकाण्ड से कथमपि सम्बन्ध नहीं रखता है—

'एकोनचत्वारिंशताध्यायैः कर्मकाण्डं निरूपितम्, इदानीं कर्माचरणशुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानकाण्डमेकेनाऽध्यायेन निरूप्यते। ईशावास्यादिमन्त्राणां कर्मसु विनियोगोनास्ति।"

—(माध्यन्दिन-संहिता ४०।१)
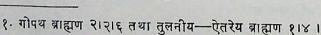
१. गोपथ ब्राह्मण २।२।६ तथा तुलनीय—ऐतरेय ब्राह्मण १।४।
२. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १४।१।२।
३. सायणाचार्य—ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में उद्धृत।
४. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'—वेदांग ज्योतिष के अन्त में उद्धृत तथा 'आम्नायास्य क्रियार्थत्वात्—' पूर्व मीमांसा १।२।१।

पंचम अध्याय

कतिपय मन्त्रार्थों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अर्थ-वैभिन्न्य, उसके कारण और प्रामाण्य आदि पर विचार

जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया गया कि आचार्य महीधर का सम्पूर्ण वेद-भाष्य याज्ञिक प्रक्रिया में है जब कि स्वामी दयानन्द का भाष्य किसी प्रक्रिया-विशेष में बंधकर नहीं है प्रत्युत उसमें मुख्यतः व्यावहारिक व पारमार्थिक अर्थ प्रस्तुत किया गया है। अब इसी सन्दर्भ में हम इस अध्याय में सबसे पहले यह विचार करेंगे कि व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया में किस प्रकार स्वामी दयानन्द का मन्त्रार्थ, जिसमें बहुशः श्लेषादि अलंकारजन्य अर्थवैविध्य के कारण द्विविध अन्वय एवं पदार्थ प्रस्तुत किया गया है, अधिक व्यापक एवं उपयोगी प्रतीत होने से आचार्य महीधर की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हो गया है जब कि आचार्य महीधर प्रक्रियाविशेष से बंधे होने के कारण वेदमन्त्र का अधिक उपयोगी और व्यापक अर्थ नहीं प्रस्तुत कर सके हैं। किन्तु जहाँ तक याज्ञिक कर्मकाण्ड एवं तत्सम्बद्ध श्रौतसूत्र एवं ब्राह्मणग्रन्थों से उपबृंहित मन्त्रार्थ की प्रामाणिकता का प्रश्न है वहाँ महीधर किन्हीं सन्दर्भों में मन्त्रों का स्वामी दयानन्द की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक एवं सुसंगत अर्थ प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं जब कि स्वामी दयानन्द का दृष्टिकोण इस सन्दर्भ में अस्पष्ट होने के साथ ही उनके मन्त्रार्थ में बहुधा विशृङ्खलता और अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है। इस प्रसंग में हम इस संहिता के प्रारम्भिक कुछ मन्त्रों पर ही विचार प्रारम्भ करते हैं। महीधर द्वारा प्रदत्त इन मन्त्रों का अर्थ प्रस्तुत करने से पूर्व इनका याज्ञिक विनियोग एवं सम्बद्ध याज्ञिक क्रियाएँ जाननी आवश्यक हैं, जिनके परिप्रेक्ष्य में इनका अर्थ प्रस्तुत किया गया है।

दर्श एवं पौर्णमास याग में इन मन्त्रों का विनियोग है। इस याग में अध्वर्यु यज्ञिय क्रियाओं के उपयुक्त शमी या पलाश वृक्ष की शाखा का छेदन करते समय शाखा को, यज्ञ में गाय के बछड़ों को, गाय को, दर्भ को, क्षीर को, हवि को या शकट आदि को सम्बोधित करते हुए जिन-जिन मन्त्रों का तत्तत् सन्दर्भ में उच्चारण करता है तथा कोई क्रिया सम्पन्न करता है उसी की पृष्ठभूमि में आचार्य महीधर ने इन मन्त्रों का अर्थ किया है। इस सहिता का प्रथम मन्त्र है—

'इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्याय-ध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजापतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईषत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि।'

यहाँ मन्त्रार्थ में विद्यमान् कोष्ठान्तर्गत पाठ मूल मन्त्र के अंश न होने से आचार्य महीधर द्वारा मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने में उसमें पूर्णता लाने के लिए अध्याहृत हैं।

आचार्य महीधर का अर्थ—(हे शाखे ! मैं) वृष्टि और बल के लिए तुझे (काटता हूँ) । (हे बछड़ों) तुम दूर हो जाओ । (हे गायों) तुम्हें (इन्द्र) देव जो सबके प्रेरयिता हैं, इस यज्ञरूप श्रेष्ठकर्म के लिए प्रभूत तृप्त करें । हे अवध्य (गायों) जिससे तुम इन्द्र के लिए भागरूप (क्षीर हव्य) से परिपूर्ण हो जाओ । तुम अनेक पुत्रों से युक्त, व्याधिरहित तथा यक्ष्मादिरोग से विहीन हो जाओ । तुम्हें चोर चुराने में समर्थ न हों और न ही भक्षणादि पाप करने में समर्थ (व्याघ्र आदि) तुम्हारी हिंसा कर सकें । तुम इस गोपति (यजमान के सानिध्य) में शाश्वतिक रूप में बहुविध होकर रहो । (हे शाखे !) तुम यजमान के पशुओं की (चोर व्याघ्र आदि से) रक्षा करो ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ

यहाँ भी कोष्ठान्तर्गत पाठ स्वामी दयानन्द द्वारा मन्त्रार्थ में स्पष्टता व पूर्णता लाने के लिए अध्याहृत किया गया समझना चाहिए ।

(हे ईश्वर !) अन्न एवं विज्ञान की प्राप्ति के लिए तुम्हारा (विज्ञानस्वरूप परमात्मा का), पराक्रम व उत्तम रस की प्राप्ति के लिए सर्वविध सेवनीय तुम्हारा (आनन्दरसघनरूप परमात्मा का) हम आश्रय लेते हैं । सकल जगत् का उत्पादक एवं सब सुखों का दाता परमेश्वर तुम्हारे (और हमारे अर्थात् हम सबके) प्राण, अन्तःकरणादि इन्द्रियों को श्रेष्ठतम यज्ञ आदि कर्मों के सम्पादन में सम्प्रयुक्त करे । इस प्रकार हम सब लोग उन्नति को प्राप्त करें । परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अनेक सन्तानोंवाली, व्याधि एवं यक्ष्मा आदि रोगों से विहीन जो अवध्य गो आदि पशु हैं (उनको प्राप्त कराइए) । हे जगदीश्वर ! (आपकी कृपा से हम लोगों के मध्य कोई) चोर डाकू आदि न उत्पन्न हों । आप इस यजमान अर्थात् धार्मिक पुरुष के गो आदि पशुओं की रक्षा कीजिए जिससे उन्हें कोई चोर न चुरा सके तथा इस धार्मिक, एवं पृथिवी आदि पदार्थों की रक्षा करनेवाले सज्जन मनुष्य के पास बहुत से उक्त पदार्थ निश्चल सुख के हेतु हों ।

स्वामी दयानन्द का यह अर्थ पढ़ने से स्पष्ट है कि उनका यह अर्थ अध्यात्म-प्रमुख है । आचार्य महीधर ने सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस मन्त्र का शाखा, वायु तथा इन्द्र ये तीन देवता माने हैं जब कि स्वामी दयानन्द के अनुसार इसका देवता 'सविता' अर्थात् सकल जगत् का उत्पादक परमेश्वर है तथा उसे ही सम्बोधित करके उनका यह मन्त्रार्थ प्रस्तुत है ।

अब इस मन्त्र के उभय भाष्यकारों द्वारा प्रदत्त कुछ पदार्थों पर विचार किया जाता है —

(१) इषे त्वा ऊर्जे त्वा—यहाँ 'इषे' शब्द का अर्थ महीधर ने 'वृष्टि' किया है अर्थात् अध्वर्यु उस यज्ञिय शाखा को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं तुझे वृष्टि के लिए काटता हूँ। आचार्य महीधर के अनुसार 'इट्' शब्द का यह चतुर्थ्यन्त रूप है। यह 'इषे' इष इच्छायाम् (तुदादि गण) धातु से कर्म में क्विप् प्रत्यय करने पर बना है। उन्होंने अपने भाष्य में लिखा है—'इष्यते काङ्क्ष्यते सर्वैर्व्रीह्यादिधान्यनिष्पत्तये सा इट्।' इस पक्ष में शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण भी है—'वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वा[१]।'

स्वामी दयानन्द ने इस 'इट्' शब्द को गत्यर्थक 'इष' धातु से निष्पन्न माना है जो कि निघण्टु में पठित है[२]। 'इषे' का अर्थ स्वामी जी ने 'अन्न एवं विज्ञान की प्राप्ति के लिए' किया है। इसका अन्न अर्थ तो इसलिए है कि 'इष' शब्द निघण्टु में अन्न नाम में पठित है[३] जिसका प्रमाण स्वामी जी ने अपने भाष्य में भी दिया है। ब्राह्मण में भी इसे अन्नवाची माना गया है[४]। गत्यर्थक धातुओं के ज्ञान, गमन व प्राप्ति इन तीन अर्थों के कारण ही इस शब्द का विज्ञान अर्थ भी सम्भव है। वैसे 'इषे' शब्द का अर्थ 'ज्ञानाय' ऐसा अनेक भाष्यकारों ने किया है[५]। अथवा धात्वर्थ को केवल प्राप्त्यर्थक मानने से भी 'इषे' का अर्थ होगा 'प्राप्ति के लिए' तब अन्न एवं विज्ञान इन दो पदों की आकांक्षा की जा सकती है।

इस प्रकार यहाँ दोनों भाष्यकारों के इस पदार्थ की तुलना करने पर स्पष्ट है कि दयानन्द द्वारा प्रदत्त 'इषे' शब्द का अर्थ जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त अन्न एवं विज्ञान अर्थ को ध्वनित करता है उस प्रकार महीधर द्वारा प्रदत्त 'वृष्टि' अर्थ नहीं। वहाँ पर यह शब्द केवल इच्छार्थक है जब कि हमें 'वृष्टि' शब्द की आकांक्षा करनी पड़ती है। वैसे महीधर वृत्त इस अर्थ की कल्पना का आधार शतपथ है। अतः हम इसे अप्रामाणिक तो कथमपि नहीं कह सकते किन्तु याज्ञिक प्रक्रिया से बँधे होने के कारण वे इसके अर्थ में शतपथ से भिन्न कुछ न सोच सके। स्वामी दयानन्द ने न केवल इसके अन्न, विज्ञान और प्राप्ति ये तीनों ही अर्थ किये हैं प्रत्युत इस शब्द को वे महीधर के समान इच्छार्थक 'इष्' धातु से मानकर अन्वय में 'उत्तमेच्छायै' यह अर्थ भी लिख दिया है जो 'इषे' शब्द के स्वतन्त्र अर्थ

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १।७।१।२।

२. 'इषतिः गतिकर्मा'—निघण्टु २।१४।

३. निघण्टु २।७।

४ 'अन्नं वा इषम'—कौषीतकी ब्राह्मण २८।५।

५. ऋग्वेद सायणभाष्य ६।१७।१४।

को भी ध्वनित करता है। इसके साथ ही इस मन्त्र के संस्कृत पदार्थ के अन्त में 'अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः' लिखकर इस इच्छार्थक धातु के साथ शतपथ के अनुसार 'वृष्टि' अर्थ की आकांक्षा करने का भी संकेत देकर इस शब्द के सभी सम्भव अर्थों का निर्देश करते हुए मन्त्रार्थ को व्यापक बना दिया है।

इसी प्रकार 'ऊर्जबलप्राणनयोः (चुरादिगण)' धातु से बनने वाले 'ऊर्जे' शब्द का अर्थ महीधर ने केवल 'रस' किया है तथा उसमें धात्वर्थ 'बल' को निरूपित करने के लिए रस का अर्थ रससामान्य न कर आज्य क्षीर आदि बलकारी रस अर्थ गृहीत किया है जो कि यज्ञिय पदार्थ भी है। इस सन्दर्भ में शतपथ में भी 'ऊर्क्' का अर्थ रस ही दिया है[1] जिसका प्रमाण महीधर ने उद्धृत किया है।

स्वामी दयानन्द ने 'ऊर्जे' के दो अर्थ दिए हैं एक तो 'बल' जो धात्वर्थ से साक्षात् सम्बद्ध हैं तथा दूसरा 'उत्तम रस'। उत्तम रस से उनका तात्पर्य उस परमानन्द रूपी रस से है जिसका अनन्त भण्डार उस आनन्दमय कोष आनन्दघन परमेश्वर में स्थित है। उनका यह अर्थ आध्यात्मिक अर्थ के ही सन्दर्भ में है।

(२) **वायव स्थ**—महीधर द्वारा प्रदत्त इसका अर्थ बड़ा ही अनिश्चित एवं विवादास्पद है। उन्होंने इसके चार अर्थ दिए हैं। एक तो यह कि अध्वर्यु गोवत्सों को शाखा से स्पर्श करके सम्बोधित करते हुए कहता है कि-'वायवः स्थ-गन्तारो भवथ' अर्थात् तुम सब माता के समीप से अन्यत्र चले जाओ जिससे सायं-कालीन गोदोह हो सके अन्यथा साथ-साथ जाने से दुग्ध प्राप्ति सम्भव न हो सकेगी। इस अर्थ में 'वायवः' का अर्थ 'गन्तारः' है जो कि 'वा गतिगन्धनयोः[2]' इस धातु की गत्यर्थक क्रिया को ध्वनित करता है। दूसरा अर्थ यह है कि जिस प्रकार वायु भूमि को सुखा कर पवित्र कर देता है वैसे ही गोवत्सों से प्राप्त गोबर आदि के अनुलेपन से भूमि की पवित्रता होती है। अतः उन गोवत्सों का वायु से सादृश्य होने के कारण उन्हें 'वायवः स्थ' कहा गया है। तीसरा अर्थ यह है कि पशु स्वयं गृह-निर्माण में असमर्थ हैं फलतः निरावरणरूप अन्तरिक्ष में रहते हैं जिसका देवता वायु है, अतः उनको भी वायुरूप में यहाँ कीर्त्तित किया गया है। चौथा यह कि दिन में तृणादि का भक्षण करके सायं वायुवेग से यजमान के घर आने के लिए प्रवृत्त करने का पशुओं के प्रति 'वायवः स्थ' इस मन्त्र का पाठ होता है।

पूर्वोक्त सभी अर्थ यज्ञ प्रसंग में ही महीधर द्वारा प्रदत्त हैं। इन अर्थों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पशुओं के साथ वायु का सम्बन्ध यथाकथञ्चित्

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १।७।१।१२।
२. पाणिनीय धातुपाठ, अदादिगण।

बैठाने के लिए भाष्यकार तत्पर है। यतो हि इस 'वायवः स्थ' मन्त्र का पाठ यज्ञ में गोवत्सों को लक्षित करके होता है। अतः उनसे वायु का कुछ न कुछ सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है। किन्तु ऐसे अर्थों में काल्पनिकता अधिक प्रतीत होती है। महीधर के पूर्ववर्ती भाष्यकार उवट, जिन्होंने स्वयं भी याज्ञिक अर्थ किया है, ने महीधर द्वारा प्रदत्त इन चारों अर्थों में से कोई भी अर्थ स्वीकार न करके इसका एक अन्य ही अर्थ किया है। उनके इस अर्थ में यह द्योतित होता है कि वत्सों को वायु के समान इसलिये कहा जाता है कि वे गौओं के आप्यायक हैं—

'यथा वायुर्वृष्टिद्वारा गवामाप्यायकः, एवं यूयमपि प्रस्नुतिद्वारेणाप्यायका भवथेत्यर्थः।'—(उवट भाष्य १।१)

स्वामी दयानन्द ने अपने अध्यात्म-प्रधान अर्थ में 'वायवः' का अर्थ स्पर्श आदि गुणवाले प्राण, अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ किया है। स्वामी दयानन्द के इस अर्थ का आधार सम्भवतः वे ब्राह्मणग्रन्थ हैं जिनमें प्राण को वायु कहकर संकेतित किया गया है[1]। साथ ही 'स्थ' इस क्रियापद को उन्होंने व्यत्यय से 'सन्ति' के रूप में स्वीकार किया है जो अप्रामाणिक नहीं है[2]।

(३) 'देवो वः सविता'—महीधर ने 'देवः' का तात्पर्य यहाँ इन्द्र देवता से माना है जो इस मन्त्र के देवता के रूप में यजुःसर्वानुक्रमसूत्र में उल्लिखित है। 'सविता' शब्द 'देवः' पद का विशेषण है जिसका अर्थ है प्रेरक। अतः यह 'षू[3]' प्रेरणे से निष्पन्न है।

स्वामी दयानन्द ने 'देवः' का अर्थ सब सुखों का देनेवाला एवं सर्वविद्या-द्योतक परमेश्वर किया है जिसका विशेषण सविता है तथा अर्थ है सकल जगत् का उत्पादक। इस प्रकार उनके अनुसार यह शब्द 'षूङ् प्राणिप्रसवे[4]' धातु से बना है।

(४) 'आप्यायध्वम्'—महीधर ने इस क्रिया का कर्त्ता 'अघ्न्याः गावः' माना है, जबकि स्वामी दयानन्द के अनुसार इसका कर्त्ता मनुष्य है। अतः मनुष्यमात्र के प्रति इस क्रिया के द्योतन के लिए 'आप्यायामहे वा' ऐसा लिखकर उन्होंने उत्तम पुरुष में भी अर्थ अभिव्यक्त किया है।

---

१. क—'वायुर्वै प्राणः'—कौषीतकी ब्राह्मण ८।४, शतपथब्राह्मण ४।४।१।१२।
 ख—'वायुर्हि प्राणः'—ऐतरेय ब्राह्मण २।२६।३।१२।
२. अत्र पुरुषव्यत्ययः, व्यत्ययो बहुलम्—महाभाष्य ३।१।८५।
३ पाणिनीय धातुपाठ—तुदादिगण।
४ वही—दिवादिगण।

(५) **'मा वः स्तेन ईशत मा अघशंसः'**— महीधर के अनुसार यहाँ 'वः' का अभिप्राय गायों से है अर्थात् हननादि पाप कर्म करनेवाले व्याघ्र एवं चौरादि तुम्हें (गायों को) नष्ट करने में समर्थ न हों।

स्वामी दयानन्द ने 'अघशंसः स्तेनः मा ईशत' यह एक वाक्य कल्पित किया है जिसका अर्थ है—'हम लोगों के मध्य कोई पापी या चोर न हो'। पुनः 'वः' इस सर्वनाम में पुरुषव्यत्यय मानकर इसका अर्थ 'ताः' (गावः) किया है तथा इसे 'यजमानस्य पशून् पाहि' के साथ सम्बद्ध करते हुए अर्थ दिया है अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा कीजिए जिससे (ताः) उन्हें कोई चुराने में समर्थ न हो।

(६) **'गोपतौ'**—महीधर के अनुसार इसका अर्थ है 'गायों के स्वामी यजमान में' जबकि स्वामी दयानन्द ने 'गो' शब्द को पृथिवी वाची मानकर अर्थ किया है—'पृथिव्यादिरक्षणेच्छुकस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे'।

द्वितीय मन्त्र के अर्थ पर विचार

इस संहिता का द्वितीय मन्त्र है—

'वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।'

आचार्य महीधर का अर्थ—(हे दर्भ!) तुम (इस इन्द्र देवता के निवास-भूत हविरूपी) क्षीर के शोधक हो (हे स्थालि!) तुम द्युलोकरूपा हो, पृथिवीरूपा हो (हे उखे!) तुम वायु के दीपक अर्थात् अन्तरिक्ष लोक हो, विश्व को धारण करने में समर्थ हो, तुम उत्तम (अधिक क्षीर आदि धारणरूपी सामर्थ्य के) तेज से दृढ़ हो जाओ (हे उखे!) कुटिल मत होओ और तुम्हारा यजमान भी कुटिल न बने।

स्वामी दयानन्द का अर्थ—यज्ञ पवित्र होता है। वह विज्ञान-प्रकाश का हेतु तथा विस्तृत होता है। यज्ञ वायु का शोधक है। वह संसार का धारण करने-वाला और उत्तम स्थान से सुख का बढ़ानेवाला होता है। (ऐसे यज्ञ को) मत त्यागो तथा (हे मनुष्य) तुम्हारे यज्ञ की रक्षा करनेवाला भी उसे न त्यागे।

दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रदत्त इस मन्त्रार्थ पर अब तुलनात्मक दृष्टि से विचार अपेक्षित है।

(१) **'वसोः पवित्रमसि'**—दर्श व पौर्णमास याग में वृक्ष की शाखा में दो या तीन दर्भ बाँधते हैं, जिसे यज्ञ में 'पवित्र' नाम से अभिहित किया जाता है। महीधर के अनुसार उस दर्भ को ही लक्षित करके अध्वर्यु इस मन्त्रवाक्य का उच्चा-रण करता है। वसु शब्द यज्ञ का वाचक है जिसके समर्थन में महीधर ने शतपथ

ब्राह्मण का 'यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रमसि' (१।७।१।६) यह प्रमाण भी दिया है। अर्थात् यह दर्भ यज्ञ का शोधक है। यहाँ यज्ञ से तात्पर्य यज्ञिय हविरूप में विद्यमान क्षीर आदि से है। इस यज्ञ में जो हवि तैयार की गई है वह इन्द्र देवता के लिए है। अतः उस हवि में इन्द्र देवता का वास होने से यज्ञ को 'वसु' कहा गया है। आगे यज्ञविधि में तथोक्त 'पवित्र' के स्पर्श से हवियुक्त पात्र का पवित्रीकरण किया जाता है। उसी सन्दर्भ में यह वाक्य है।

स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'वसोः' इस षष्ठ्यन्त पद को प्रथमान्त में विपरिणत करके तथा 'असि' पद में पुरुषव्यत्यय से 'अस्ति' मानकर अर्थ किया है। उन्होंने भी शतपथ के पूर्वोक्त प्रमाण के अनुसार 'वसु' शब्द को यज्ञ वाचक माना है।

(२) "**द्यौरसि पृथिव्यसि……विश्वधा असि**'—यहाँ महीधर के अनुसार 'द्यौः' का अर्थ द्युलोक एवं 'पृथिवी का अर्थ पृथिवी लोक है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने इन शब्दों को महीधर के समान संज्ञावाचक न मानकर इनका क्रियारूप अर्थ गृहीत किया है। इसीलिए 'द्यौः' का अर्थ उन्होंने 'विज्ञानप्रकाशहेतुः[1]' किया है जो वसु का विशेषण है, तथा 'पृथिवी' का अर्थ भी 'विस्तृतः[2]' किया है।

(३) '**परमेण धाम्ना दृंहस्व**'—यह वाक्य महीधर के अनुसार उखा को सम्बोधित करके प्रार्थनारूप में है जबकि स्वामी दयानन्द ने 'दृंहस्व' क्रियापद में पुरुष-व्यत्यय से प्रथम पुरुष मानकर तथा लोट् लकार को यहाँ लडर्थ में मानकर 'वर्धते' अर्थ किया है जिसका कर्त्ता यज्ञ है।

(४) '**मा ह्वाः**'—'ह्वृ कौटिल्ये[3]' धातु का रूप 'ह्वाः' है जिसका कर्त्ता महीधर के अनुसार 'उखा' है जबकि स्वामी दयानन्द के अनुसार इसका कर्त्ता 'मनुष्य' है जो कि सम्बोधन रूप में अध्याहृत है। दोनों भाष्यकारों ने लुङ् का प्रयोग यहाँ लोडर्थ में माना है।

(५) '**मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्**'—महीधर के अनुसार यहाँ 'ते' इस सर्वनाम शब्द का अभिप्राय उखा से है जब कि स्वामी दयानन्द के अनुसार 'ते' पद मनुष्य को लक्षित करता है।

दयानन्द के मन्त्रार्थ में व्यत्ययों का आधिक्य

पूर्वोद्धृत दोनों मन्त्रार्थों को ध्यान से पढ़ने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि स्वामी दयानन्द के मन्त्रार्थ में महीधर की अपेक्षा सामञ्जस्य कम हो पाया

१. 'अद्युतदिव वा तद् दिवो दिवत्वम्'—ताण्ड्य महाब्राह्मण २०।१४।१।
२. 'प्रथ विस्तारे'—धातुपाठ।
३. पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण।

है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द जब याज्ञिक प्रक्रिया को त्याग कर मन्त्रार्थ करने में प्रवृत्त हुए तो उन्हें परम्परागत याज्ञिक प्रक्रिया से भिन्न मन्त्रार्थ करने में कुछ कठिनता अनुभूत हुई जिसका समाधान उन्होंने विभक्तिविपरिणाम, पुरुष-व्यत्यय आदि के माध्यम से किया। उदाहरणतः हम इस पूर्वोक्त द्वितीय मन्त्र के अर्थ को ही लें तो यह प्रतीत होगा कि जिस प्रकार महीधर ने याज्ञिक प्रक्रिया में मन्त्रार्थ को सुन्दर एवं सुगठित रूप में प्रस्तुत किया है उस प्रकार स्वामी दयानन्द अपने अर्थ को सुसम्बद्ध एवं स्पष्ट रूप में नहीं प्रस्तुत कर सके हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा यज्ञवाचक वसु शब्द को षष्ठ्यन्त से प्रथमान्त में तथा 'असि' क्रियापद को 'अस्ति' में विपरिणत करते हुए अर्थ करना बड़ा ही अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यद्यपि वेद में व्यत्यय होता है तथा 'व्यत्ययो बहुलम्' (अष्टा० ३।१।८५) यह सूत्र तो है ही वेद के लिए किन्तु अपनी कल्पना के अनुसार अर्थ करने के लिए इसका आश्रय स्वामी दयानन्द ने कुछ अधिक ही लिया है।

व्यत्यय का कम से कम आश्रय लेते हुए अर्थ करना अधिक प्रभावी और प्रामाणिक होता है। इसी कारण इन मन्त्रों का महीधर द्वारा प्रदत्त अर्थ अधिक शीघ्र हृदयंगम हो जाता है जब कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त अर्थ नहीं, वक्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार तृतीय मन्त्र 'वसोः पवित्रमसि शतधारम्०' प्रभृति के अर्थ में भी स्वामी दयानन्द ने 'असि' पद में सर्वत्र व्यत्यय से 'अस्ति' मानकर अर्थ प्रस्तुत किया है। यही स्थिति अन्यत्र भी अनेक स्थलों, जैसे अध्याय ४ मन्त्र १०, अध्याय ५ मन्त्र १२, १३ तथा अध्याय ११ मन्त्र १० आदि, पर दृष्टिगत होती है। इन मन्त्रों में अधिक व्यत्ययों की कल्पना से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मन्त्र की व्याख्या स्वाभाविक रूप में न की जाकर अपने पूर्वकल्पित विषयवस्तु के प्रतिपादन में जैसे बलात् की जा रही हो।

दयानन्दीय अर्थों में व्यत्यय की अवश्यम्भाविता और उसका प्रामाण्य

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त अर्थ में व्यत्ययों के आधिक्य का एक कारण यह भी है कि उन्होंने इस संहिता के मन्त्रों का अर्थ याज्ञिक कर्मकाण्ड से भिन्न पद्धति में करने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। आचार्य महीधर ने जो याज्ञिक अर्थ प्रस्तुत किया है उसके पीछे उन मन्त्रों का शतपथ ब्राह्मण तथा मुख्यतः कात्यायन श्रौतसूत्र में पूर्णरूप से याज्ञिक क्रियाओं के साथ विनियोग एवं सामञ्जस्य सुन्दर रीति से स्थापित कर दिए जाने के कारण कर्मकाण्डपरक इस अर्थ की पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार थी। फलतः उन्हें याज्ञिक अर्थ करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं अनुभूत हुई। किन्तु यदि याज्ञिक प्रक्रिया से भिन्न अर्थ किया जाय तो प्रश्न होता है कि इनकी

संगति किस प्रकार लगायी जाय। जैसे वसोः पवित्रम् असि' यह मन्त्र याज्ञिक प्रक्रिया में दर्भ को सम्बोधित करते हुए विनियुक्त किया गया है, अतः हम इसका यह अर्थ करते हैं कि—'हे दर्भ ! त्वं यज्ञस्य शोधकः असि'—अर्थात् हे दर्भ ! तुम यज्ञ को पवित्र करनेवाले हो। इस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में हम यह मान लेते हैं कि यह मन्त्र दर्भ को सम्बोधित करके ब्राह्मण और श्रौतसूत्र में विनियुक्त है। अतः यहाँ 'वसोः' इस षष्ठ्यन्त का सम्बन्ध दर्भ के साथ शोधक रूप में है तथा 'असि' यह क्रियापद उसी सम्बोधित दर्भ के लिए मध्यम पुरुष में विद्यमान है। किन्तु याज्ञिक प्रक्रिया से भिन्न अर्थ में, जहाँ दर्भ आदि का कोई सम्बन्ध या प्रकरण ही नहीं है, निश्चय ही हमें इन मन्त्रों का कोई अन्य अर्थ करना होगा जिसमें व्यत्यय के आधार पर ही किसी अर्थ को द्योतित करना सरल व प्रामाणिक मार्ग प्रतीत होता है।

स्वामी दयानन्द ने जब याज्ञिक पद्धति से भिन्न मन्त्रार्थ का चिन्तन किया और तदनुसार ही जब अर्थ करना प्रारम्भ किया तो उन्हें अर्थ करते समय जहाँ कहीं भी विभक्ति या पुरुष की प्रतिकूलता या अनभीष्टता प्रतीत हुई वहाँ उन्होंने व्यत्यय के बल से पदों की विभक्तियों को परिणत करने में संकोच नहीं किया। इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द का दिग्दर्शक मुख्यतः निरुक्तशास्त्र था जिसमें लिखा है—

'अर्थनित्यः परीक्षेत ... न संस्कारमाद्रियेत ......यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ।'
—(निरुक्त २।१)

यहाँ हम एक उदाहरण देकर इस विषय को और स्पष्ट करना चाहेंगे। इस संहिता में चौथे अध्याय का १०वाँ मन्त्र है—'ऊर्गसि...सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि...आदि'। आचार्य महीधर ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है वह कात्यायनश्रौतसूत्र में वर्णित अग्निष्टोमयज्ञ की विविध क्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में कल्पित मन्त्र-विनियोग पर ही आधृत है। अग्निष्टोम यज्ञ में कृष्णाजिनदीक्षा में मखलाबन्धन, नीविबन्धन, उष्णीषधारण, कृष्णमृगविषाणधारण प्रभृति क्रियाएँ वर्णित हैं[1] जिनके साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध है। अध्वर्यु जब यजमान को मेखला धारण कराता है तो मेखला को सम्बोधित करके कहता है—'ऊर्ग् असि'। नीवि-बन्धन के समय 'सोमस्य नीविरसि' यह मन्त्र पढ़ता है, उष्णीषबन्धन में 'विष्णोः शर्मासि' यह मन्त्र पढ़ता है तथा कृष्णविषाण के धारण के समय 'इन्द्रस्य योनिरसि' यह मन्त्र बोलता है। अब इस मन्त्र का जब यज्ञपरक अर्थ करेंगे तो 'असि' इस

१. कात्यायनश्रौतसूत्र ७।३।२२-२५।

क्रियापद का मेखला, नीवि, उष्णीष या कृष्णमृगविषाण के साथ सम्बोधनपूर्वक कर्तृसम्बन्ध मान लेने से तो उनके साथ उनका मध्यमपुरुषवाला अर्थ संभव हो सकता है, किन्तु जब हम इन याज्ञिक क्रियाओं से पृथक् मन्त्र का कोई अर्थ करना चाहेंगे तो प्रश्न होगा कि 'असि' इस मध्यम पुरुष का सम्बन्ध कर्त्ता के साथ किस प्रकार स्थापित किया जाय तथा यहाँ कर्त्ता किसे माना जाय? स्वामी दयानन्द ने इस अवस्था में यहाँ 'उर्क' को, 'सोमस्य नीविः' को या 'विष्णोः शर्म' को ही 'असि' का कर्त्ता मान लिया है किन्तु इस 'असि' का सम्बन्ध किसी सम्बोधनान्त पद के अभाव में असंगत होने के कारण 'असि' इस क्रियापद को व्यत्यय से 'अस्ति' के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस मन्त्र में शिल्पविद्यारूप यज्ञ का विधान है। अतः तत्परक मन्त्रार्थ निरुक्त के—'न संस्कारमाद्रियेत, यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' इत्यादि पूर्वप्रदत्त वचन के आधार पर अर्थानुसार विभक्ति आदि का व्यत्यय मानकर कर दिया गया है।

महीधर की याज्ञिक प्रक्रिया में भी व्यत्यय

यह बात नहीं है कि केवल स्वामी दयानन्द ने ही अपने भाष्य में व्यत्यय का आश्रय लिया हो तथा आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में कहीं भी व्यत्यय का आश्रय लिया ही न हो। अपितु महीधर-भाष्य में भी अनेकत्र व्यत्यय को स्वीकार कर अर्थ किया गया है। जैसे—'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तम्परि तस्थुषः०[१]' आदि मन्त्र के भाष्य में 'तस्थुषः' पद की व्याख्या में विभक्तिव्यत्यय मानकर आचार्य महीधर ने 'तस्थिवांसः' अर्थ किया है तथा उसे 'ऋत्विजः' का विशेषण बनाया है। यद्यपि इस मन्त्र में 'ऋत्विजः' पद कहीं भी नहीं है किन्तु याज्ञिक प्रक्रिया में यह मन्त्र अश्वमेधप्रकरण में विनियुक्त है जिसमें ऋत्विग्गण इस मन्त्र को पढ़ते हुए रथ में अश्व का संयोजन करते हैं। अतः स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रिया में भी विभक्तिव्यत्यय माने विना इस मन्त्र में विद्यमान 'तस्थुषः' पद को प्रथमान्त 'ऋत्विजः का विशेषण नहीं बनाया जा सकता। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द इस मन्त्र के भाष्य में, जो आध्यात्मिक प्रक्रिया में है, 'तस्थुषः' का अर्थ 'स्थावरान्' करते हुए विना व्यत्यय की कल्पना के ही अर्थ करने में समर्थ हुए हैं।

इसी प्रकार आचार्य महीधर ने 'संशितो रश्मिना रथः[२]०' प्रभृति मन्त्र में 'अप्सु' का अर्थ 'अद्भिः' किया है तथा 'को अस्य वेद भुवनस्य नाभिः[३]०' आदि

१. माध्यन्दिन संहिता २३।५।
२. माध्यन्दिन संहिता २३।१४।
३. वही २३।५९।

मन्त्र में विद्यमान 'यतोजाः' पद को विभक्तिव्यत्यय से 'यतोजाम्' इस रूप में मानकर उसका अर्थ प्रदर्शित किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन्हीं मन्त्रों के अर्थ में स्वामी दयानन्द ने इन पदों में व्यत्यय नहीं माना तथा 'अप्सु' का अर्थ 'प्राणेषु' एवं 'यतोजाः' का अर्थ 'यस्माज्जाताः' करते हुए बिना व्यत्यय के ही मन्त्रार्थ प्रस्तुत किया है।

यह तो हुई 'सुप्' विभक्तिव्यत्यय की बात। अब पुरुषव्यत्यय के सन्दर्भ में भी कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। इस संहिता के 'राये नु यं जज्ञतू राये देवी धिषणा[1]' आदि मन्त्र में विद्यमान 'सश्चतः' पद के सन्दर्भ में आचार्य महीधर ने लिखा है— 'सश्चतः सचन्ते सेवन्ते 'षच सेवने' पुरुषव्यत्ययः।' इसी प्रकार अध्याय २० मन्त्र ६६ में विद्यमान 'समाधातम्' इस द्विवचनान्त पद को 'समाधात' इस बहुवचनान्त-पद के रूप में स्वीकार करते हुए इसमें वे वचनव्यत्यय को मानते हैं तथा इसी २०वें अध्याय के ५०वें और ५२वें मन्त्र में विद्यमान क्रमशः 'धातु' और 'युयोतु' पदों में उन्होंने विकरण का व्यत्यय भी स्वीकार किया है।

किन्तु इन दोनों भाष्यकारों में यहाँ एक प्रमुख भेद यह है कि आचार्य महीधर ने जहाँ अपने सम्पूर्ण वेदभाष्य में कुल लगभग ५० स्थानों पर ही व्यत्ययों का आश्रय लेकर अर्थ किया है वहीं स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में विभिन्न प्रकार के व्यत्ययों की कुल संख्या ४०० से भी अधिक है।

मध्यम पुरुष को प्रथम पुरुष में मानने का मुख्य कारण

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में जितने व्यत्ययों का संकेत किया है उनमें चतुर्थांश तो केवल 'असि' शब्द के सम्बन्ध में है जिसे उन्होंने पुरुषव्यत्यय के द्वारा 'अस्ति' या 'भवति' मानकर व्याख्यात किया है। अकेले प्रथम अध्याय में ही विद्यमान 'अस्' धातु के कुल ४९ मध्यमपुरुषान्त पदों में व्यत्यय द्वारा प्रथम पुरुष मानकर उनका अर्थ किया गया है। केवल ३०वें मन्त्र में वर्त्तमान तीन 'असि' पदों का मध्यम पुरुष में ही अर्थ किया है और वह भी पाक्षिक रूप में। अर्थात् उनका प्रथम-पुरुषान्त 'अस्ति' रूप मानकर भी वैकल्पिक अर्थ किया गया है। अत एव इस सम्बन्ध में उनकी इस शब्द विशेष के साथ वर्त्तमान व्यत्यय-मान्यता का कारण अन्वेष्य हो जाता है।

जैसा कि देवता पर विचार करते समय तीसरे अध्याय में लिखा भी जा चुका है, स्वामी दयानन्द भौतिक या जड़ पदार्थों की पूजा व उपासना के विरोधी

---

१. वही २७।२४।

हैं तथा इसे वेदविरुद्ध मानते हैं। उनके अनुसार चेतन देवता एकमात्र निराकार ब्रह्म है तथा वही एकमात्र पूज्य व उपास्य है। इसीकारण वेद के समस्त इन्द्र. वरुण, अग्नि प्रभृति देवतावाचक शब्द आध्यात्मिक पक्ष में मुख्यवृत्ति में ईश्वर के ही पर्याय हैं तथा आधिदैविक पक्ष में ये सूर्य आदि जड या भौतिक पदार्थों के वाचक हैं[१]। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा भी है—

'अत इदानीन्तना केचिदार्या यूरोपखण्डासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च तदलीकम् अस्ति····आर्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्···· तदप्यसत्····तेषां सृष्ट्या····[२]' आदि।

अतः यदि आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त याज्ञिकप्रक्रिया वाले अर्थ को पूर्णतः स्वीकार कर लिया जाय तो स्वामी दयानन्द की इस पूर्वोक्त मान्यता पर आक्षेप होने लगेगा। क्योंकि उस अवस्था में 'असि' इस क्रियापद से प्रायः सर्वत्र अचेतन, जड या भौतिक पदार्थरूप यज्ञिय द्रव्यों, जैसे यज्ञपात्र, हव्य, शाखा, उखा, यूप, आज्य आदि को ही सम्बोधित करके अभिधान किया जाता है। उदाहरण के लिए हम इस संहिता के दूसरे मन्त्र को ही उपस्थित करते हैं। इसमें अध्वर्यु दर्भ को सम्बोधित करके 'वसोः पवित्रम् असि' यह कहता है तथा आगे भी वह स्थालीरूप यज्ञपात्र को सम्बोधित करता हुआ 'द्यौरसि, पृथिव्यसि, मातरिश्वनो घर्मोऽसि, विश्वधा असि' प्रभृति मन्त्र का उच्चारण करता है। यहीं पर 'दृंहस्व' क्रिया भी उसी पात्र को सम्बोधित करके कही गई है। किन्तु स्वामी दयानन्द को यह अर्थ स्वीकार्य नहीं है। उन्हें इस प्रकार के अर्थों में जड पदार्थों की पूजा या स्तुति का भान होता है जो मूर्त्तिपूजा की ओर उन्मुख करने में प्रेरक व प्रवर्त्तक सिद्ध होगा। अतः मूर्त्तिपूजाविरोधी स्वामी दयानन्द को यह अर्थ कथमपि स्वीकार्य नहीं। इसी कारण उन्होंने अपने इस द्वितीय मन्त्र के भाष्य में 'वसोः' शब्द में प्रथमार्थ में षष्ठीरूप व्यत्यय माना तथा मन्त्र में विद्यमान मध्यम पुरुष की समस्त 'असि' क्रियाओं को, जो याज्ञिक अर्थ में दर्भ या कुशा आदि को सम्बोधित करते हैं, व्यत्यय से 'अस्ति' रूप में प्रथमपुरुष में मानकर उनका कर्त्ता उसी प्रथमार्थ में विद्यमान यज्ञवाचक 'वसोः' इस षष्ठ्यन्त को बनाते हुए अर्थ कर दिया, जिससे उनकी सभी समस्याओं का समाधान हो गया। इसी प्रकार इस मन्त्र में विद्यमान मध्यम पुरुष की 'दृंहस्व' क्रिया को भी व्यत्यय से प्रथमपुरुष में मानकर उसका अर्थ 'वर्धते' कर दिया है।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, पृ० ७८।
२. वही, पृ० ८०।

स्वामी दयानन्द की इस मान्यता का संकेत उनके द्वारा प्रदत्त 'धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व०[1]' प्रभृति मन्त्र के भाष्य में भी उपलब्ध होता है जहाँ उन्होंने 'असि' को व्यत्यय से 'अस्ति' माना है। यहाँ उन्होंने लिखा है -'अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते'। उनके इस वाक्य से तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रदत्त निम्न वाक्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें भौतिक या जड पदार्थों के सन्दर्भ में प्रथमपुरुष में ही अर्थ करने की अपेक्षा है—

'व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति।
तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च।
अयं लौकिकवैदिकयोः सार्वत्रिको नियमः[2]।'

किन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने जो यह आगे लिखा है कि—

'परन्तु वैदिके व्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति, तत्रेदं बोध्यं-जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेवं प्रयोजनम्।'

तथा इसका यह भाषानुवाद किया है—'परन्तु वेद के प्रयोग में इतनी विशेषता होती है कि जड पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड पदार्थों को प्रत्यक्ष कराकर केवल उनसे अनेक उपकार लेना ज्ञापित है, कि दूसरा प्रयोजन नहीं है।' उनके इन वाक्यों का तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट नहीं हो पाता। निरुक्त के जिस नियम[3] की उन्होंने चर्चा की है, उसका इस सन्दर्भ में कोई तात्पर्य ही नहीं है। वहाँ तो यह है कि ऋचाएँ त्रिविध हैं जिनमें कुछ परोक्षकृत जैसे 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः०' प्रभृति प्रथम पुरुष में है तथा कुछ प्रत्यक्षकृत होने से जैसे 'त्वमिन्द्र बलादधि०' प्रभृति मध्यमपुरुष से युक्त होती हैं जब कि कुछ आध्यात्मिकी जैसे लबसूक्त की ऋचाएँ उत्तम पुरुष से युक्त होती हैं। यदि निरुक्त के इस वाक्य से, जैसा कि स्वामी दयानन्द मानते हैं, ऐसा कुछ नियम निकलता है कि जड पदार्थ के प्रत्यक्ष होने पर मध्यम पुरुष का योग है तो स्वामी दयानन्द को भी उसी मध्यमपुरुष की विभक्तिवाला ही अर्थ करना चाहिए था जब कि उन्होंने ऐसा न करके वहाँ व्यत्यय मानकर प्रथम पुरुष में अर्थ किया है।

प्रत्यक्ष जड पदार्थ के सन्दर्भ में जब मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है तब उसका तात्पर्य उपकार लेना है, उनकी पूजा या स्तुति करना नहीं है—यह बात

---

१. माध्यन्दिनसंहिता १।८।

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—वैदिकप्रयोगविषय, पृ० ३९४।

३. 'तास्त्रिविधा ऋचः.....'—निरुक्त ७।१-२।

किसी भी प्रकार से निरुक्त के उस पूर्वोक्त स्थल से तो नहीं ही प्रतिध्वनित होती है। स्वामी दयानन्द निरुक्त के उस स्थल को अपने मन्तव्य के प्रतिपादन में बलात् सम्बद्ध कर रहे हैं। वास्तव में जड या भौतिक वस्तुओं के साथ मध्यम पुरुष में अर्थ करने पर प्रकारान्तर से जड या भौतिक वस्तुओं की पूजा स्तुति आदि की प्रतिध्वनि वेदार्थ में आती। अतः इस भय से ही उन्होंने ऐसे स्थलों पर मध्यम पुरुष की विभक्तियों को व्यत्यय का आश्रय लेकर प्रथम पुरुष में परिवर्तित कर दिया है। इसके पीछे यही एकमात्र कारण है अन्य कोई कारण नहीं।

इसी सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने आगे जो यह लिखा है—

"इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्कारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया··· वेदेषु जडपदार्थानाम्पूजाऽस्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः[1]।" तो यह बात नहीं कि सायण और महीधर प्रभृति भाष्यकार निरुक्त के तथोक्त स्थल से अपरिचित थे या इस सब सन्दर्भ को नहीं जानते थे, प्रत्युत उनका आग्रह भौतिक या जड वस्तु की पूजा या स्तुति आदि के सम्बन्ध मे स्वामी दयानन्द के समान कठोर या विरोधपूर्ण बिलकुल ही नहीं था। इसी कारण उन्होने जान बूझकर उन जड पदार्थों के साथ भी मध्यमपुरुष का अर्थ अपने स्वाभाविक रूप मे ही रहने दिया तथा व्यत्यय आदि के द्वारा उसमें व्यर्थ की खींचतान करने का प्रयत्न नहीं किया, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने किया है।

स्वामी दयानन्द की याज्ञिक अर्थ की अवधारणा स्पष्ट नहीं

स्वामी दयानन्द ने अपना वेदभाष्य याज्ञिकप्रक्रिया मे न करने का कारण यह बताया है कि यज्ञिय-कर्मकाण्ड-सम्बन्धी क्रिया और उनका विनियोग तथा अर्थ शतपथ ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में विद्यमान है। अतः उनका तत्परक अर्थ करना पुनः पिष्टपेषणमात्र होने से अभीष्ट नहीं[2]। किन्तु अब यहां यह प्रश्न होता है कि यदि शतपथ तथा श्रौतसूत्रों में विद्यमान मन्त्रों का विनियोग एवं तत्सम्बद्ध अर्थ उन्हें मान्य है तो फिर आचार्य महीधर का वह अर्थ उन्हें स्वीकार्य क्यों नहीं जिसमें उन्होंने जड या भौतिक यज्ञिय पदार्थों को सम्बोधित करके मन्त्रार्थ प्रस्तुत किया है क्योंकि ये सभी अर्थ निश्चित ही कात्यायनश्रौतसूत्र मे विस्तृत रूप से दिए गए मन्त्रों से सम्बद्ध याज्ञिक क्रियाओं को लक्ष्य करके कल्पित किए गए विनियोग के आधार पर ही आश्रित हैं। आचार्य महीधर ने अपने वेदभाष्य में प्रायः समस्त

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वैदिकप्रयोगविषय, पृ० ३९४।
२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—प्रतिज्ञाविषय, पृ० ३८२।

मन्त्रों के अपने अर्थ के समर्थन या प्रमाण में शतपथ ब्राह्मण के वाक्य एवं मन्त्रसम्बद्ध क्रियाओं के लिए कात्यायनश्रौतसूत्र के तद्विषयक उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणतः इस संहिता के प्रथम मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा०' के सन्दर्भ में कात्यायनश्रौतसूत्र में लिखा है—'पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं 'वेषे त्वे' त्यूर्ज्जे त्वेति वा[1]—' इत्यादि।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी इस मन्त्र के साथ शाखाच्छेदरूपी याज्ञिक क्रियाविधान संकेतित करते हुए लिखा है—'तामाच्छिनत्ति। इषे त्वा ऊर्ज्जे त्वा इति। वृष्ट्यै तदाह यदाह यदाव इषे त्वेति[2]....'इत्यादि।

आचार्य महीधर ने अपने भाष्य के समर्थन में इन दोनों ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रमाण उद्धृत किए हैं। अब स्वामी दयानन्द को यदि शतपथ ब्राह्मण एवं श्रौतसूत्र की याज्ञिक प्रक्रिया पूर्णरूप से स्वीकार है, जैसा कि उन्होंने अपनी भाष्यभूमिका में माना है, तो उन्हें इस प्रक्रिया से सम्बद्ध अर्थ भी स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उन्हें इस याज्ञिक प्रक्रिया में भी मन्त्रार्थ कैसा हो इसको स्पष्ट करने के लिए कुछ मन्त्रों का अर्थ इस प्रक्रिया में भी देना चाहिए था। वैसे इस सन्दर्भ में एक अन्य दृष्टिकोण से विचार करने पर स्वामी दयानन्द का पक्ष भी किसी रूप में अपनी जगह उचित प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में हमें यहाँ पहले यह जानना आवश्यक है कि वेदों के मन्त्रों का निर्माण क्या यज्ञ की प्रक्रिया को लक्ष्य करके हुआ या वेद-मन्त्र पहले से ही विद्यमान थे पुनः यज्ञ याग आदि की कल्पना के साथ ही उनका यज्ञों में विनियोग पश्चात् किया गया। इन दोनों पक्षों में स्वामी दयानन्द को क्या मान्य है?

स्वामी दयानन्द वेदों की रचना केवल यज्ञ के लिए हुई है या इनका मात्र याज्ञिक प्रक्रिया में विनियोग एवं तत्परक ही अर्थ है, ऐसा नहीं मानते हैं। वे यह मानते हैं[3] कि इन मन्त्रों का आध्यात्मिक आदि त्रिविध अर्थ सम्भव होने के साथ ही व्यावहारिक अर्थ एवं ज्ञान-विज्ञान की समस्त बातें वेदों में निहित हैं तथा परमात्मा द्वारा प्रकाशित समस्त विद्याओं के मूलभूत ग्रन्थ वेद के इन मन्त्रों की रचना या आविर्भाव के बाद यज्ञकार्य में भी इनका विनियोग ऋषियों ने बाद में कर दिया है। अतः स्वामी दयानन्द की दृष्टि में आचार्य महीधर का अर्थ पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों का निर्माण जैसे यज्ञक्रिया को ही सम्पादित करने के लिए हुआ है तथा प्रत्येक मन्त्र का अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया के खूंटे से ऐसा बँधा है

---

१. कात्यायनश्रौतसूत्र ४।२।१-३।

२. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १।७।१।२।

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—वेदविषयविचार, पृ० ४७-५४।

कि उसके अर्थान्तर की कल्पना भी असम्भव जान पड़ती है। यही कारण है कि वे यह नहीं स्वीकार करते कि याज्ञिक प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि 'इषे त्वा, ऊर्ज्जे त्वा' का अर्थ शाखा को सम्बोधित करके ही किया जाय। उनके अनुसार मन्त्रों का उच्चारण यज्ञक्रिया में मात्र वेदों के स्मरण पारायण के लिए है[1] तथा याज्ञिक क्रिया के साथ उनका विनियोग भी वही सार्थक व प्रामाणिक है जहाँ उस क्रिया का साक्षात् अर्थ-सम्बन्ध उस वेदमन्त्र के साथ हो[2]। उदाहरणतः जैसे—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन॥—(मा० सं० ३।१)

इस मन्त्र का अग्न्याधान में विनियोग करना निश्चित ही प्रामाणिक व मान्य हो सकता है।

इस प्रकार मेरे विचार से स्वामी दयानन्द को कात्यायन-श्रौतसूत्र में प्रदत्त प्रक्रिया का अविकल आश्रय लेकर याज्ञिक अर्थ करना, जैसा कि आचार्य महीधर ने किया है, कथमपि स्वीकार्य नहीं। यद्यपि उन्होंने याज्ञिक प्रक्रिया में मन्त्रों का कोई पृथक् अर्थ तो नहीं किया है किन्तु उनके वे मन्त्रार्थ जो किसी रूप में यज्ञ-विषय के प्रतिपादक हैं या उसके महत्त्व को द्योतित करते हैं, जैसा कि यही उपर्युद्धृत तृतीय अध्याय का प्रथम मन्त्र, याज्ञिक अर्थवाला कहा जा सकता है। इस धारणा की पुष्टि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रदत्त महीधर के अश्वमेधप्रकरणस्थ मन्त्रों के अर्थों का खण्डन देखकर भी हो जाती है जिसमें प्रकारान्तर से उन्होंने श्रौतसूत्रों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदविरुद्ध याज्ञिक कल्पना एवं विनियोग को भी अमान्य करते हुए उन्हें अप्रामाणिक मानने का अनुपम साहस किया है। इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन हमने अन्तिम-आठवें-अध्याय में किया है।

इस संहिता के अधिकांश मन्त्रों की केवल याज्ञिक अर्थवत्ता और स्वामी दयानन्द के अर्थों में अस्वाभाविकता

आचार्य महीधर द्वारा इस संहिता के मन्त्रों का विनियोग एवं यज्ञ कल्पनानुरूप अत्यन्त सुदृढ़ एवं शृङ्खलाबद्ध रूप में किए गए अर्थों को देखकर भले ही हमें

१. क—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—वेदविषयविचार पृ० ६४-६६।
ख—सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ० ४२-४३।
२. 'एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुर्वाभिवदति।'—(गोपथ ब्राह्मण २।२।६ एवं स्वल्प पाठभेद से ऐतरेय ब्राह्मण १।४)।

यह भ्रम हो कि क्या इन मन्त्रो का अर्थ केवल याज्ञिकप्रक्रियापरक ही सम्भव है तथा क्या आचार्य महीधर इन मन्त्रों का अर्थ केवल याज्ञिक ही मानते हैं, किन्तु यथार्थ में ऐसी कोई बात है नहीं। 'अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा०[1]' इस मन्त्र का आधियाज्ञिक अर्थ देने से पूर्व उन्होंने 'अधिदैवं चन्द्रात्मना स्तूयते' ऐसा लिखकर आधिदैविक अर्थ भी प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार इस संहिता के सम्पूर्ण ४० वें अध्याय का तो भाष्य ही उन्होंने केवल आध्यात्मिक प्रक्रिया में किया है। अतः स्पष्ट है कि वे मन्त्रों के आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ की भी सत्ता स्वीकार कर रहे हैं।

इस सन्दर्भ में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य महीधर ने ४० वें अध्याय के मन्त्रों का जो आध्यात्मिक अर्थ किया उसमें कारण यह था कि उन मन्त्रों को वे यज्ञिय कर्मकाण्ड में विनियुक्त न मानकर उनका मुख्य प्रयोजन ज्ञानकाण्ड में मानते हैं तथा शेष ३९ अध्यायों में उन्होंने जहाँ कहीं भी एकाधिक स्थलों पर किसी मन्त्र का आधिदैविक अर्थ दिया भी है तो वह उन्हीं मन्त्रों का है जो मूलतः ऋग्वेद में भी उपलब्ध होते हैं। फलतः देवस्तुतिप्राधान्य के कारण आधियाज्ञिक अर्थ से भिन्न उनका आधिदैविक अर्थ भी सम्भव है (जैसे पूर्वोद्धृत 'अयं वेनश्चोदयत्०' मन्त्र ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १२३ वें सूक्त में पठित है)। किन्तु यजुर्वेद की इस माध्यान्दिन शाखा के वे अधिकांश मन्त्र जो याज्ञिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही संगृहीत किये गए प्रतीत होते हैं, या हम यह कहें कि जिनकी रचना औपासनहोम आदि पाकयज्ञों, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास आदि हविर्यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयागों की दृष्टि से ही हुई है, तो उनका अर्थ भी निश्चित ही मुख्य रूप से याज्ञिक ही होगा। इस अवस्था में हमको यह मानना होगा कि पूर्वकल्पित यज्ञिय कर्मकाण्ड को दृष्टि में रखकर ही इस संहिता के अनेक मन्त्रों की रचना होने के कारण और यज्ञक्रिया निष्पादन के समय तत्तत् स्थलों में मन्त्रों का उच्चारण क्रियानिष्पत्ति के साथ ही अपेक्षित होने के कारण उन-उन मन्त्रों का अर्थ उन-उन क्रियाओं के साथ पूर्ण रूप से तादात्म्य रखता है जिसके बिना मन्त्रों का अर्थ कुछ अवास्तविक या बलात् कल्पित किया गया प्रतीत होता है। यही वह स्थिति है जब आचार्य महीधर का याज्ञिक अर्थ स्वामी दयानन्द के अर्थ की अपेक्षा अधिक युक्त प्रतीत होने लगता है। इस सन्दर्भ को हम प्रथम अध्याय के तीसरे मन्त्र के दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रदत्त अर्थ को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट कर रहे है। मन्त्र है—

'वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनात वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः।'—(माध्यन्दिन संहिता १।३)

---

१. माध्यन्दिन संहिता ७।१६।

महीधर के अनुसार मन्त्र का अर्थ—(अध्वर्यु पवित्रसंज्ञक दर्भ से बद्ध शाखा को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि) हे शाखापवित्र ! (वसोः पवित्रम् असि) तुम इन्द्र देवता के निवासभूत इस क्षीर के शोधक हो (शतधारम् सहस्रधारम्) तुम सैकड़ों-हजारों धाराओं से सम्पन्न हो (देवस्त्वा सविता) हे क्षीर ! सबके प्रेरक देवता परमात्मा (वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा) यज्ञ को सुन्दर रीति से पवित्र करनेवाले तथा शतधारा से सम्पन्न इस पवित्र = दर्भ-विशेष से तुम्हें (पुनातु) पवित्र करें। हे दोग्धा ! तुमने (काम् अधुक्षः) किस गाय को दुहा है ?

अब इस मन्त्र से सम्बद्ध याज्ञिक प्रक्रिया का विस्तृत विवरण देखिए जो शतपथ-ब्राह्मण एवं कात्यायन-श्रौतसूत्र में निरूपित है[1]। इस संहिता के प्रथम अध्याय में दर्शपौर्णमासयाग-सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन है। इस यज्ञ में अध्वर्यु नामक ऋत्विज् वृक्ष की शाखा को काटकर उसमें पवित्रसंज्ञक दर्भ को बाँधता है तथा उसे उस स्थाली के ऊपर रखता है जिसमें यज्ञिय दुग्ध के लिए गोदोहन किया जाना है। अत्र इसके पश्चात् उस दर्भयुक्त शाखा को सम्बोधित करता हुआ वह प्रस्तुत 'वसोः पवित्रमसि' आदि मन्त्र पढ़ता है। यज्ञ में दर्भ की पवित्र संज्ञा इसलिए है कि जब उस स्थालीपात्र में दुग्ध डालेंगे तो उस दर्भ के मध्य से छनता हुआ दुग्ध शुद्ध या पवित्र होकर अनेक धाराओं में विभक्त होता हुआ स्थाली तागसें है। इसीलिए उस पवित्र को 'शतधारम्' तथा 'सहस्रधारम्' पद से विशेषित भी किया गया है। पुनः अध्वर्यु यज्ञ में दोहन के लिए उपस्थित गायों के सम्बन्ध में दोग्धा से पूछता है कि—'काम् अधुक्षः' अर्थात् तुमने किस गाय को दुहा है। इस प्रश्न के उत्तर में जब दोग्धा कहता है कि मैंने अमुक गाय को दुहा है तो अध्वर्यु अगले अर्थात चौथे मन्त्र से उन तीन गायों का नामकरण करता हुआ उसका उच्चारण करता है—'सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया·······' आदि। अर्थात् इस प्रथम गाय का नाम विश्वायु है, दूसरी का विश्वकर्मा तथा तीसरी का विश्वधाया आदि·······।

इसी प्रकार आगे समस्त अध्यायों के मन्त्र आचार्य महीधर के भाष्य में याज्ञिक प्रक्रिया में बँधे हुए अत्यन्त स्वाभाविक गति से अपना अर्थ अभिव्यक्त करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। इन अर्थों एवं इसके साथ ब्राह्मण-ग्रन्थ व श्रौतसूत्र में प्रदत्त मन्त्रसम्बद्ध विवरण को पढ़ते हुए यही लगता है कि जैसे इन मन्त्रों की रचना इन्हीं याज्ञिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में ही हुई हो। किन्तु स्वामी दयानन्द द्वारा इस अर्थ को न स्वीकार करने का कारण यह है कि इस प्रकार यजुर्वेद के

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १।७।१।१४-१७ ;
कात्यायनश्रौतसूत्र ४।२।२१-२७।

अधिकांश मन्त्र केवल याज्ञिक प्रक्रिया में ही सार्थक होने के कारण अन्यत्र उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाएगी। जब कि उनकी मान्यता यह है कि इन मन्त्रों के आध्यात्मिक, व्यावहारिक आदि अर्थ भी हैं जिसमें परमेश्वर के द्वारा मानव को विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदि का उपदेश दिया गया है। साथ ही इन मन्त्रों की रचना मानव सृष्टि के बहुत बाद यज्ञ आदि की कल्पना के आधार पर होने के कारण मन्त्रों के ईश्वरकृत न होने के साथ ही इस वेदज्ञान के सृष्टि के प्रारम्भिक काल में न प्रकाशित होना रूपी दोषों का आक्षेप भी होने लगेगा। अत: इन सब बातों के निवारणार्थ उन्होंने इस मन्त्र का जो अर्थ किया वह वास्तव में अनठा तथा अब तक के किसी भी भाष्यकार द्वारा प्रदत्त अर्थ की लीक से हटकर कुछ विलक्षण ही प्रतीत होने के कारण अद्भुत बन गया है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रिया प्रसंग मे भिन्न होते हुए भी इस अर्थ को हम याज्ञिक वेदार्थ केवल इसलिए ही कहेंगे कि इसमें यज्ञ का महत्त्व वर्णित होने के कारण इसका अर्थ यज्ञ सम्बन्धित है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ—(वसो: पवित्रम असि) यज्ञ शुद्धिकारक कर्म है (शतधारम, सहस्रधारम्) यह बहुत प्रकार से ब्रह्माण्ड को धारण करता है (देव: सविता) वसु आदि ३३ देवों को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर (त्वा पुनातु) उस यज्ञ को पवित्र करे, हे परमेश्वर ! आप (वसो: पवित्रेण शतधारेण सुप्वा) पवित्रता के निमित्त बहुत विद्याओं के धारण करनेवाले वेद से या यज्ञ से पवित्र कीजिए (काम् अधुक्ष:) हे मनुष्य ! तू किस-किस वाणी को दूहना चाहता है ?

इस अर्थ की अस्वाभाविकता—स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त इस अर्थ की तुलना आचार्य महीधर के पूर्वोद्धृत अर्थ से करने पर स्पष्ट ही उनका यह अर्थ तथोक्त याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रक्रियाओं से बिलकुल असम्बद्ध होने के कारण विलक्षण होते हुए भी बड़ा अटपटा, अस्वाभाविक या बलात् कल्पित सा प्रतीत होता है जब कि महीधर के अर्थ में यह बात नहीं है स्वामी दयानन्द के इस अर्थ में निम्न सात बातें ऐसी हैं जो महीधर के अर्थ की अपेक्षा उनके अर्थ की असहजता या दुर्बलता को प्रकट करती हैं—

(१) **वसो:**—यह शब्द मन्त्र में षष्ठ्यन्त है जबकि इसका प्रथमान्त अर्थ करने के लिए इसमें विभक्ति विपरिणाम का आश्रय लिया गया है।

(२) **पवित्रम्**—यह नपुंसकलिंग शब्द है जबकि इसका विशेष्य 'वस्तु' शब्द पुल्लिंग है। अत: इसके साथ सामञ्जस्य करने के लिए विशेष्य के रूप में 'कर्म' शब्द का अध्याहार करना पड़ा है।

(३) **असि**—मध्यम पुरुष की विभक्ति में विद्यमान इस शब्द का अर्थ प्रथम पुरुष में करने के लिए व्यत्यय का आश्रय लेना पड़ा है।

(४) **शतधारम्, सहस्रधारम्**—इसका अर्थ स्वामी दयानन्द ने 'शतं बहुविधं विश्वं ब्रह्माण्डं धरति' ऐसा किया है जिसमें अर्थ की स्पष्टता के लिए विश्व या ब्रह्माण्ड को शतं के विशेष्य के रूप में अध्याहृत करना पड़ता है। इसके साथ ही सबसे बड़ा दोष इसमें स्वरसम्बन्धी है। इस अर्थ में उपपद समास मानना पड़ेगा। फलतः 'गतिकारकोपदात् कृत्[1]' इस सूत्र से उत्तरपद को प्रकृति स्वर प्राप्त होने से यह शब्द अन्तोदात्त होगा जब कि मन्त्र मे यह मध्योदात्त (पूर्वपदान्तोदात्त) है। अतः यदि हम इसमें बहुव्रीहि समास माने—'शतं धारा यस्मिन्'—जैसा कि आचार्य महीधर ने माना है, तभी 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (अष्टा० ६।२।१) से पूर्वपद को प्रकृति स्वर होने के कारण यह शब्द प्रत्ययस्वर ('आद्युदात्तश्च'—अष्टा० ३।१।३) से 'शत' शब्द के 'त' के उदात्त होने पर अपने अभीष्ट स्वर को प्राप्त कर सकेगा।

५) **त्वा**—'त्वा' का अर्थ 'तं यज्ञम्' किया है। युष्मद् शब्द को 'तद्' शब्द में परिवर्तित करके यहाँ अर्थ करना पड़ा है। इस परिवर्तन में कोई प्रमाण भी नहीं है।

(६) **वसोः**—यहाँ भी प्रथमार्थ में षष्ठी विभक्ति को माना है।

(७) **काम् अधुक्षः**—यहाँ 'काम्' इस प्रश्नवाचक शब्द से 'वाचम्' अर्थ किस प्रकार गृहीत किया है यह स्पष्ट नहीं है। आचार्य महीधर ने 'काम्' से जो 'गाम्' अभिप्रेत किया है वह शतपथ ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र में प्रदत्त यज्ञविधि में पूर्व से ही विद्यमान होने के साथ ही इस मन्त्र से पूर्व 'इषे त्वा०' आदि प्रथम मन्त्र में भी 'अघ्न्या' यह गोवाची पद वर्त्तमान है, जिसका सम्बन्ध इस तीसरे मन्त्र से सम्भव है। किन्तु स्वामी दयानन्द के अर्थ में तो यह 'वाचम्' शब्द अकस्मात् टपक पड़ा है। यदि हम यह कहें कि पूर्व मन्त्रस्थ 'अघ्न्या' पद का अर्थ गो' है तथा यह 'गो' शब्द निघण्टु में वाङ्नामों में पठित होने से यहाँ हम 'वाक्' अर्थ गृहीत कर लेंगे, तो यह बेतुका और दीर्घ प्रयत्न होने के साथ ही अप्रासगिक भी होगा। क्योंकि अभी तक तो मन्त्र के अर्थ में यज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन चल रहा है फिर एकाएक यह 'वाचम्' का प्रसंग कहाँ से आ जाएगा?

इसी प्रकार 'अधुक्षः' का अर्थ स्वामी जी ने 'दोग्धुमिच्छसि, प्रपूरयितुमिच्छसि' किया है जिसका हिन्दी अनुवाद उनके ही शब्दों में यह है—"हे विद्वन् पुरुष तू काम्) वेद की श्रेष्ठ वाणियों में से किस वाणी के अभिप्राय को (अधुक्षः) अपने मन में पूरण करना अर्थात् जानना चाहता है।" किन्तु यह अर्थ भी बड़ा ही

---

१ पाणिनीय अष्टाध्यायी ६ २।१३९।

बेतुका है । यहाँ निर्धारणरूपी अर्थ की कल्पना ही करनी पड़ती है । साथ ही दुह धातु भी अपने स्वाभाविक अर्थ में नहीं है ।

इसके बाद 'सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः' आदि चौथे मन्त्र की व्याख्या से पूर्व इसका सम्बन्ध तृतीय मन्त्र से स्थापित करने के लिए स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि—'अथ त्रिविधस्य प्रश्नस्य त्रीण्युत्तराणि उपदिश्यन्ते' । किन्तु 'काम् अधुक्षः' इस वाक्य में तो एक ही प्रश्न है तीन प्रश्न है ही नहीं । याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार महीधर के अर्थ में प्रत्येक गाय को दुहने के बाद जब अध्वर्यु दोग्धा से 'काम् अधुक्षः ?' यह प्रश्न करता है तथा जब दोग्धा 'अमुं गाम्' ऐसा उत्तर देता है तब अध्वर्यु 'सा विश्वायुः' यह बोलकर उसका नामकरण करता है । यही प्रक्रिया तीनों गायों के साथ क्रमशः दुहरायी जाती है तथा उनके पृथक्-पृथक् तीन नामकरण होते हैं जो मन्त्र में विद्यमान है ।

स्वामी दयानन्द ने विश्वायु, विश्वकर्मा और विश्वधाया ये तीन वाणी के भेद माने हैं तथा उनका व्याख्यान अपनी कल्पना के अनुसार किया है जिसका कोई प्रामाण्य नहीं । साथ ही इसी चौथे मन्त्र के अन्त में 'विष्णो हव्यं रक्ष' यह वाक्य है जिसमें 'विष्णो !' यह सम्बोधन परमेश्वर के लिए है जिससे रक्षा की प्रार्थना करते हुए इसका अर्थ किया है—'हव्यं पूर्वोक्तयज्ञसम्बन्धि दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा रक्ष पालय ।' यहाँ यह ध्यातव्य है कि वाणी के प्रकरण के बाद पुनः इसी मन्त्र में यज्ञ का प्रकरण कैसे आ गया ? इससे यही ध्वनित हुआ कि पहले भी यज्ञ का प्रकरण था, अब भी यज्ञ का प्रकरण है जब कि बीच में वाणी सम्बन्धी प्रश्नोत्तर असम्बद्ध है । 'हव्यम्' पद का धात्वर्थ के अनुसार कई अर्थ करने का स्वामी जी का प्रयत्न भी उस शब्द के किसी भी अर्थ को ठीक ढंग से इस प्रकरण में अभिव्यक्त कर अपने को सम्बद्ध न कर पाने के कारण असफल हो गया है तथा पूरा मन्त्रार्थ उखड़ा-उखड़ा सा प्रतीत होता है । इस प्रकार यद्यपि स्वामी दयानन्द न यहाँ मन्त्र से सम्बद्ध परम्परागत याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रक्रिया को पृथक् रखकर अर्थ करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है किन्तु वे उसमें पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाये हैं । मन्त्र के याज्ञिक विनियोगजन्य अर्थ में जैसी स्वाभाविकता और सहजता दृष्टिगोचर होती है वैसी सहजता उनके अर्थ में नहीं आ पायी है । इसी कारण एवंविध अनेक मन्त्रों के सन्दर्भ में यह धारणा होती है कि कहीं इनका संकलन मुख्यतः याज्ञिक विनियोग को ही लक्ष्य में रखकर तो नहीं किया गया है ?

यह स्थिति यजुर्वेद में अनेकत्र विद्यमान है । जैसे सम्पूर्ण २४ वें अध्याय का विनियोग आचार्य महीधर ने शतपथ एवं कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार अश्वमेध प्रकरण में माना है जिसमें विभिन्न देवताओं के लिए विभिन्न पशुओं का यूपों में

बन्धन का विधान है। स्वामी दयानन्द इस अध्याय का अर्थ करते समय लिखते हैं कि मनुष्यों को पशुओं से कैसा उपकार लेना चाहिए इस विषय का इसमें उपदेश किया जाता है। किन्तु अपने भाष्य में मन्त्र का अर्थ करते समय वे मन्त्र के समस्त पदों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नहीं कर सके हैं और न ही इन पशुओं से उपकार लेने की बात मन्त्र के किन पदों से अभिव्यक्त हो रही है यह स्पष्ट हो सका है। जैसे इस अध्याय का प्रथम मन्त्र है—

'अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात् सारस्वती मेषी अधस्ताद् हन्वोराश्विनौ········इन्द्राय स्वपस्याय···आदि।'—(माध्यन्दिन-संहिता २४।१)

इसका अर्थ स्वामी जी ने जो लिखा है वह बड़ा ही अव्यवस्थित तथा किसी स्पष्ट अभिव्यक्ति से विहीन है। जैसे—'हे मनुष्यों! तुम (अश्वः) शीघ्रगामी घोड़ा (तूपरः) हिंसक पशु (गोमृगः) गौ के समान गवय (ते) वे (प्राजापत्याः) सूर्य देवतावाले पशु (कृष्णग्रीवः) काली गर्दनवाला पशु (आग्नेयः) अग्नि देवतावाला पशु (पुरस्तात्) आदि में (रराटे) ललाट के निमित्त (मेषी) शब्द करनेवाली मेष की स्त्री एवं (सारस्वती) सरस्वती देवतावाली पशु (अधस्तात्) नीचे की ओर (हन्वोः) हनु=ढोढ़ी ···(स्वपस्याय इन्द्राय) उत्तम कर्मवाले ऐश्वर्ययुक्त पुरुष के लिए संयुक्त करो।

इस मन्त्रार्थ में 'पुरस्तात्, रराटे, सारस्वती' प्रभृति शब्दों का सम्बन्ध दयानन्द-भाष्य में पदार्थ, भावार्थ, अन्वय आदि पढ़ने से भी स्पष्ट नहीं हो पाता है कि किसके साथ क्या है तथा ये शब्द किस प्रयोजन से मन्त्र में विद्यमान हैं। स्वामी दयानन्द के अर्थ में इनकी कोई संगति ही नहीं प्रतीत होती है जब कि इस सबके विपरीत महीधर का याज्ञिक प्रक्रियायुक्त मन्त्रार्थ अत्यन्त स्पष्ट और सन्देह-रहित अर्थवाला है। इस अध्याय के मन्त्रों का अर्थ करने से पूर्व उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि इन मन्त्रों में अश्वमेध यज्ञ में विभिन्न पशुओं को किन-किन देवताओं के लिए कहाँ किस प्रकार बाँधे, यही बताया गया है—

'श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां देवतासम्बन्धविधायिनोऽध्यायेनोच्यन्ते। तत्राश्वमेधे एकविंशतिर्यूपाः सन्ति तत्र मध्यमो यूपोऽग्निष्टोमसंज्ञस्तत्र सप्तदश पशवो नियोजनीयाः। तान् देवतासम्बन्धकथनपूर्वकमाह।'—(मा० सं० २४।१ महीधरभाष्य)

अब इस मन्त्र का महीधरकृत अर्थ द्रष्टव्य है—

(अश्वः तूपरः गोमृगः) अश्व शृङ्गहीन गवय (ते प्राजापत्याः) इन्हें प्रजा-

पति देवता के लिए 'प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि मन्त्र बोलकर बाँधे, (कृष्णग्रीव आग्नेयो ललाटे पुरस्तात्) काले रंग के गलेवाला अज अग्निदेवता के लिए, उस अश्व के आगे ललाट की ओर बांधे, (सारस्वती मेषी हन्वोः अवस्तात्) उस अश्व के हनु की ओर सरस्वती देवता के लिए भेड़ को बाँधे''''आदि ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस संहिता के अनेक मन्त्रों की रचना, उपयोगिता एवं उनका विनियोग विभिन्न यज्ञों की क्रियाविधि के साथ इस प्रकार सम्बद्ध है जिसके बिना मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है । इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण भी है जो महीधर के अर्थ को प्रामाणिक बनाता है । यद्यपि स्वामी दयानन्द ने इस पारम्परिक याज्ञिक प्रक्रिया से हटकर इन मन्त्रों का भिन्न अर्थ देने का प्रयास अवश्य किया है जो किसी रूप में स्तुत्य भी है, किन्तु वे उनकी संगति व अपने मन्त्रार्थ में उन पदों की सन्तोषजनक सम्बद्धता नहीं दे पाए हैं जिसके कारण उनका अर्थ सहज ही हृदयंगम नहीं हो पाता ।

याज्ञिकविधि के अनेक प्रतीक और इस संहिता में भी ब्राह्मणों का मिश्रण

स्वामी दयानन्द की यह मान्यता है कि शुक्ल यजुर्वेद की यह संहिता ब्राह्मण भाग से पूर्णतया अमिश्रित या विशुद्ध मन्त्रपाठ रूप में ही विद्यमान है । किन्तु इसके विपरीत आचार्य महीधर ने इस संहिता के अनेक स्थलों को कर्मकाण्ड की दृष्टि से पठित मन्त्रप्रतीक के रूप में ही स्मृत किया है तथा अनेक अंशों को ब्राह्मण-रूप में ही स्वीकार कर उसे यज्ञिय कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में ही इस संहिता में संगृहीत किया गया मानते हैं । जैसे पूर्वचर्चित २४ वें अध्याय को ही सम्पूर्ण रूप से आचार्य महीधर ने ब्राह्मण माना है जिसका तात्पर्य केवल अश्वमेध यज्ञ में यूप में बन्धन के समय पशु एवं तद्देवता-सम्बन्धों को द्योतित करना मात्र है। इसी प्रकार उन्होंने अध्याय १९ में १२ वें से ३१ वें मन्त्र तक तथा अध्याय ३० में ५ से अध्यायान्त तक के मन्त्रों को ब्राह्मण के रूप में स्वीकृत किया है[1] । इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि इन मन्त्रों को शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र में भी ब्राह्मण के रूप में ही स्वीकार किया गया है[2] । २४ वें अध्याय के समान ही ३० वें अध्याय के ५ वें मन्त्र से अध्यायान्त तक के मन्त्रों के लिए महीधर ने स्पष्ट लिखा है कि ये मन्त्र पुरुषमेध में किन-किन पुरुषों को किस-किस देवता के निमित्त बांधे, इसके ही द्योतक हैं । इस प्रकार इन मन्त्रों में विद्यमान द्वितीयान्त पद पुरुष और चतुर्थ्यन्त पद देवतावाची हैं[3] ।

---

१. महीधरभाष्य १९।१२ तथा ३०।५ के प्रारम्भिक अंश ।
२. शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र २।३३, ३।५, ३।१३ ।
३. द्रष्टव्य—माध्यन्दिन-संहिता ३०।५ का महीधरभाष्य ।

स्वामी दयानन्द इन्हें ब्राह्मण नहीं मानते हैं किन्तु इनका जो अर्थ इन्होंने अपने भाष्य में लिखा है वह पुरुषमेध या अश्वमेध में द्रव्यदेवता-सम्बन्धाभिधायी न होने से उतना वास्तविक और युक्त नहीं प्रतीत होता जितना कि आचार्य महीधर का। महीधर के अतिरिक्त इस संहिता के एक अन्य प्राचीन भाष्यकार आचार्य उवट भी इन मन्त्रों को अश्वमेध यज्ञ में द्रव्यदेवतासम्बन्धाभिधायी ही मानते हैं[1]। ३० वें अध्याय के प्रारम्भिक चार मन्त्रों को छोड़कर शेष का भाष्य भी उन्होंने इसीलिए नहीं किया कि उनमें केवल देवता और द्रव्यरूप पुरुष का ही सम्बन्ध द्योतित है जो कि मुख्यतया ब्राह्मण का ही विषय होने से मन्त्र भाग में कीर्तित नहीं होता।

इसी प्रकार इस संहिता में प्रदत्त अनेक मन्त्रों के संक्षिप्त प्रतीकों का प्रयोजन भी केवल यज्ञिय कर्मकाण्ड से ही प्रतीत होता है। जैसे ३२ वें अध्याय के तीसरे एवं सातवें मन्त्र तथा ३३ वें अध्याय के २१, २७ एवं ३३ वें मन्त्र में भी विभिन्न मन्त्रों की प्रतीकें दी हुई हैं जिनका सन्दर्भ सम्बन्धित यज्ञ में उन-उन मन्त्रों के उच्चारण के लिए है। 'तं प्रत्नथा०' और 'अयं वेनश्चोदयत्०[2]' मन्त्रों की प्रतीकें तो कई स्थलों, जैसे ३३ वें अध्याय के मन्त्र २१, ३३, ४७, ५८, ७३ आदि पर दी हुई हैं। निश्चय ही हम यहाँ इन्हें सम्बद्ध यज्ञिय कर्मकाण्ड में उच्चरित होने के लिए ही उद्धृत किया मानेंगे। अतः इनका व्याख्यान भी उस यज्ञिय सन्दर्भ में ही होना चाहिए। स्वामी दयानन्द यद्यपि अध्याय ३२ के मन्त्र ३ में प्रदत्त प्रतीकों को संयोगवश उस मन्त्र के सन्दर्भ में ही व्याख्यात करने में कथन्चित् सफल हो गये हैं किन्तु ३३ वें अध्याय के २१ वें मन्त्र में प्रदत्त प्रतीकों को उन्हें भी किसी कर्मकाण्ड में विशेष रूप से उच्चारण के लिए प्रदत्त मन्त्र-संकेत ही मानना पड़ा है। इससे यही ज्ञात होता है कि यह शुक्लयजुर्वेद की संहिता भी केवल विशुद्ध मन्त्रों का पाठ मात्र नहीं है प्रत्युत इसके अनेक स्थल यज्ञिय कर्मकाण्ड की विशेष प्रक्रिया से सम्बद्ध करके संगृहीत किए गए हैं। वैसे भी यजुर्वेद का मुख्य विषय यज्ञिय कर्मकाण्ड ही रहा है[3] जो कि इसके नामकरण से भी ध्वनित है। अतएव स्वाभाविक है कि इसमें यत्र कुत्रचित् याज्ञिक प्रक्रिया से सम्बद्ध ब्राह्मणात्मक मन्त्र एवं कर्मकाण्ड में उपनिबद्ध मन्त्र-प्रतीकें मिल जायँ। ऐसी स्थिति में उनकी व्याख्या में भी हम उन यज्ञिय सन्दर्भों की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में इस संहिता

---

१. माध्यन्दिन-संहिता २४।१ का उवट भाष्य।

२. माध्यन्दिन-संहिता ७।१२, १६।

३. "यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः"—ऋग्वेद १०।७१।११ तथा इस मन्त्र पर निरुक्त १।२० में दुर्गटीका द्रष्टव्य।

के अष्टम अध्याय का दूसरा मन्त्र विशेष रूप से उल्लेख्य है। इस मन्त्र का 'कदा-चन' से लेकर 'पृच्यते' पर्यन्त अंश ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है[1] जिससे यह ज्ञात होता है कि यह ऋचा मूलतः ऋग्वेद की है जो यहाँ कर्मकाण्ड में अग्निष्टोम यज्ञ वाले मन्त्रों के साथ संकलित की गई है। इस संहिता में इसके आगे 'आदित्ये-भ्यस्त्वा' यह पाठ भी मिलता है जो कि निश्चित ही किसी याज्ञिक विधि की सम्पन्नता के लिए उस ऋचा के साथ जोड़ा गया है। भाष्यकार उवट एवं आचार्य महीधर ने भी इस अंश को यजुः माना है तथा समग्र ऋचा का व्याख्यान 'आदित्ये-भ्यस्त्वा' (गृह्णामि) इस यजुष् के द्वारा संकेतित यज्ञियपात्र-ग्रहणविधि की आकांक्षा के सन्दर्भ में याज्ञिक प्रक्रिया में ही किया है।

इस संहिता में कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनके मध्य अनेक सर्वनाम शब्द विद्यमान हैं। ये सर्वनाम शब्द मन्त्रों में इसलिए प्रदत्त हैं कि जब सम्बद्ध यज्ञों में इन मन्त्रों का उच्चारण किया जाय तो सर्वनाम शब्दों के स्थान पर इच्छानुसार यजमान के सम्बन्धियों के नाम वहाँ उच्चरित कर दिए जायें। जैसे अध्याय ९ के ४० वें मन्त्र (जो राजसूय यज्ञ में विनियुक्त है) का उत्तरार्ध है—'इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विष एष वोऽमी राजा०' आदि। यहाँ सर्वनामवाची अमुष्य, अमुष्यै आदि शब्दों के स्थान पर यजमान के माता-पिता आदि के नामों का अध्याहार करना पड़ता है। इस प्रकार इस मन्त्रांश का प्रयोजन केवल यज्ञ में ही है तथा ये उस याज्ञिक सन्दर्भ में ही तद्विभक्तियुक्त नामोच्चार का संकेत करते हैं। इनका कोई अन्य प्रयोजन नहीं। इसी कारण स्वामी दयानन्द ने जो इस तथ्य को उपेक्षित करके इन मन्त्रों की व्याख्या की है वह अस्वाभाविक होने से बुद्धि-ग्राह्य नहीं प्रतीत होती।

दयानन्दीय अर्थों की व्यावहारिकता एवं लोकोपयोगिता

स्वामी दयानन्द की जो यह मान्यता रही कि वेदों की चरितार्थता केवल यज्ञिय कर्मकाण्डों तक में सीमित नहीं है, प्रत्युत इनमें सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल तथा लोकोपयोगी व्यवहार आदि का भी समावेश है,[2] अपनी इसी

---

१. ऋग्वेद संहिता ८।५१।७।

२. यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित्प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥
—महाभारत, अनुशासन पर्व १२२।४।

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति १२।१।

निष्ठा के कारण उन्होंने समस्त वेदमन्त्रों का याज्ञिकविधिविनियोगविहीन अर्थ करने का निश्चय किया तथा वे उसमें पर्याप्त सफल भी हुए। यद्यपि परम्परागत याज्ञिक कर्मकाण्ड पद्धति में न बँधकर उन्होंने जो अर्थ किया है वह कहीं-कहीं अस्वाभाविक अवश्य हो गया है किन्तु सर्वत्र ही ऐसा नहीं है। कहीं-कहीं उनका अर्थ अत्यन्त संयत तथा युक्तिवद्ध भी प्रतीत होता है। याज्ञिक पद्धति से विहीन उनके ये अर्थ निश्चय ही व्यावहारिक होने से लोकोपयोगी हैं जिससे मनुष्य को वेदमन्त्रों के उपदेश अपने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के निकट प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में हम इस संहिता के आठवें अध्याय के कुछ मन्त्रों की चर्चा करेंगे जिसमें स्वामी दयानन्द ने सम्पूर्ण अध्याय में गृहस्थ धर्म सम्बन्धी उपदेशों की सत्ता मानते हुए मन्त्रों का तत्परक ही अर्थ किया है। इस अध्याय का प्रथम मन्त्र है—

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा ।
विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥

आचार्य महीधर ने इस मन्त्र का जो अर्थ दिया है वह केवल याज्ञिक विधि के सन्दर्भ में है जिसकी उपयोगिता केवल उस कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में ही प्रकट होती है अन्यत्र नहीं। यह मन्त्र अग्निष्टोम यज्ञ से सम्बद्ध है जिसमें प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज द्रोणपात्र से आदित्यग्रह नामक यज्ञपात्र में सोमरस को ग्रहण करता है। इसका होम करने के वाद शेष अंश को वह आदित्यस्थाली में रखता है[1] जिसको 'उपयाम' भी कहते हैं। इस मन्त्र का उच्चारण उसी सोम को, जो कि उपयामपात्र में रखा हुआ है, लक्षित करके यज्ञ में किया जाता है। अतः महीधर के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ निम्न लिखित है—

हे सोम! तुम (उपयामगृहीतः असि) इस उपयामपात्र में गृहीत हो (आदित्येभ्यस्त्वा) मैं तुमको आदित्य देवता के लिए ग्रहण करता हूँ (विष्णो उरुगाय!) वहुतों द्वारा स्तुत्य हे यज्ञपुरुष विष्णो! (एष ते सोमः) यह सोम तुम्हारे लिए समर्पित है (तं रक्षस्व मा दभन्) इसकी तुम रक्षा करना जिससे राक्षस आदि इसकी हिंसा न कर सकें।

किन्तु स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है वह महीधर की पूर्वोक्त याज्ञिक प्रक्रिया से भिन्न गृहस्थधर्म में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा ब्रह्मचारी पुरुष के स्वीकार करने के सन्दर्भ में है। इसमें ब्रह्मचारिणी कन्या, जिसने २४ वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन किया है अपने पति से, जिसने ४८ वर्ष तक आदित्य ब्रह्मचर्य का पालन किया है, को सम्बोधित करके कहती है—

---

१. द्रष्टव्य—कात्यायनश्रौतसूत्र ९।९।१३. १८।

हे ब्रह्मचारिन् ! मैं ब्रह्मचारिणी (आदित्येभ्यः) आदित्य ब्रह्मचर्य का सेवन करने वाले पुरुषों में से (त्वा) तुमको स्वीकार करती हूँ, तुम (उपयाम गृहीतः) शास्त्र के नियमों एवं उपनियमों को ग्रहण करने वाले (असि) हो। हे (विष्णो !) समस्त श्रेष्ठविद्यागुण कर्मस्वभाव वाले श्रेष्ठजन ! (ते) तुम्हारा (एष) यह गृहस्थाश्रम (सोमः) कोमलतादि गुणों का वर्धक है (तं रक्षस्व) इसकी रक्षा करना (उरुगाय !) हे बहुत शास्त्रों को पढ़ने वाले ! (मा दभन्) इस गृहस्थाश्रम की अत्यधिक विषयभोगासक्ति से हिंसा मत करना।

अब दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रदत्त इस आठवें अध्याय के द्वितीय मन्त्र का अर्थ भी द्रष्टव्य है—

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत
आदित्येभ्यस्त्वा ।—(माध्यन्दिन-संहिता ८।२)

अग्निष्टोमविशिष्ट सोमयाग में आदित्यस्थाली में विद्यमान संस्रवों (हुतशेष द्रव्यों) को आदित्यग्रह नामक पात्र में रखने के बाद अध्वर्यु इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उस पात्र का ग्रहण करता है। यह हवि आदित्य देवता के लिए है जो कि ऋचा के अन्त में विद्यमान 'आदित्येभ्यस्त्वा' इस यजुष् के द्वारा स्पष्ट है। अतः ऋचा में विद्यमान इन्द्र शब्द महीधर के अनुसार यहाँ आदित्य का ही वाची है। अब इस मन्त्र का आचार्य महीधर-कृत अर्थ देखिए—

(इन्द्र) हे इन्द्र तुम (कदाचन स्तरीरसि न) कभी भी हिंसक नहीं होते हो अपितु (दाशुषे सश्चसि) हवि देने वाले के हवि को ग्रहण करते हो (उपोप इत् नु) यजमान के समीप ही। हे (मघवन् !) धनवान् इन्द्र ! (भूयः इत् नु ते देवस्य दानम्) पुनः निश्चय ही आप देवता को दिया गया हविरूप यह दान (पृच्यते) आपसे सम्बद्ध होता है अर्थात् यजमान द्वारा प्रदत्त यह हवि आप निश्चय ही स्वीकार कर लेते हैं (आदित्येभ्यस्त्वा [गृह्णामि]) हे ग्रह ! मैं तुम्हें आदित्य देवता के लिए (हवि देने के निमित्त ग्रहण करता हूँ)।

इस अर्थ को देखने से स्पष्ट है कि आचार्य महीधर ने इसका अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया में ही किया है। स्वामी दयानन्द ने भी पूर्वमन्त्र के समान ही इस मन्त्र को भी गृहस्थ धर्म से सम्बद्ध बताते हुए पति-पत्नी के आचारण विषयक अर्थ को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—

(इन्द्र !) हे परमैश्वर्य से युक्त पति ! (कदाचन स्तरीरसि न) आप कभी भी अपने स्वभाव को छिपाने वाले नहीं हैं अतः (दाशुषे) दान देने वाले व्यक्ति के लिए (उपोप इत् नु सश्चसि) ही शीघ्र समीप प्राप्त होते हो। (मघवन् !)

हे प्रशंसित धनवाले भर्त्ता ! (ते देवस्य दानम्) आप विद्वान् का जो अच्छी शिक्षा या धन आदि पदार्थों का देना है (इत् नु भूयः) वही शीघ्र अधिकाधिक मुझको (पृच्यते) प्राप्त हो (आदित्येभ्यः) प्रत्येक मास सुख देने वाले (त्वा) आपका मैं आश्रय लेती हूँ।

इस मन्त्र के भावार्थ में स्वामी जी ने लिखा है कि विवाह की कामना करने वाली स्त्री को चाहिए कि छल कपट आदि आचरणों से रहित, एकस्त्रीव्रती, जितेन्द्रिय, उद्योगी, दानी एवं धार्मिक पुरुष के साथ विवाह करके आनन्द प्राप्त करे।

इस प्रकार स्वामी जी ने इस अष्टमाध्याय के समस्त मन्त्रों को गृहस्थ धर्म सम्बन्धी कार्यों या आचरणों के सन्दर्भ में ही व्याख्यात किया है। यद्यपि कहीं-कहीं उन्होंने किसी मन्त्र की व्याख्या ऐसी भी कर दी है जो इस प्रकरण में असंगत सी प्रतीत होती है (जैसे २३ वें मन्त्र को उन्होंने राजा के कर्त्तव्य एवं उसके प्रति उपदेश के रूप में व्याख्यात किया है जो इसलिए अप्रासंगिक लगता है क्योंकि इसके पूर्व का २२ वां मन्त्र एवं पश्चात् का २४ वाँ मन्त्र दोनों ही गृहस्थ धर्म से सम्बद्ध हैं) किन्तु कुल मिलाकर उन्होंने प्रयत्न यही किया है कि इस अध्याय के मन्त्र गृहस्थधर्म सम्बन्धी उपदेशों से ही सम्बद्ध रहें। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है।

दयानन्दीय अर्थों के तीन प्रमुख आधार

उभय भाष्यकारों के पूर्वोद्धृत दोनों मन्त्रार्थों को पढकर यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि दोनों के अर्थों में इतना अधिक अन्तर क्यों है ? तथा इन मन्त्रार्थों का आधार क्या है और कौन सा अर्थ मन्त्र के वास्तविक अर्थ के अत्यधिक निकट है।

जहाँ तक मन्त्र के स्वाभाविक अर्थ का प्रश्न है, इस विषय में पहले ही लिखा जा चुका है कि निश्चय ही आचार्य महीधर के याज्ञिक अर्थ अपेक्षाकृत स्वाभाविक हैं तथा मन्त्र-पदों से सहज निकटता रखते हैं। किन्तु इस विषय में हमें यह भी न भूलना चाहिए कि आचार्य महीधर को ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों की एक समृद्ध याज्ञिक विधि-परम्परा या यज्ञों में विनियुक्त मन्त्रों का विषयवस्तु से पारस्परिक सामञ्जस्य पहले से ही प्राप्त था जिसके कारण उन्हें मन्त्रार्थ करने में कोई विशेष कठिनता अनुभूत नहीं हुई। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द को परम्परा से हटकर इन वेद-मन्त्रों का नए परिप्रेक्ष्य में अर्थ करने तथा इनमें त्रिविध त्रिषय

सिद्ध करने के प्रयास में जो बौद्धिक व्यायाम करना पड़ा उसमें निम्न तीन बातें उनके लिए प्रमुख आधार या सहायक बनीं—

(१) मन्त्रों के देवताओं में परिवर्त्तन,

(२) शब्द का (स्वकल्पित ?) अर्थानुसार निर्वचन,

(३) मन्त्रों में अलंकारों की कल्पना।

इनमें प्रथम अर्थात् मन्त्रों के देवताओं के परिवर्तन का जहाँ तक प्रश्न है इस विषय में हम पूर्व ही (अध्याय २ में) लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द मन्त्रों के देवता निश्चित नहीं मानते हैं। फलतः उन्होंने अपने भाष्य में इस संहिता के मन्त्रों के देवता सर्वानुक्रमसूत्र में प्रोक्त देवताओं से भिन्न माना है। यतो हि उनके अनुसार सर्वानुक्रमणियां याज्ञिक अर्थ को लक्षित करके देवता का निर्देश करती हैं। अतः स्वाभाविक है कि उनका अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया में न होने से तत्सम्बद्ध देवता भी उन्हें न मान्य हों। इसी कारण उन्होंने इस पूर्वचर्चित आठवें अध्याय के अधिकांश मन्त्रों का देवता मुख्य रूप से 'गृहपति' माना है क्योंकि उन्हें इन मन्त्रों का अर्थ गृहस्थधर्म के सम्बन्ध में करना अभीष्ट है। इस प्रकार मन्त्रों के देवताओं के परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन सहज हो गया।

अपने भाष्य में मन्त्रों का अर्थ करने में जिस वस्तु को स्वामी दयानन्द ने अत्यन्त निर्मम एवं स्वच्छन्द ढंग से अपनाया है, जिसके कारण न केवल उनका मन्त्रार्थ अनोखा तथा महीधर के अर्थ से बिलकुल ही भिन्न हो गया है अपितु इसी भिन्नार्थता से मन्त्रों के देवता भी उन्हें सर्वानुक्रमणी से भिन्न स्वीकार करने पड़े जिससे वे वेद में नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला कौशल आदि विषय को खोज लाए हैं, वह महत्त्वपूर्ण वस्तु है उनके द्वारा अपनाई गई विविध शब्दों की निर्वचन की प्रक्रिया। जैसा कि निरुक्त तथा व्याकरण-शास्त्र में भी लिखा है—

नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

—निरुक्त १।२।

नाम च धातजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥

—व्याकरण महाभाष्य ३।३।१।

एवम्—अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन, अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्…आदि।

—(निरुक्त २।१)।

इन प्रमाणो के आधार पर उन्होंने प्रत्येक शब्द को यौगिक मानकर मन्त्रों के पदों के निर्वचन में अपने कल्पित अर्थानुसार उन्होंने धातुओं की ऊहा की, विभक्तियों को विपरिणत किया है तथा 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः'[१] इस वाक्य का अभिप्राय कुछ अधिक ही विस्तृत करके मन्त्रो के विविध अर्थ प्रस्तुत कर रख दिए हैं। उनकी इस प्रकार की मन्त्रार्थ करने की विधि न दोनों भाष्यकारों के अर्थों में महान् भेद उत्पन्न कर दिया है। यही कारण है कि इन भाष्यकारों के पूर्व प्रस्तुत दोनों मन्त्रों के विषय एवं अर्थ में किसी प्रकार की समानता या कोई तुलना ही नहीं हो पाती। इस सन्दर्भ में अब हम इन दोनों भाष्यकारों के पूर्वोद्धृत इन (आठवें अध्याय क प्रथम एवं द्वितीय) मन्त्रों के कुछ विशिष्ट पदार्थों पर विचार कर इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रथम मन्त्र—'उपयामगृहीतो०' (माध्य० सं० ८।१)

(१) **उपयामगृहीतः**—इसके पदार्थ में महीधर ने 'उपयाम' शब्द का अर्थ पात्रविशेष किया है जिसके द्वारा हवि का ग्रहण किया जाता है। स्वामी दयानन्द न इस शब्द का 'शास्त्रों के नियम एवं उपनियम गृहीत किया है जिसने यह अथ किया है। किन्तु आचार्य महीधर का—'उपयम्यते अनेन (हविः) इत्युपयामः' यह अर्थ पात्रविशेष के लिए जहाँ अत्यन्त युक्त प्रतीत होता है वहीं स्वामी दयानन्दकृत 'शास्त्रनियमोपनियमाः' यह अर्थ प्रयास पूर्वक ही निकलता है। 'उपयाम' तथा 'नियम-उपनियम' शब्दों में 'यम' धातु की सामान्य सत्ता के बल पर ही उन्होंने यह अर्थ निकाल लिया है।

(२) **आदित्येभ्यः**—यह पद महीधर के अनुसार जहाँ चतुर्थ्यन्त देवतावाची है वहीं स्वामी दयानन्द के अनुसार यह विशेषण है तथा इसका विशेष्य अध्याहृत शब्द 'पुंभ्यः' है जिसका अर्थ उन्होने '४८ वर्ष पर्यन्त इन्द्रियनिग्रह कर आदित्य ब्रह्मचर्य का पालन किये हुए पुरुषों में से' यह किया है। इस प्रकार उन्होने इस शब्द में पञ्चमी विभक्ति मानी है।[२] इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि आदित्य ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष का होता है, यह स्वामी जी की अपनी कल्पना है[३]। इसके पीछे कोई प्रमाण-विशेष नहीं है। स्वामी जी ने यह अर्थ इस मन्त्र के गृहस्थ धर्म सम्बन्धी प्रकरण में होने के कारण गृहीत किया है।

१. स्कन्द स्वामी—निरुक्त टीका ७।५, भाग ३, पृ० ३६।
२. 'पञ्चमी विभक्ते'—अष्टाध्यायी २।३।४१।
३. सत्यार्थप्रकाश—तृतीय समुल्लास, पृ० ४६।

(३) विष्णो—इस शब्द का अर्थ महीधर ने 'यज्ञपुरुष' किया है, जो कि देवतावाची है। स्वामी दयानन्द ने इसको भी मनुष्य का विशेषण माना है तथा 'विष्' धातु के व्याप्त्यर्थक होने से अर्थ किया है—'सब प्रकार के विद्या-गुण-कर्म-स्वभाव से व्याप्त मनुष्य'।

(४) उरुगाय—महीधर के अनुसार अर्थ है 'उरुभिर्गयीते' अर्थात् बहुतों के द्वारा स्तुत्य, जो कि विष्णुदेव का विशेषण है। स्वामी दयानन्द के अनुसार अर्थ है, 'उरूणि शास्त्राणि गायति' अर्थात् जिसने बहुत शास्त्रों का अभ्यास किया है वह मनुष्य 'उरुगाय' है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ महीधर ने इस पद में तृतीया समास माना है वहीं स्वामी दयानन्द ने यहाँ द्वितीया समास मानकर अपना अर्थ अभिव्यक्त किया है।

द्वितीय मन्त्र—'कदाचन स्तरीरसि०' (माध्य० सं० ८।२)

(१) स्तरीः—महीधर ने इस शब्द का अर्थ हिंसक किया है। उनके अनुसार यह शब्द हिंसार्थक 'स्तृह्' अथवा 'स्तृ' धातु से बना है[1]। स्वामी दयानन्द ने आच्छादनार्थक स्तृञ् अथवा स्तृञ्[2] धातु से इसे व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ 'अपने स्वभाव को छिपाने वाला' किया है।

(२) मघवन्—यह शब्द आचार्य महीधर के अनुसार इन्द्र देवता के विशेषण रूप में है जब कि स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ 'धनयुक्त पुरुष' करके इसे मनुष्य का विशेषण माना है।

(३) आदित्येभ्यः—आचार्य महीधर ने इस शब्द को देवता-वाचक माना है जब कि स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ 'मास' किया है। ज्ञातव्य है कि शतपथ में मास को भी आदित्य नाम से अभिहित किया गया है[3]।

इस प्रकार पूर्वोक्त कुछ शब्दों के सन्दर्भ में विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता मात्र है कि यदि धात्वर्थ में भेद कर निर्वचन किया जाय तथा प्रत्येक शब्द के अर्थनिर्धारण में जब केवल यौगिकता को ही आधार बनाया जाय तो कोई भी शब्द किसी भी अर्थ-विशेष में बँधकर नहीं रह सकता तथा उसके अनेक

---

१. 'स्तृह् हिंसार्थः—धातुपाठ तुदादिगण तथा 'स्तृणाति वधकर्मा'
—निघण्टु १।१९।१२।

२. 'स्तृञ् आच्छादने' स्वादिगण, 'स्तृञ् आच्छादन' क्र्यादिगण।

३. कतमा आदित्या द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः।
—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।८।

अर्थ सम्भव होने से वे सभी अर्थ अपने-आप में प्रामाणिक ही माने जाएँगे। स्वामी दयानन्द के भाष्य को पढ़ने से स्पष्ट है कि उन्होंने सिद्धान्ततः शब्द के जितने भी संभावित निर्वचन होते हैं उससे सम्बद्ध सभी अर्थ वे स्वीकार कर लेते हैं तथा वह अर्थ (या धात्वर्थ) जितने भी वस्तुओं या पदार्थों में सम्भव हो सकता है वह सब उस पद से वाच्य हो जाता है। इसी कारण 'विष्णु' शब्द का अर्थ केवल 'व्यापक परमेश्वर' ही नहीं है प्रत्युत उनके अनुसार यह शब्द अनेक अर्थों का वाची हो जाता है, जैसे—

(१) आकाश में व्याप्त होने से विद्युद् रूप अग्नि विष्णु है[१]।
(२) कोई भी मनुष्य या गृहस्थ जिसमें शुभ गुण व्याप्त हो वह विष्णु है[२]।
(३) सैन्यविद्या से व्याप्त सेनापति विष्णु है[३]।
(४) योगविद्या से व्याप्त योगी भी विष्णु है[४]।
(५) अन्तरिक्ष, वायु आदि को व्याप्त करने वाला यज्ञ विष्णु है[५]।
(६) शिल्पविद्या से व्याप्त कोई भी मनुष्य अर्थात् कारीगर भी विष्णु है[६]।

इस निर्वचन-जन्य अर्थ के कारण ही उन्होंने पूर्व प्रस्तुत मन्त्र में विष्णु का अर्थ वह मनुष्य किया है जिसमें शुभगुणकर्मस्वभाव आदि व्याप्त हो। इसी प्रकार 'उपयामगृहीतः' इस पद में विद्यमान 'उपयाम' शब्द का भी एक कोई निश्चित अर्थ उन्होंने अपने भाष्य में नहीं किया प्रत्युत इसके भी कई अर्थ किये हैं जिसमें धातु तो एक ही है किन्तु उसके अर्थ की प्रतीति कई रूपों में होने से उसके अनेक वाच्यार्थ सम्भव हो गए हैं। जैसे—

उपयामगृहीतः

(१) अध्यापननियमैः स्वीकृतः (मा० सं०, दयानन्द भाष्य ७।३३)।
(२) सुनियमैर्गृहीतात्मा (वही २६।५)।
(३) सुनियमैरधीतविद्यः (सेनापतिः) (वही ७।२२)।

१. मध्यान्दिनसंहिता—दयानन्दभाष्य २२।६।
२. वही ८।२ एवं ८।१७।
३. ऋग्वेदसंहिता—दयानन्दभाष्य १।६१।७।
४. माध्यन्दिनसंहिता—दयानन्दभाष्य ११।६०।
५. वही २।२५।
६. ऋग्वेदसंहिता—दयानन्दभाष्य १।८५।७।

(४) सर्वनियमोपनियमसामग्रीसहितः (सभासद्) (वही ७।३६) ।

(५) यमनियमादिभिर्योगाङ्गैः साक्षात् स्वीकृतः ईश्वरः (वही ७।२५,४०) ।

(६) उपयामेन विवाहनियमेन गृहीतः (गृहपतिः) (वही ८।७) आदि ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने इस शब्द का अनेक प्रकार से निर्वचन करके अर्थ प्रस्तुत किया है । संख्या १ से ४ तक के अर्थों में जहाँ उन्होंने उपयाम शब्द को साक्षात् यम धातु[1] से निष्पन्न मानकर उसका अर्थ 'किसी कार्य की युक्तविधि या नियम' अभिप्रेत किया है वहीं ५ वें अर्थ में उन्होंने इसे 'यम' शब्द से[2] (यमाना समूहो यामम् उपगतं च तद् याममित्युपयामम्, उपयामेन गृहीतः उपयामगृहीतः[3]) निष्पन्न मानकर इसका अर्थ प्रस्तुत किया है । छठे अर्थ में तो वे उपयाम शब्द का 'विवाह' अर्थ[4] कर रहे हैं जो कि उप उपसर्गपूर्वक यम धातु से ही निष्पन्न होता है ।

इसी प्रकार इस संहिता के प्रथम अध्याय के ८वें मन्त्र 'धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व०' आदि की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने धूः' शब्द को हिंसार्थक 'धुर्वी'[5] धातु से व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ 'अग्नि' किया है क्योंकि यह अन्धकार का हिंसक या नाशक है तथा इसी 'धूः' शब्द को ईश्वरवाची मानकर मन्त्र की एक व्याख्या उन्होंने परमेश्वरपरक अर्थात् आध्यात्मिक भी की है । जैसे—'हे परमेश्वर ! यतस्त्वं (धूरसि) सर्वदोषनाशकोऽसि तस्माद् तं (धूर्वन्तं धूर्व) हिंसकं नाशय.....' आदि । जब कि मन्त्र की दूसरी व्याख्या उन्होंने 'धूः' शब्द को जैसा कि पहले कहा गया, भौतिक अग्निपरक मानते हुए की है । इस द्वितीय अर्थ में 'भौतिक अग्नि के विज्ञान द्वारा लाभ उठाने का उपदेश परमेश्वर ने मनुष्य को दिया है' यह माना है । तथा मन्त्रगत 'असि' पद को उन्होंने 'अस्ति' में विपरिणत करके अर्थ किया है । जैसे—'हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो ! योऽयम् (धूरसि) भौतिकोऽग्निः सर्वपदार्थच्छेदकत्वाद् हिंसकोऽस्ति तं कलाकौशलेन यानेषु सम्प्रयोजनीयमग्निम् (वयं धूर्वामः) वयं ताडयामः.....' आदि ।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि 'अग्नि' शब्द का केवल परमेश्वर या भौतिक अग्नि ही नहीं प्रत्युत अग्नि शब्द के निर्वचन से सम्बद्ध जितने भी अर्थ

---

१. यमु उपरमे—धातुपाठभ्वादिगण ।

२. तत्राहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः—योगसूत्र २।३० ।

३. माध्यन्दिनसंहिता—दयानन्दभाष्य ७।२५ ।

४. तुलना—'उपाद् यमः स्वकरणे'—अष्टाध्यायी १।३।५६ ।

५. धुर्वी हिंसार्थः—धातुपाठ भ्वादिगण ।

सम्भव हैं तथा वे अर्थ जितने भी पदार्थों से सम्बद्ध हो सकते हैं, स्वामी दयानन्द को उन सबका अग्नि नाम से ग्रहण अभिप्रेत है। निरुक्तकार यास्क ने 'अग्नि' शब्द की निरुक्ति अनेक प्रकार से दिखाई है। जैसे—अग्रपूर्वक नी धातु से, अङ्गपूर्वक नी धातु से, क्नू धातु से। कुछ आचार्य इस शब्द में तीन धातुओं की कल्पना करते हैं—इण्, अञ्ज तथा नी अथवा इण्, दह् तथा नी, जिसमें 'अग्नि' शब्द का अकार इण धातु का है, गकार दह अथवा अञ्ज धातु का तथा 'नि' नी धातु का इस प्रकार अग्नि शब्द बना है[1]। स्वामी दयानन्द ने इन सभी धातुओं के अर्थों का सद्भाव जिन-जिन पदार्थों में येन-केन प्रकारेण सम्भव है उन सबको अग्नि शब्द से गृहीत कर लिया है। अतः उनके अनुसार ईश्वर एवं इस भौतिक यज्ञिय अग्नि के साथ ही माता, पिता, आचार्य, बन्धु, विद्वान्, सेनापति, राजा, धर्मात्मा पुरुष, विद्यार्थी, अध्यापक, योगी, योद्धा, ज्ञानी, विज्ञानी, धनी, मानी, बली, शिल्पविद्या-विज्ञ आदि सभी अग्नि नाम से अभिधेय हैं—यह उनके भाष्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

दयानन्दभाष्य में प्रदत्त इन शब्दार्थों की व्यापकता अथवा अनिश्चितार्थता या अप्रामाणिकता

पूर्व प्रस्तुत सन्दर्भ में अब यहाँ यह विचारणीय है कि क्या शब्दों के निर्वचन में प्रयुक्त धातुओं के अर्थों से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध सभी पदार्थ उस शब्द से वाच्य हो सकते हैं या नहीं। क्योंकि स्वामी दयानन्द का जो वेदभाष्य है वह मुख्य रूप से इसी प्रकार के अर्थों से युक्त है तथा इन्हीं निर्वचन-जन्य अर्थों के आधार पर उन्होंने जिन-जिन पदों में तत्तत् अर्थों की कथमपि सम्भावना हो सकती है, उन्हें उस शब्द से वाच्य मान लिया है।

मेरे विचार से शब्दों के यौगिक होने का तात्पर्य यह तो है कि उस शब्द के निर्वचन में किसी न किसी धातु या क्रिया की सत्ता स्वीकार की जाय, किन्तु यह अर्थ कदापि नहीं कि उस धातु से सिद्ध शब्द के द्वारा तद्धात्वर्थ-युक्त सभी पदार्थ तत्पदवाच्य माने जायँ। क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो फिर किसी पद का कोई अर्थ-विशेष कभी गृहीत ही न हो पाएगा तथा सदा ही सन्देह की स्थिति बनी रहेगी कि इस क्रिया से व्युत्पन्न शब्द का वास्तविक अर्थ क्या माना जाय? निरुक्तकार यास्क ने भी जो अग्नि शब्द के निर्वचन में—अग्रणीर्भवति, अङ्गं नयति, न क्नोपयति तथा इण् दह और नी प्रभृति धातुओं की चर्चा की है, वह इस

१. आचार्य यास्क—निरुक्त ७।१४।

पृथिवीस्थानी अग्नि के सन्दर्भ में ही है जो कि यज्ञादि में प्रयुक्त की जाती है। अब यदि दग्धत्व, अस्निग्धत्व (न क्नोपयति = न स्नेहयति—अग्निः) आदि के आधार पर द्युलोकस्थ सूर्य या अन्तरिक्षस्थ विद्युदग्नि का तात्पर्य ग्रहण किया जाता है अथवा इसके प्रकाशक तैजस शक्ति को देखकर परमप्रकाशस्वरूप परमात्मा को भी अग्नि शब्द से वाच्य मानकर जिस आध्यात्मिक अर्थ को व्यक्त किया जाता है उसे हम इसलिए उचित एवं प्रामाणिक मानते हैं क्योंकि वेद-व्याख्या के सन्दर्भ में इन अर्थों का संकेत ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि वेदमूलक ग्रन्थों में ऋषियों ने स्वीकार किया है,[1] किन्तु स्वामी दयानन्द ने जो पूर्वोक्त अनेकों अर्थ अग्नि शब्द के दे दिए हैं उनमें अधिकाँश केवल इस आधार पर अवलम्बित हैं कि उन-उन पदार्थों में अग्नि शब्द के निर्वचनात्मक अर्थ की सत्ता यथाकथञ्चित् मिलती है। किन्तु इस प्रकार शब्दार्थ करना सामान्यतः उचित नहीं प्रतीत होता। जैसे पूर्वप्रदत्त मन्त्र ८।१ में 'विष्णु' शब्द का अर्थ स्वामी दयानन्द ने 'समस्त श्रेष्ठ विद्या, गुण, कर्म और स्वभाव से युक्त (व्याप्त) श्रेष्ठपुरुष' यह अर्थ इस आधार पर किया है कि व्याप्त्यर्थक 'विष्' धातु से बनने वाले विष्णु शब्द के यौगिक होने के कारण वह श्रेष्ठ पुरुष 'विष्णु' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसमें उत्तम गुणकर्मस्वभाव की व्याप्ति होती है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि जिस प्रकार उत्तमगुण कर्मस्वभावरूप व्याप्त्यर्थ की सत्ता के कारण श्रेष्ठजन को विष्णु कहा जाता है उसी प्रकार दुष्ट-गुणकर्मस्वभाव की व्याप्त्यर्थता के कारण चौर या दुष्टजन को भी विष्णु क्यों न कहा जाए? अतः केवल धात्वर्थ की सत्ता किसी पदार्थ में निहित होने के कारण हम उसको उस पद से वाच्य नहीं मान सकते। यदि ऐसा होने लगे तो फिर धातुओं

१. क—अथ यत्राङ्गारा मलमलायन्तीव तद्ध ब्रह्म भवति।
—काण्व शतपथ ब्राह्मण ३।१।१।१।

ख—न तत्र सूर्यो भाति····तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।
—श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६।१४।

ग—'अग्निरेव ब्रह्म'—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।५।

घ—'असौ वा आदित्य एषोऽग्निः'—वही ३।४।१।१।

ङ—'अग्निरेव सविता'—गोपथ ब्राह्मण १।१।३३।

च—'अग्निर्नेता स वृत्रहा'—ऐतरेय आरण्यक १।२।१।

छ—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'—तैत्तिरीय सं० २।४।१०।२।

यह बात केवल अग्नि के सन्दर्भ में ही नहीं है प्रत्युत एतत्प्रकारक सभी देवतावाची शब्दों के सन्दर्भ में है।

की अनेकार्थता के सिद्धान्त[1] का आश्रय लेकर किसी पद का जो भी अर्थ अपेक्षित हो, पद के निर्वचन मे धातु का वह अर्थ स्वीकृत कर अपनी मान्यतानुसार अभीष्ट पदार्थ गृहीत कर ले। इस प्रकार भले ही वह अर्थ मान्यता प्राप्त न हो किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से इस अर्थ को हम अशुद्ध न कह सकेंगे। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में भी दृष्टिगत होती है। जैसे इस संहिता के अध्याय १ मन्त्र ४ में 'सोम' शब्द है जिसका अर्थ स्वामी दयानन्द ने 'शिल्पविद्या' किया है। किन्तु 'सोम' का अर्थ शिल्पविद्या कैसे हो गया यह स्पष्ट न होने से इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। हम यदि केवल 'सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवति इति सोमः[2]' यहाँ 'षु' धातु के ऐश्वयार्थक होने से[3] तथा शिल्पविद्या के ज्ञान से प्राप्त सामग्री द्वारा ऐश्वर्य की सिद्धि होने के कारण, सोम शब्द का अर्थ शिल्पविद्या मानकर वेद में शिल्पविद्या की चर्चा मान लेते हैं तो यह शब्दों की यौगिकता से खिलवाड़ करने के साथ ही वेदार्थ की अनिश्चितता एवं अप्रामाणिकता का ही परिचायक माना जाएगा।

इसी प्रकार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ स्वामी दयानन्द ने ऐसा किया है जो निश्चय ही अभूतपूर्व है। जैसे—यज्ञं योगम् (माध्यन्दिन संहिता, दयानन्द भाष्य ७।११) यात्राख्यं संग्रामाख्य वा (वही ३३।३३) यज्ञः स्त्रीपुरुषाभ्यां सगमनीयः गृहस्थाश्रमः (वही ८।४०, ८।२१ तथा १७।५४) यज्ञम् सुखजनकं राजधर्मम् (६।१) यज्ञः संगमनीयः शिष्यः (ऋग्वेद दयानन्दभाष्य ६।६८।१) संगन्तुमर्हः सूयः (वही १।१६४।३५) वर्षादिजलव्यवहारः (वही ४।५८।२) आदि। हम यह नहीं कह रहे हैं कि यज्ञ शब्द से पूर्वोक्त अर्थ द्योतित नहीं किये जा सकते। क्योंकि जब यज धातु का अर्थ संगतिकरण भी है[4] तब निश्चय ही सगमनीय होने के कारण या ईश्वर से संगतिकरण में साधन होने से 'योगविद्या' भी यज्ञ है, स्त्रीपुरुष की संगति के कारण 'गृहस्थाश्रम' भी यज्ञ है, गुरु के लिए संगमनीय होने से 'शिष्य' भी यज्ञ शब्द से वाच्य हो सकता है तथा संगमनीय होने से ही 'सूर्यरश्मियां' व 'वर्षा का जल' आदि भी यज्ञ पद से वाच्य है, किन्तु क्या इसी संगतिकरणरूप अर्थ के बल पर संसार के समस्त पदार्थ 'यज्ञ' शब्द से अभिहित नहीं किए जा सकते ? इस अवस्था

१. व्याकरण महाभाष्य १।३।१, उणादिवृत्ति—श्वेतवनवासिकृत ४।१६२, ऋग्वेद सायणभाष्य १०।१२।६ आदि।
२. उणादिकोष—दयानन्द व्याख्या १।१४०।
३. षु प्रसवैश्वर्ययो.—पाणिनीय धातुपाठ भ्वादिगण।
४. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु भ्वादिगण।

में इसका नियामक क्या है कि यहाँ यज्ञ शब्द से यही अर्थ गृहीत किया जाय ? अतः इन अर्थों के प्रामाण्य के लिए हम केवलमात्र निर्वचन में प्रयुक्त धात्वर्थ पर ही आश्रित नहीं हो सकते हैं। हमें इसके लिए ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में प्रदत्त अर्थों के साथ ही प्राचीन वेदार्थ परम्परा में प्रचलित उन शब्दों का अर्थ भी देखना होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी किसी शब्द का अत्यन्तप्रशंसा में अर्थवादरूप से या प्रतीकविशेष में उपस्थापित करने के कारण यदि कोई प्रतीकात्मक अर्थ दिया है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह अर्थ सर्वत्र मान्य हो जाएगा। जैसे माध्यन्दिन शतपथ में यज्ञ को कृष्णाजिन कहा गया है।[1] किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि यज्ञ शब्द का अर्थ कृष्णाजिन भी है और जहाँ चाहे वहाँ यज्ञ शब्द से कृष्णाजिन अर्थ का ग्रहण करे। वास्तव में यह प्रशंसापरक अर्थ है। सोमयाग से पूर्व किए जानेवाले प्रवर्ग्य अनुष्ठान में कृष्णाजिन की भी उपयोगिता कही गई है। अब इस यज्ञिय अनुष्ठान में उस कृष्णाजिन को, जो सम्भवतः किसी प्रतीक के रूप में ग्रहण किया जाता है, अत्यन्तसंयोग या आवश्यक उपादेय के कारण प्रशंसा में 'यज्ञ' शब्द से अभिहित कर दिया गया है। यह बात ब्राह्मण के उस स्थल को देखने से भी स्पष्ट है।

इसी प्रकार 'दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त०' (माध्य० सं० २।२५) आदि की व्याख्या में शतपथ में विष्णु शब्द के सन्दर्भ में लिखा है—"यद् वेत्र त्रिष्णुक्रमान क्रमते। यज्ञो वै विष्णुः। स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे·······आदि[2]।" यहाँ 'यज्ञो वै विष्णुः' कहने का तात्पर्य यह नहीं कि यज्ञ शब्द का सार्वत्रिक अर्थ विष्णु है अथवा विष्णु शब्द से जहाँ चाहे वहाँ यज्ञ अर्थ गृहीत करके उसका मनमाना उपयोग कर लिया जाय। निश्चय ही शतपथ की यह उक्ति किसी सन्दर्भ विशेष के लिए ही है। यजमान जब दर्शपौर्णमास याग में यज्ञवेदि की परिक्रमा करता है[3] तब वहाँ इस 'दिवि विष्णु०' (मा० सं० २।२५) मन्त्र का उच्चारण करता है। उस अवस्था में द्यु, अन्तरिक्ष एवं पृथिवीलोक में विष्णु द्वारा किये गए त्रिविक्रम के प्रतीक के रूप में यहाँ विष्णु शब्द से यज्ञ अर्थ गृहीत करके यज्ञकर्त्ता द्वारा यज्ञवेदि की परिक्रमा से उस यज्ञरूप विष्णु को लक्षित किया गया है जो कि सृष्टिप्रक्रिया की प्रतीकात्मक व्याख्या का एक संकेत है। अतः ब्राह्मणग्रन्थों में दिए गए ये वचन भी

१. 'यज्ञो वै कृष्णाजिनम्'—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १४।१।२।२।

२. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १।९।३।९।

३. कात्यायन श्रौतसूत्र ३।८।१०।

याज्ञिक विनियोग की उसी पृष्ठभूमि में तथा उन मन्त्रों के प्रसंग में ही अपना अर्थ अभिव्यक्त करेंगे। सर्वत्र हम उन्हें प्रमाणस्वरूप नहीं दे सकते हैं।

इस दृष्टिकोण से विचार करते समय यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द द्वारा अपने वेदभाष्य में दिए गए विभिन्न शब्दों के अर्थ निश्चय ही व्यापक हैं, निर्वचन की दृष्टि से युक्त भी हैं किन्तु वे किस शब्द का अर्थ कहाँ और क्या कर देंगे यह कहना कठिन है। फलतः अनेक शब्द उनके भाष्य में किसी पदार्थविशेष के द्योतक न होकर केवल अपने मूल धात्वर्थ को लिए हुए विशेषण के रूप में भटकते रहते हैं तथा स्वामी दयानन्द जहाँ चाहें वहाँ अपने कल्पनानुसार मन्त्रसमुदाय में प्रकरणविशेष की घोषणा करके उन शब्दों को प्रकरणानुसार किसी विशेष्य से सम्बद्ध करके इच्छित अर्थ प्रदान कर देते हैं। यही कारण है कि जब वे अष्टमाध्याय में गृहस्थ विषय की कल्पना करते हैं तो यज्ञ शब्द का अर्थ स्त्री पुरुष की संगतिरूप धात्वर्थ के कारण 'गृहस्थाश्रम' हो जाता है[1] तथा जब राजधर्म में युद्ध का प्रकरण होता है तब उसका अर्थ सेना में व्यक्तियों की संगतिकरण या उभय सेना में युद्धावस्था में संगति के कारण 'संग्राम' हो जाता है[2]। जब वे मन्त्र में राजनीति सम्बन्धी प्रकरण की कल्पना करते हैं तो यजधातु के दानार्थक होने से राजधर्म में प्रजा को राजा द्वारा सुप्रशासनरूप सुख देने के कारण उसका अर्थ 'राजधर्म' हो जाता है[3] एवं जब वे वेदों में शिल्पविद्यासम्बन्धी उपदेश की कल्पना करते हैं तो 'यज' धातु के दानार्थक होने और शिल्पविद्या या विज्ञान के ऐश्वर्यदायक होने के कारण यज्ञ शब्द का अर्थ 'शिल्पविद्या' भी हो जाता है[4] तथा यजमान शब्द का अर्थ भी शिल्पविद्याविज्ञान में संगतिकर्त्ता के रूप में होने के कारण वैज्ञानिक या इन्जीनियर हो जाता है और मन्त्र में शिल्पविद्या, हस्तकला, विमाननिर्माण आदि का उपदेश उपलब्ध होने लगता है। और तो और जब वे वेद में भूगोल, रेखागणित, आदि विद्या की कल्पना करते हैं तो रेखागणित में संगमनीय होने के कारण यज्ञ शब्द का अर्थ व्यासरेखा या मध्यरेखा भी होता है[5] एवं अंकगणित विषय की कल्पना में यज्ञ शब्द का अर्थ जोड़, घटाव, गुणा, भाग आदि हो जाता है[6] इसी

१. माध्यन्दिन संहिता—दयानन्द भाष्य ८।४०।
२. वही ३३।३३।
३. वही ९।१।
४. वही ४।९ और १०।
५. वही २३।६२ एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-गणितविद्याविषय, पृ० १६३-१६६।
६. माध्यन्दिन संहिता—दयानन्द-भाष्य १८।२५।

प्रकार जब मन्त्र में पशुपालन विषय का निरूपण किया जाता है तब यज्ञ शब्द का अर्थ पशुओं की संगतिकरण के कारण पशुपालनविधिरूप कार्य होता है[१]।

अब यहां यह विचारणीय है कि क्या 'यज्ञ' शब्द के ये सब नाना प्रकार के पूर्वोक्त अर्थ सम्भव भी हैं या नहीं ? मेरे विचार से शब्दों के यौगिक होने का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनकी प्रवृत्तिनिमित्तता केवल धात्वर्थ को कहीं भी युक्त करके कोई भी मनचाहा अर्थ करने में है। इस तरह तो किसी भी शब्द का कोई निश्चित अर्थ कभी हो ही नहीं सकता तथा वेद से कोई भी व्याख्याकार कुछ भी अर्थ ध्वनित कराने में समर्थ हो सकता है। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त ये अर्थ भले ही कितने भी लोकोपकारी, सामाजिक, व्यावहारिक, वेदों में विविध क्रियाविज्ञान को प्रकट करने या उनका संकेत देने में समर्थ क्यों न माने जायँ किन्तु इनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध होने के फलस्वरूप ऐसे अर्थों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। शब्द के निर्वचन में प्रदत्त धातु एवं उसके अर्थ का अन्तर्भाव किसी पदार्थ-विशेष या किन्हीं पदार्थविशेषों की प्रतीति के लिए ही होता है, असीमित पदार्थों को द्योतित करने के लिए नहीं। इसी प्रकार शब्दों के यौगिक होने का तात्पर्य यह भी नहीं कि जिस-जिस धातु से उस शब्द का निर्वचन किया जाय वह सब धात्वर्थ उस पद में समाहित हो ही तथा वह शब्द तत्तद् धात्वर्थ युक्त किसी भी पदार्थ को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो जाय। इस सम्बन्ध में निरुक्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य दुर्ग का निम्न वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

> **'स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति कांचिदेव क्रियामभि-प्रेत्याऽवस्थितिर्भवति। अन्यथा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात्। यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भो भवयीत्येवं समाधिः।'**[२]

एक और महत्त्वपूर्ण उदाहरण—अपने अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए स्वामी दयानन्द ने जहाँ इस तथाकथित यौगिकवाद का आश्रय लिया वहीं व्याकरण के वे शिथिल नियम जो अवसर विशेष या अगतिकगति में ही शब्दों के साधुत्व के लिए प्रयुक्त हुए हैं उन्हें भी अपनी अभीष्ट अर्थ कल्पना में यथेच्छ अपनाया है। इस सम्बन्ध में व्यत्यय का उदाहरण तो हम पहले ही दे चुके हैं, अब यहाँ एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो प्रकृत 'यज्ञ' शब्द के ही सन्दर्भ में है।

---

१. वही १८।२६।

२. निरुक्त १।१४ में दुर्गाचार्य की टीका।

इस संहिता के आठवें अध्याय का २२ वाँ मन्त्र है—'यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ०' आदि। यहाँ जो प्रथम शब्द 'यज्ञ' है वह सम्बुद्धि में विद्यमान है। इस शब्द का अर्थ स्वामी जी ने 'हे गृहस्थ !' किया है तथा इसका निर्वचन निम्न प्रकार किया है—यो यजति संगच्छते स यज्ञो गृहस्थस्तत्सम्बुद्धौ० अर्थात् जो सत्कर्मों की संगति करता है उस गृहस्थ को यहाँ यज्ञ शब्द से अभिहित किया गया है। ज्ञातव्य है कि यह आठवाँ अध्याय उन्होंने गृहस्थाश्रमधर्म में निरूपित किया है। अतः उन्होंने यहाँ संगतिकर्त्ता गृहस्थपुरुष को यज्ञ शब्द से अभिहित करना चाहा है।

अब समस्या यह है कि 'यज्ञ' शब्द नङ् प्रत्यय करने पर कर्तृ भिन्न कारक में ही निष्पन्न होता है[1] जब कि स्वामी दयानन्द को यहाँ कर्तृकारक में इस शब्द का अर्थ अभिप्रेत है। परिणामतः इस शब्द को कर्तृकारक में बनाने के लिए यज धातु से औणादिक 'न' प्रत्यय की कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं है। अन्ततः स्वामी दयानन्द ने इसी उपाय का आश्रय लिया तथा व्याकरण के सामान्य नियम से सिद्ध होने वाले इस शब्द में भी अपना अभीष्ट अर्थ द्योतित करने के लिए उन्हें कर्तृकारक में औणादिक प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ी है[2]।

महीधर के अर्थों की स्पष्टता—आचार्य महीधर के भाष्य में स्वामी दयानन्द के समान पूर्वोक्त प्रकारक व्याख्या प्रायः नहीं उपलब्ध होती है जिससे मन्त्र में किसी शब्द के कोई निश्चित अर्थ की अवधारणा ही न उत्पन्न हो सके। भले ही उनके वेदभाष्य में आध्यात्मिक, व्यावहारिक, आदि नाना प्रकार के अर्थों की भरमार न हो किन्तु उन्होंने अपनाभाष्य जो एकमात्र याज्ञिक अर्थ की प्रक्रिया में किया है वह अपने में पूर्ण एवं अत्यन्त स्पष्ट है। उनके भाष्य में दिए गए पदार्थ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट प्रतीत होते हैं। अतः मन्त्रार्थ, भी ग्राह्य एवं असन्दिग्ध जान पड़ता है। यह बात नहीं कि उन्होंने किसी शब्द का कोई एक ही अर्थ माना है तथा उस शब्द के किसी अन्य अर्थ की सत्ता नहीं स्वीकार की है अपितु अपने भाष्य में अनेक शब्दों का यथावसर अन्य अर्थ भी प्रस्तुत किया है। जैसे 'आ वो देवास ईमहे०' (माध्य० सं० ४।५) आदि मन्त्र में विद्यमान 'देव' शब्द के अर्थ में उनके भाष्य में जहाँ इन्द्र आदि देवता ध्वनित होते हैं, वहीं 'व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्म०' आदि (माध्य० सं० ४।११) मन्त्र में विद्यमान 'देवाः' शब्द के अर्थ में उन्होंने "देवाश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणाः

१. यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्'—अष्टाध्यायी ३।३।९० ।
'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्—वही ३।३।१९ ।
२. 'औणादिको न प्रत्ययः'—माध्यन्दिन-संहिता दयानन्द भाष्य ८।२२ ।

'वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वेदेवाः'[1] इति श्रुत्युक्ताः" ऐसा लिखकर इस शब्द का 'इन्द्रिय' अर्थ गृहीत करते हुए इसके प्रमाण में शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण भी प्रस्तुत कर दिया है।

वैदिक शब्दों को आचार्य महीधर भी यौगिक मानते हैं किन्तु इस सिद्धान्त का दुरुपयोग उन्होंने मनचाहे अर्थ को प्रकट करने में नहीं किया है। इस यौगिकता का आश्रय यथासम्भव सन्दर्भ एवं प्रसङ्ग को लक्ष्य में रखकर अर्थ करने में ही किया है। जैसे २१ वें अध्याय के १ से ४ तक के मन्त्रों में विद्यमान 'वरुण' शब्द का अर्थ उन्होंने जहाँ देवतापरक किया है वहीं अध्याय १० मन्त्र २७ में यज्ञ क्रिया के द्वारा अनिष्टों का निवारण करनेवाला होने के कारण यहाँ इस शब्द का अर्थ 'यजमान' किया है।[2]

इसी प्रकार अध्याय ८ मन्त्र २ में 'इन्द्र' शब्द का यौगिक या निर्वचनात्मक अर्थ देते हुए परमेश्वर्यवान् होने से इन्द्र का अर्थ यहाँ 'आदित्य है' यह माना है।

उन्होंने शब्दार्थ करते समय विना किसी प्रसंग या प्रमाण के केवल यौगिक प्रक्रिया अथवा निर्वचन में प्रदत्त धात्वर्थ के आधार पर ही खींचतान करके किसी वस्तु विशेष या पदार्थ विशेष को द्योतित करने का स्वामी दयानन्द के समान प्रयत्न नहीं किया है। यही कारण है कि जब वे किसी शब्द—उदाहरणतः 'सोम' शब्द (अध्याय १० मन्त्र १७) का अर्थ चन्द्रमा करते हैं तो वह उचित प्रतीत होता है तथा जब अध्याय ६ मन्त्र १० में वे 'सोम' शब्द से 'लता' को अभिप्रेय मानते हैं तो वह भी ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यही अर्थ सम्भव है जिसका संकेत महीधर ने प्रमाण स्वरूप अपने भाष्य में कर भी दिया है[3]। किन्तु जब स्वामी दयानन्द अध्याय १ मन्त्र ४ में 'सोम' शब्द का अर्थ—'सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवति—(षु प्रसवैश्वर्ययोः, भ्वादिगण)' केवल इस निर्वचन के आधार पर 'शिल्पविद्या' करते हैं तो इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह होने लगता है। यही वह स्थिति है जब कि आचार्य महीधर का अर्थ स्वामी दयानन्द की अपेक्षा हमें अधिक मर्यादित, सुसंयत तथा ग्राह्य जान पड़ता है।[4]

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ३।२।२।१३।
२. 'वारयत्यनिष्टमिति वरुणः (यजमानः)'—महीधरभाष्य १०।२७।
३. अस्य मन्त्रस्य श्रुतौ निदानमुक्तम्। 'यदा सोमो देवानां हविरभूत्०' आदि शतपथ ब्राह्मण ३।९।४।१२ (महीधर-भाष्य ६।३३)।
४. इस मन्त्र (माध्य० सं० १।४) में भी आचार्य महीधर ने 'सोम' का अर्थ सोमलतारूप हविद्रव्य माना है जो कि शतपथ ब्राह्मण १।५।४, १९-२० के अनुसार प्रामाणिक है।

दयानन्द भाष्य में विविध अलंकारों का उल्लेख

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में मन्त्रों में विद्यमान अनेक अलंकारों का उल्लेख किया है। इन अलंकारों के माध्यम से उन्होंने अपने भाष्य में मन्त्रों के अनेक अर्थ करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। वेदभाष्यों की परम्परा में स्वामी दयानन्द ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने भाष्य में लगभग ५० प्रतिशत मन्त्रों में किसी न किसी अलंकार की कल्पना अवश्य की है। इन अलंकारों में मुख्यतया ये तीन अलंकार ही उनके भाष्य में दृष्टिगत होते हैं—१–श्लेष, २–लुप्तोपमा एवं ३–वाचकलुप्तोपमा।

श्लेष अलंकार के द्वारा उन्होंने मन्त्रों का एकाधिक अर्थ प्रस्तुत किया है। जैसे 'आगन्म विश्ववेदसम्०' (माध्य० सं० ३।३८) प्रभृति मन्त्र में विद्यमान 'अग्नि' शब्द को परमेश्वरवाची एवं भौतिक अग्निवाची भी मानते हुए इन द्विविध अर्थों को स्वीकार कर इस शब्द में श्लेष अलंकार माना तथा आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों प्रकार के अर्थ अन्वय में प्रस्तुत किये। इसी प्रकार 'स्वयम्भूरसि श्रेष्ठोरश्मि०' (माध्य० स० २।२६) प्रभृति मन्त्र में विद्यमान 'सूर्य' शब्द को भी ईश्वर तथा आदित्यवाची मानते हुए इसमें श्लेषालंकार माना तथा द्विविध अर्थात् आध्यात्मिक व आधिदैविक अर्थ प्रस्तुत किए।

किन्तु मन्त्रों में उनकी यह श्लेषालंकार की कल्पना और उसका भाष्य में उल्लेख करना कोई महत्त्वपूर्ण या विशिष्ट कार्य नहीं है। जब वेदों के अनेक मन्त्र त्रिविध प्रक्रिया में व्याख्यात हो सकते हैं तो निश्चय ही उनके अनेक शब्दों का तत्तत् प्रक्रियाओं में विभिन्न अर्थ होगा ही। वैसे भी शब्दों के यौगिक होने से उनका निर्वचनात्मक अनेक अर्थ सम्भावित है। अतः इस अवस्था में इस श्लेष अलंकार की कल्पना को वेदभाष्य में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं माना जा सकता। जैसे स्वामी दयानन्द ने 'इरावती धेनुमती०' (माध्य० सं० ५।१६) आदि मन्त्र में विद्यमान 'विष्णु' शब्द का एक अर्थ 'सर्वव्यापी परमेश्वर' तथा दूसरा अर्थ (शरीर में) 'व्यापनशील प्राण' करते हुए इस मन्त्र में ईश्वर एवं प्राण के गुणों का उपदेश किया गया है—यह माना है। अब शब्द की यौगिकता के कारण निर्वचन

१. इस मन्त्र (माध्म० सं० १।४) में भी आचार्य महीधर ने 'सोम' का अर्थ सोमलतारूप हविद्रव्य माना है जो कि शतपथ ब्राह्मण १।५।४।१९-२० के अनुसार प्रमाणिक हैं।

करते हुए यदि 'विष्णु' का अर्थ उन्हें 'प्राण' अभिप्रेत है या कोई अन्य अर्थ भी यदि वे इस मन्त्र में अभिप्रेत करते हैं तो यह अर्थभेद श्लेष अलंकार के कारण नहीं प्रत्युत यौगिक निर्वचन के कारण माना जायेगा, क्योंकि सामान्यतः 'प्राण' अर्थ में विष्णु शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी दुर्लभ है। फलतः ऐसे स्थलों में उन्होंने जो श्लेष अलंकार का उल्लेख किया है उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। इस प्रकार से तो उनके भाष्य में शायद ही कोई मन्त्र ऐसा हो जहाँ इस अलंकार का अभाव हो सके।

श्लेषालंकार और अस्पष्ट मन्त्रार्थ—स्वामी दयानन्द ने इस श्लेष अलंकार के माध्यम से 'भूताय त्वा नारातये०' (माध्य० सं० १।११) प्रभृति मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस मन्त्र का उनके द्वारा प्रदत्त पदार्थ में ये तीनों अर्थ नहीं ध्वनित होते (यही क्या किसी भी मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द पदार्थ में केवल मन्त्रगत पद का अर्थ कर देते हैं तथा अन्वय में उन पदार्थों की संगति तथा उनके माध्यम से विभिन्न अर्थों की प्रतीति कराते हैं। पदार्थ में तो बहुश मन्त्रार्थ असम्बद्ध या किसी भी अर्थविशेष से रहित ही प्रतीत होता है, जो कि दयानन्दभाष्य का सबसे बड़ा दोष है, किन्तु उन्होंने तीन प्रकार के अन्वय को देकर सम्भवतः मन्त्रगत अग्नि' शब्द में श्लेष मानकर तीन अर्थ दिया है। ज्ञातव्य है कि यहाँ 'अग्नि' शब्द सम्बोधनान्त है। इसमें प्रारम्भिक दो अन्वय तो कथमपि संगत हो सकते हैं किन्तु तीसरे अन्वयवाले अर्थ में यह श्लेषालंकार-जन्य अर्थ सम्बोधनान्त अग्नि शब्द से किस प्रकार ध्वनित हो सकता है यह मन्त्रार्थ एवं अन्वय पढ़ने से स्पष्ट नहीं हो पाता।

अन्य दो अलंकारों की भी अवास्तविकता—स्वामी दयानन्द के भाष्य में शेष दो प्रमुख अलंकारों अर्थात् लुप्तोपमा और वाचकलुप्तोपमा की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है जिससे उनके अस्तित्व पर शंका होने लगती है। उनके भाष्य को ध्यान से पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ को मन्त्र में द्योतित कराने के लिए ही इन अलंकारों के अस्तित्व की कल्पना कुछ स्थलों पर की हो। उदाहरणतः इस संहिता के ७ वें अध्याय का १९ वाँ मन्त्र है :—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥

इस मन्त्र का अत्यन्त सरल एवं सीधा सा अर्थ है कि—"हे देवताओं! जो तुम द्युलोक में एकादश संख्या में विद्यमान हो तथा पृथिवी और अन्तरिक्ष

लोक में भी अपनी महिमा से ग्यारह की संख्या में विद्यमान हो, इस प्रकार त्रिविध तुम सब (३३ देव) मेरे इस यज्ञ को सेवित करो।" आचार्य महीधर ने अपने माध्यन्दिन-भाष्य में तथा ऋग्वेदभाष्य में आचार्य सायण ने भी इस मन्त्र का यही सहज स्वाभाविक अर्थ प्रस्तुत किया है[1]। किन्तु स्वामी दयानन्द ने इस माध्यन्दिन संहिता के सातवें अध्याय के कुछ मन्त्रों में राजा-प्रजाविषयक प्रकरण की कल्पना की है। अब इस मन्त्र के भी उसी प्रकरण में विद्यमान होने के कारण उन्हें तद्विषयक कोई अर्थ देना है। अतः उन्होंने इस मन्त्र में 'राजसभासदों का कृत्य वर्णित है' यह मानकर उसके प्रतिपादन के लिए इसमें वाचकलुप्तोपमालंकार मानते हुए अर्थ करते हैं। उनके अनुसार मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

'जो दिव्यगुणयुक्त देव अपनी महिमा से विद्युद्रूप में प्राणापानादि ग्यारह हैं तथा पृथिवी पर पृथिवी-जल-वायु आदि ग्यारह हैं तथा प्राणों में ठहरनेवाले श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वादि ग्यारह हैं, वे जैसे अपने कार्यों में वर्तमान रहते हैं वैसे (देवासः) हे राजसभा के सभासदों आपलोग यथायोग्य अपने-अपने कार्यों में वर्त्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) राजा और प्रजासम्बन्धी व्यवहार का (जुषध्वम्) सेवन करें।'

यहाँ स्पष्ट है कि मन्त्र का अपना स्वाभाविक अर्थ न किया जाकर वाचक-लुप्तोपमालंकार की कल्पना मन्त्रार्थ को बलात् किसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए की गई प्रतीत होती है। इसी प्रकार इसी सातवें अध्याय का नौवाँ मन्त्र है—'अयं वा मित्रावरुणा सुतः०' आदि। इस मन्त्र में उन्होंने अध्यापक एवं शिष्य का कर्त्तव्य प्रतिपादित है—यह माना है तथा 'मित्रावरुणौ' का अर्थ यहाँ 'प्राण और उदान के समान वर्त्तमान (ऋतावृधौ) सत्यविज्ञानवर्धक योगविद्या के 'पढ़ने-पढ़ानेवाले लोगों'—यह किया है। स्पष्ट है कि वे यह अर्थ भी लुप्तोपमालंकार के कारण 'मित्रावरुणाविव' ऐसा मानकर कर रहे हैं। यह अर्थ उपादेय तो हो सकता है किन्तु इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। निश्चय ही यहाँ 'ऋतावृधौ' यह पद 'मित्रावरुणौ' का ही विशेषण है। क्योंकि अन्यत्र भी 'मित्रावरुणौ' का सामञ्जस्य 'ऋतावृधौ' के साथ दृष्टिगत होता है। जैसे - 'आविन्नो मित्रावरुणौ ऋतावृधौ[2]' तथा 'मित्रो वा ऋतम्[3]' आदि।

---

१. सायणाचार्य - ऋग्वेदभाष्य १।१३९।११।

२. तैत्तिरीय संहिता १।८।१२।२।

३. काण्व शतपथ ५।१।४।६ तथा तुलनीय माध्य० शतपथ ४।१।४।१०।

आचार्य महीधर ने यहाँ इस मन्त्र के भाष्य में 'ऋतावृधौ' को 'मित्रावरुणौ' का ही विशेषण माना है। यही मन्त्र ऋग्वेद में भी मिलता है जिसके भाष्य में आचार्य सायण ने भी 'ऋतावृधौ' को 'मित्रावरुणौ' का ही विशेषण मानकर अर्थ किया है[1]। अतः यहाँ स्वामी दयानन्द द्वारा 'ऋतावृधौ' को विशेषण न मानकर उसका स्वतन्त्र अर्थ 'योगविद्या के पढ़ने-पढ़ानेवाले गुरु शिष्य'—करना तथा 'मित्रावरुणौ' में लुप्तोपमा की कल्पना कर उसके द्वारा 'ऋतावृधौ' को उपमित करना केवल बुद्धि का व्यायाम ही प्रतीत होता है।

इन अलंकारों की कल्पना के कारण दयानन्दभाष्य में कहीं-कहीं पदों का अध्याहार करके अर्थ किया गया है तथा आश्चर्य तो यह है कि अध्याहृत पद ही मन्त्रार्थ में प्रमुख स्थान रखने लगा है। उदाहरणस्वरूप इस संहिता के सातवें अध्याय का पाँचवाँ मन्त्र द्रष्टव्य है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥

इस मन्त्र का अर्थ करने से पूर्व मन्त्रगत विषय का संकेत करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि इस मन्त्र में ईश्वर ने योगी के लिए विज्ञान का उपदेश किया है। अब उनके अनुसार इस मन्त्र के प्रथम चरण—'अन्तस्ते द्यावापृथिवी-दधामि' का अर्थ है—'हे योगी! मैं अर्थात् परमेश्वर जिस प्रकार आकाश में भूमि सूर्यादि पदार्थ हैं वैसे ही तेरे हृदयाकाश में (द्यावापृथिवी 'इव') भूमि के समान विज्ञानादि पदार्थों को स्थापित करता हूँ।'—अब इस मन्त्रार्थ की प्रामाणिकता कैसे स्वीकार की जा सकती है जहाँ 'द्यावापृथिवी' यह उपमान हो गया है तथा स्वकल्पित या अध्याहृत 'विज्ञानादिपदार्थान्' यह अन्वयगत पद उपमेय बनकर मन्त्रार्थ में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने लगा है। ऐसे स्थलों पर उनकी यह अलंकार कल्पना नितान्त हास्यास्पद होने के साथ ही मन्त्रार्थ को वास्तविकता से दूर ले जाती प्रतीत होती है।

वैसे दयानन्दभाष्य में समस्त लुप्तोपमा या वाचकलुप्तोपमा अलंकारों की ऐसी ही स्थिति हो यह बात नहीं है। कहीं-कहीं उनके द्वारा प्रदत्त अलंकार अत्यन्त ग्राह्य तथा अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ भी हुऐ हैं। जैसे—'समिधाग्निं दुवस्यत

---

१. सायणाचार्य—ऋग्वेद-भाष्य ४।४१।४।

घृतैर्बोधयतातिथिम्०' (माध्य० सं० ३।१) इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने 'अतिथिम्' पद की व्याख्या में वाचकलुप्तोपमा मानकर 'अतिथिमिव अग्निं दुवस्यत' यह जो अर्थ किया है वह युक्त एवं ग्राह्य प्रतीत होता है (यहाँ आचार्य महीधर ने कोई अलंकार नहीं माना है) किन्तु यह बात सभी अलंकारों के प्रति नहीं कही जा सकती। ऐसे युक्तिसंगत एवं स्वाभाविक अलंकारों का उल्लेख उनके भाष्य में अत्यन्त कम या दुर्लभ ही है।

महीधरभाष्य में अलंकार

आचार्य महीधर ने यद्यपि स्वामी दयानन्द के समान अधिक मात्रा में अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है, यत्र कुत्रचित् ही वे अलंकारों का संकेत करते हैं किन्तु उनके अलकार ग्राह्य एवं संगत प्रतीत होते हैं। उन्होंने अलकारों को बलात् थोप करके कोई अर्थ सिद्ध करने का कहीं प्रयत्न नहीं किया है। सम्भवतः इसी कारण अत्यल्प स्थलों पर ही उनके भाष्य में अलंकारों का उल्लेख मिलता है।

जहाँ तक श्लेष अलंकार का प्रश्न है इसका उल्लेख उन्होंने कहीं भी नहीं किया है। जहाँ मन्त्रों के आधिदैविक, आध्यात्मिक आदि प्रक्रियाभेद के कारण अनेक अर्थ सम्भव हैं वहाँ उनमें श्लेषालंकार मानना भी व्यर्थ है। क्योंकि वहाँ पदार्थभेद मुख्यतः वैदिकपदों के पूर्णतया यौगिक और अनेकाथक होने एवं त्रिविध प्रक्रिया के कारण ही होता है अतः इन स्थलों में श्लेषालकार का उल्लेख करना महत्त्वहीन है। जैसे सातवें अध्याय के १६ वें मन्त्र का अर्थ आचार्य महीधर ने आधिदैविक प्रक्रिया में चन्द्रदेवतापरक तथा अधियज्ञ में सोमलतापरक किया है जो कि सोम शब्द के अर्थश्लेष को द्योतित करता है[1]। किन्तु इस अलंकार का उन्होंने यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य महीधर ने लुप्तोपमालंकार का भी आश्रय लेकर यत्र कुत्रचित् अर्थ किया है किन्तु ऐसे स्थल अत्यन्त स्वल्प हैं तथा वहाँ उनकी अलंकार कल्पना अत्यन्त संगत व प्रामाणिक प्रतीत होती है। उदाहरणतः—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे' (माध्य० सं० ५।१५) इस मन्त्र के भाष्य में 'पांसुरे'

---

१. चन्द्रमा उ वै सोमः—माध्य० शतपथ ६।५।१।१ तथा काठक संहिता ११।३;
ओषधयो वै सोमः—मैत्रायणी संहिता ३।७।४।
सोमो वनस्पतिः—काठक संहिता ३६।३।

पद को उन्होंने दो प्रकार से व्याख्यात किया है तथा इसकी द्वितीय व्याख्या में वे लिखते हैं—'पांसुरे इव लुप्तोपमानम् । पांसुले रजस्वले प्रदेशे निहितं यथा न ज्ञायते तद्वत् ।'

ज्ञातव्य है कि निरुक्तकार यास्क ने भी इस मन्त्र की व्याख्या में 'पांसुरे' पद के सन्दर्भ में 'अपि वोपमार्थे स्यात्' ऐसा लिखकर इसमें लुप्तोपमा मानने का संकेत किया है[1] । आचार्य सायण ने भी ऋग्वेदभाष्य में ऐसा ही माना है[2] । किन्तु स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार का कोई उल्लेख या तदलंकृत किसी अर्थ का संकेत नहीं किया है जब कि मन्त्र में इस अलंकार को स्वीकार करके अर्थ देना उचित प्रतीत होता है । इसके विपरीत वे इस मन्त्र से पूर्व १४ वें मन्त्र में—'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो०' लुप्तोपमा मानकर अपना मनचाहा अर्थ निकाला है जो कि अत्यन्त अस्वाभाविक एवं आरोपित प्रतीत होता है ।

इसी प्रकार नवम अध्याय के १६ वें मन्त्र में विद्यमान—'जम्भयन्तोऽहिं वृकम्' इस वाक्य का अर्थ उन्होंने—(अहिम्) मेघमिव चेष्टमानम् उन्नतम् (वृकम्) चोरम् जम्भयन्तः—ऐसा किया है, जब कि आचार्य महीधर ने इसमें लुप्तोपमा न मानकर इसका सीधा अर्थ—'अहिं सर्पं वृकम् अरण्यश्वानं रक्षांसि च जम्भयन्तः नाशयन्तः'—यह लिखा है जो कि अत्यन्त स्वाभाविक और युक्त प्रतीत होता है । निरुक्तकार यास्क ने भी इसका ऐसा ही सीधा सा अर्थ किया है तथा यहाँ कोई अलंकार आदि नहीं माना है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा मनोनुकूल अर्थ प्रकट करने के लिए अलंकारों का उपयोग

यह सब लिखने का तात्पर्य मेरा यह कदापि नहीं कि इस प्रकार से मन्त्रों में अलंकारों की उद्भावना करके अर्थ नहीं किया जा सकता या कि निरुक्त एवं प्राचीन वेदभाष्यों में जैसा जहाँ अलंकार है वैसा ही यहाँ भी मानकर अर्थ करना चाहिए । प्रत्युत मेरा तात्पर्य यह है कि जब मन्त्र अपने स्वाभाविक गति से अर्थ को प्रकट करने में पूर्णतया समर्थ है तब अलंकारों के माध्यम से किसी अर्थ विशेष को ध्वनित करना तथा मनचाहे अर्थ की कल्पना में उसे साधन के रूप में प्रयोग

१. यास्क—निरुक्त १२।१९ ।
२. आचार्य सायण—ऋग्वेदभाष्य १।२२।१७ ।

करना नितान्त असंगत है। स्वामी दयानन्द का वेदार्थ कुछ इसी प्रकार का है। वे पहले अपनी मान्यता के अनुसार किसी प्रकरणविशेष या प्रतिपाद्यविशेष को अपने भाष्य में कल्पित कर लेते हैं पुनः उसके प्रतिपादन में ही तदनुसार मन्त्रों का अर्थ करने के लिए इन अलंकारों का स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग करते हैं। जैसे १२ वें अध्याय के ९९ वें मन्त्र में विद्यमान 'ओषधे' इस पद का अर्थ उन्होंने इसमें वाचक-लुप्तोपमालंकार मानते हुए 'ओषधिवद् वर्तमाने स्त्रि !' यह किया है जो अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम इस संहिता के इसी १२ वें अध्याय के १०० वें मन्त्र को उपस्थित करते हुए दोनों भाष्यकारों के अनुसार इसका अर्थ प्रस्तुत कर इस सन्दर्भ में उनकी तुलना करना चाहेंगे। मन्त्र है—

दीर्घायुस्ते ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात्॥

आचार्य महीधरकृत इस मन्त्र का अर्थ है—

हे ओषधे ! ते तव खनिता खननकर्त्ता दीर्घायुर्भूयादिति शेषः।
यस्मै चाऽऽतुराय नरायाऽहं त्वां खनामि सोऽपि दीर्घायुरस्तु॥
अथो अपि च त्वं दीर्घायुरखण्डितजीवना भूत्वा शतवल्शा।
बह्वङ्कुरा सती विरोहताद् विरोह बह्वङ्कुरोत्पद्यस्व॥

अर्थात—हे ओषधे ! तुम्हारा खननेवाला मैं और जिस रोगी के लिए तुम्हारा खनन किया जा रहा है वह, अर्थात् ये दोनों व्यक्ति दीर्घायु हों। साथ ही तुम भी दीर्घायु हो पुनः अखण्डितमूलवाली होकर अंकुरित होती रहो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ—

हे (ओषधे!) ओषधि के तुल्य ओषधियों के गुण-दोषों को जाननेवाले पुरुष ! जिससे (ते) तेरी जिस ओषधि का (खनिता) सेवन करनेवाला (अहम्) मैं (यस्मै) जिस प्रयोजन के लिए (च) और जिस पुरुष के लिए (खनामि) खोदूँ उससे तू (दीर्घायुः) अधिक अवस्थावाला (भूत्वा) होकर (त्वम्) तू जो (शत-वल्शा) बहुत अंकुरों से युक्त ओषधि है (त्वा) उसको सेवन करके सुखी हो और (विरोहतात्) प्रसिद्ध हो।

उपर्युद्धृत दोनों भाष्यकारों के मन्त्रार्थों को देखने से यह स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि जहाँ आचार्य महीधर का अर्थ मन्त्रपदानुरूप अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है वहीं स्वामी दयानन्द का अर्थ अत्यन्त वेढगा तथा बलात् कल्पित प्रतीत होता है। समझ में नहीं आता कि 'ओषधे !' का अर्थ 'ओषधिवद्वर्तमान विद्वन् !' (मा० सं० दयानन्दभाष्य १२।१००) करने की क्या आवश्यकता थी। पूर्व ९९वें मन्त्र के समान ही यहाँ उन्होंने लुप्तोपमा द्वारा 'ओषधे' का अर्थ 'विद्वान् पुरुष' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द या सम्भवतः जड या अचेतन ओषधिरूप वृक्ष को सम्बोधन के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर जड या अचेतन वस्तु के सम्बोधन से किसी रूप में यहाँ मूर्त्तिपूजा की गन्ध या भनक मिल सकती है जो उन्हें कथमपि स्वीकार्य नहीं। इसी कारण उन्होंने इसको लुप्तोपमा द्वारा उसे चेतन पुरुष से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु इस प्रकार वे इस मन्त्र के काव्यगत सौन्दर्य को नष्ट कर एक कल्पित अलंकार द्वारा अन्य अर्थ की उद्भावना करके वास्तविक मन्त्रार्थ के साथ न्याय नहीं कर रहे हैं।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के अपने हिन्दी पदार्थ में 'ओषधे' का अर्थ 'ओषधि के तुल्य ओषधि के गुण-दोष जाननेवाले पुरुष' यह जो किया है वह अत्यन्त अस्पष्ट है। यदि इसका यह अर्थ है कि जैसे ओषधि अपने गुण-दोषों को जानती है वैसे ही गुणदोषज्ञ पुरुष, तो यह बात समझ में नहीं आती कि अचेतन या जड ओषधि अपने गुण-दोषों को कैसे जानेगी; और यदि इसका कोई अन्य अभिप्राय है तो फिर वाक्य में 'गुणदोषों का ज्ञान' रूप भाव कैसे प्रविष्ट होकर संगत हो गया। इसी प्रकार 'त' का अर्थ 'तेरी (विद्वान् की) जिस ओषधि' का तथा 'खनिता' का अर्थ 'खनन करनेवाला एवं 'यस्मै' का अर्थ 'जिस प्रयोजन के लिए' और 'च' का अर्थ 'पुरुष के लिए' तथा 'दीर्घायुः' का 'जिस पुरुष के लिए खोदूँ उससे तू अधिक अवस्थावाला हो' अर्थ करना जहाँ असंगत, आधारहीन और निरर्थक प्रतीत होता है वहीं 'त्वा' को 'ताम्' में विपरिणत कर व्याख्यात करना तथा 'वि रोहतात्' का 'प्रसिद्ध हो' यह अर्थ करना भी अयुक्त एवं अनावश्यक है। इस मन्त्र का उनका भाष्य तो इतना असम्बद्ध एवं अस्पष्ट है कि यहाँ मूल मन्त्रपाठ ही उससे कहीं अधिक स्पष्ट एवं सार्थक प्रतीत होता है। इस जड या अचेतन ओषधि को सम्बोधन के रूप में (जड़पूजा के भय से) अस्वीकार करने की उनकी मान्यता ने ही जहाँ उन्हें मन्त्रों में लुप्तोपमालंकार की कल्पना करने को विवश किया वहीं मन्त्रार्थ में व्यत्यय, अध्याहार आदि मानने को भी बाध्य किया। किन्तु फिर भी मन्त्र का वह स्वा-

भाविक और स्पष्ट अर्थ वे न दे सके जिसे महीधर ने अपने भाष्य में प्रदान कर दिया है।

इस प्रकार आचार्य महीधर ने यद्यपि अपने भाष्य में बहुत कम ही अलंकारों का उल्लेख किया है किन्तु जहाँ कहीं भी किया वहाँ अधिकांशतः वे युक्त, ग्राह्य एवं उचित जान पड़ते हैं जब कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त अलंकार बहुशः बलात् कल्पित एवं किसी विशेष अर्थ को ध्वनित कराने के लिए आरोपित प्रतीत होते हैं।

●

षष्ठ अध्याय

ऐतिहासिक या आख्यानपरक मन्त्रार्थों एवं विभिन्न मन्त्रपदार्थों का तुलनात्मक विवेचन

वेदमन्त्रों में कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं जो संज्ञावाची प्रतीत होते हैं तथा सामान्यतया वे किसी व्यक्ति या देशविशेष के नाम के रूप में कालान्तर में भारतीय इतिहास में जाने गए हैं। यद्यपि ऐसे शब्द ऋग्वेद में अधिक उपलब्ध हैं किन्तु यजुर्वेद में भी एकाध स्थल ऐसे हैं जिनके विषय में यह बात विचारणीय हो जाती है। इन शब्दों का अर्थ व्यक्तिपरक करने पर निश्चय ही वेदों की अपौरुषेयता पर आक्षेप होने के साथ ही मानव इतिहास का उनमें संकेत होने के कारण उनकी नित्यता पर भी आँच आएगी। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में एतादृश शब्दों का कोई ऐसा अर्थ नहीं किया है जिससे ये आक्षेप पुष्ट हो सकें। जहाँ तक महीधर का प्रश्न है वे भी वेदों को अपौरुषेय तथा नित्य मानते हैं। अतः उनके अनुसार भी निश्चय ही उन शब्दों का अर्थ व्यक्तिपरक नहीं होना चाहिए। किन्तु उन्होंने जो अर्थ दिया है उससे इस मान्यता पर आक्षेप हो सकता है। जैसे—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥—मा० सं० ३।६२

इस मन्त्र में 'जमदग्नेः' पद की व्याख्या में उन्होंने लिखा है कि—'जमदग्नेः मुनेस्त्र्यायुषम्, त्रयाणां बाल्ययौवनस्थाविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषम्······ जमदग्न्यादीनां बाल्यादिषु यादृशं चरितं तथा नो भूयादित्यर्थः।' अब यदि आचार्य महीधर की इस व्यक्तिपरक व्याख्या को ठीक इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो निश्चय ही वेदों में मानव वृत्तान्त के ध्वनित होने से उसकी अपौरुषेयता पर सन्देह होगा। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या में 'जमदग्नि' शब्द का अर्थ चक्षु किया है। इसमें उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण भी दिया है[1]। उनकी व्याख्या से किसी व्यक्तिवाचक नाम या मानवीय इतिवृत्त के सन्दर्भ में कोई सन्देह यहाँ जागृत नहीं होता है।

कुछ इसी प्रकार की स्थिति उन आख्यानपरक मन्त्रार्थों के सम्बन्ध में है जिनका मूल ब्राह्मणादि वैदिक ग्रन्थों में विद्यमान है तथा उन मन्त्रों की व्याख्या आचार्य महीधर ने तदनुसार ही स्वाभाविक रूप से कर दी है तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मणवाक्य का संकेत भी अपने भाष्य में कर दिया है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने किसी भी मन्त्रभाष्य में ऐसा कोई अर्थ प्रकट नहीं किया है जिससे ब्राह्मण-

---

१. चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिर्यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि-ऋषिः—माध्यन्दिन शतपथ ८।१।२।३।

गत उन आख्यानों का कोई साक्षात सम्बन्ध उनके अर्थ से ध्वनित हो सके। जैसे इस संहिता के १०वें अध्याय के अन्तिम दो मन्त्रों की व्याख्या के सन्दर्भ में महीधर ने शतपथ ब्राह्मण[1] के आधार पर एक आख्यान दिया है जो निम्न है—

एक बार नमुचि नामक असुर जो इन्द्र का मित्र था, अत्यन्त विश्वस्त होने पर इन्द्र के वीर्य को सुरारूप सोम के साथ पी गया। जब इन्द्र ने अपनी इस पीतवीर्यताजन्य निर्वीर्यता को अश्विनीकुमारों एवं सरस्वती से बताया तो उन लोगों ने उसे जल के फेनरूप वज्र को दिया जिससे उस इन्द्र ने नमुचि के सिर को काट डाला। शिरश्छेद से निःसृत सुरा-सोम-रुधिरमिश्रित वीर्य को अश्विनीकुमारों ने पीकर उसे शुद्ध किया तथा उस शुद्धांश वीर्य को इन्द्र को प्रदान कर उसकी रक्षा की। अत्र इसी कथानक के परिप्रेक्ष्य में किया गया महीधर का निम्न मन्त्रार्थ द्रष्टव्य है—

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥

हे अश्विनी कुमारों तुम दोनों अत्यन्त रमणीय सुरा-सोम को जो नमुचि संज्ञक असुर में स्थित था, उसे साथ-साथ विविध प्रकार से पीते हुए (शुभस्पती) शोभन कर्मों को सम्पन्न करनेवाले तुम दोनों इन्द्र को (कर्मसुआवतम्) अपने कार्य को करने में सामर्थ्ययुक्त बनाओ।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक ॥

हे इन्द्र जैसे माता-पिता अपने पुत्र की रक्षा करते हैं वैसे ही अश्विनी देवों ने तुम्हारी मन्त्रादि काव्यों से रक्षा की और जो तुम सुरामय सोम को (नमुचि वधादि कर्म करके) पिये हो, हे धनुयुक्त इन्द्र! तुमको देवी सरस्वती उपसेवित करती है—अर्थात् तुम्हारे द्वारा कृत सोमपान एवं सरस्वतीकृत सेवन से ही अश्विनी कुमारों ने तुम्हारी रक्षा की है।

अब इन दोनों मन्त्रों का स्वामी दयानन्द कृत अर्थ भी द्रष्टव्य है—

'हे सूर्य चन्द्रमा के समान सभापति व सेनापति, तुम दोनों मिल करके विविध प्रकार से राज्य के रक्षक होकर सुन्दर व्यवहार के पालक होते हुए (नमुचौ) जो अपने कर्मों को न छोड़े (आसुरे) मेघ के व्यापार में (कर्मसु) खेती आदि कर्मों में वर्त्तमान, (सुरामम्) अच्छी तरह जिसमें रमण करे ऐसे (इन्द्रम्) परमेश्वर्य-वाले धनी पुरुष की रक्षा करो'—(माध्य० संहिता १०।३३)।

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १३।३।४।१।

'हे (मघवन्) उत्तम धनवाले सब सभाओं के मालिक राजन् ! जो आप (शचीभिः) अपनी बुद्धियों के बल से (सुरामम्) अच्छे आराम देनेवाले रस को विविध प्रकार से पीयें, उस आपका (सरस्वती) विद्या से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई वाणी के समान स्त्री (अभिष्णक्) सेवन करे। (अश्विना) राजा से आज्ञा को प्राप्त हुए सेनापति और न्यायाधीश तुम दोनों परम विद्वान् धर्मात्मा लोगों के लिए (दंसनाभिः) कर्मों से जैसे माता-पिता अपने सन्तान की रक्षा करते हैं वैसे सब राज्य की रक्षा करें'—(माध्यन्दिन-संहिता १०।३४)।

यहाँ प्रथम मन्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से आचार्य महीधर एवं स्वामी दयानन्द के भाष्य में जो प्रमुख भिन्नताएँ प्रतीत होती हैं वे निम्न हैं—

(१) **अश्विनौ**—इस शब्द का अर्थ महीधर के अनुसार एतत्संज्ञक देवयुगल से है जो कि देवताओं के चिकित्सक के रूप में विख्यात हैं। अश्विनौ की देव-चिकित्सक के रूप में कथानकों में उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है जब कि पौराणिक देवमण्डल में तो ये अत्यन्त ही प्रतिष्ठित हैं। स्वामी जी ने इस शब्द का अर्थ उपमान मिश्रित किया है। उपमेय हैं सभाध्यक्ष एवं सेनाध्यक्ष। यह शब्द सूर्य और चन्द्रमा का वाची है। निरुक्त में कहा भी है—'तत् कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्या-वित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके आदि'—(निरुक्त १२।१)।

(२) **सुरामम्**—महीधर ने इसका अर्थ सुरामय सोम किया है। इनके अनुसार 'सुरा' शब्द से स्वार्थ में या विकारार्थ में 'मयट्' प्रत्यय होकर यह शब्द बना है। स्वामी दयानन्द ने इसे 'सु' उपसर्गपूर्वक 'रम' धातु से बनाया है तथा इसका अर्थ 'जिसमें सुन्दरता से रमण करे' यह किया है।

(३) **नमुचौ आसुरे**—महीधर ने इसका अर्थ नमुचि नामक असुर किया है जब कि स्वामी दयानन्द ने 'अपने कर्म को न छोड़नेवाला' तथा 'असुर' शब्द का अर्थ मेध किया है।

(४) **विपिपाना**—महीधर ने इस शब्द को 'पा-पाने' धातु से निष्पन्न कर इसे सोमपान या सुरापान से सम्बद्ध किया है जब कि स्वामी दयानन्द इसे 'पा रक्षणे' धातु से निष्पन्न कर इसको राज्य की रक्षा करनेवाले सभाध्यक्ष एवं सेनाध्यक्ष का विशेषण मानते हैं।

(५) **इन्द्रम्**—महीधर ने इसको देवताविशेषवाची शब्द माना है जब कि स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ धनी या ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति किया है।

मन्त्रार्थ को आख्यानात्मक रूप में न प्रस्तुत करने का कारण

स्वामी दयानन्द द्वारा अपने वेदभाष्य में विभिन्न मन्त्रों का आख्यानपरक अर्थ न दिए जाने का कारण यह है कि वे इन मन्त्रसम्बद्ध आख्यानों को मन्त्रार्थ को अलंकृत शैली में प्रस्तुत करने के साथ ही अपेक्षाकृत रुचिकर ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में कल्पित मानते हैं। अतः उनके अनुसार इस प्रकार का कोई वास्तविक इतिहास है ही नहीं जिसे मन्त्रभाष्य में देने की आवश्यक अनिवार्यता हो। अपने भाष्य में इन आख्यानों की जानबूझकर उपेक्षा करने का एक कारण यह भी है कि वे नहीं चाहते कि इनको पढ़कर साधारण व्यक्ति को कहीं ऐसी भ्रान्ति हो जाय कि इन्द्र, अश्विनी या सरस्वती आदि कोई देवयोनि-विशेष के प्राणिविशेष हैं तथा वृत्र, नमुचि आदि राक्षसवर्ग के कोई जीवन्त प्राणी हैं जिन अतिमानवीय लोगों की चर्चा इन वेदमन्त्रों में की गई है आदि। महीधर के समान जिन भाष्यकारों ने सामान्यतया आख्यानपरक अर्थ करके मन्त्रार्थ को सम्पन्न मान लिया हैं इन्हीं लोगों के अर्थों को देखकर अनेक लोगों ने वेद में इतिहास आदि की कल्पना की है। ऋग्वेद के 'अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम्०' (ऋ० १।३२।-१०) मन्त्र के व्याख्याप्रसंग में इन्द्र, वृत्र के व्याख्यान सन्दर्भ में निरुक्तकार यास्क ने लिखा है—

तत् को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषां च मिश्रीभावकर्मणो वर्षं कर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति, आदि[1]।

यहाँ स्पष्ट है कि वे लोग जो इतिहासपरक मन्त्रार्थ करने में अभिरुचि रखते हैं उनके अनुसार 'वृत्र' त्वष्टा का असुर पुत्र है जब कि नैरुक्तों ने इसे मेघ माना है तथा इन्द्र = सूर्य और वृत्र = मेघ के क्रिया-कलापों को मानव युद्ध के समान उपमित करते हुए एक अलंकृत शैली का (मूलतः ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा कल्पित) युद्ध वर्णन ही माना है। मन्त्रार्थ-सन्दर्भ में प्रदत्त यह आख्यानात्मक इतिहास यदि मानव इतिहास की कोई वास्तविक घटना मानी जाने लगे तो फिर वेदों की नित्यता पर निश्चय ही सन्देह होगा। इसी कारण आचार्य वररुचि ने लिखा है—

औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः नित्यत्वविरोधात्।
परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः[2]।

---

१. आचार्य यास्क—निरुक्त २।१६।

२. आचार्य वररुचि—निरुक्त समुच्चय, पृ० ७१।

अर्थात मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जाएगा। परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही ठीक है ऐसी नैरुक्तों की मान्यता है। इसी सन्दर्भ में निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी ने भी लिखा है—

'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति तत्को वृत्र मेघ इति नैरुक्ताः—(नि० २।१६) इत्यादि। मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः (निरु० १२।१०) रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयते इति। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्[१]।'

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी ने भी इस इन्द्र-वृत्र कथानक के सन्दर्भ में लिखा है—

'यद्यपि किञ्चिदनित्यार्थवचनमिव दृश्यमानं ततो वृत्तान्तादर्वाक् प्रवृत्तं वा ग्रन्थस्यांशं कथयति—वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिष्य इत्यादि तदपि नैरुक्तदिशा प्रवाहनित्यमेष विद्युदादिव्यवहारवाचित्वेन ऐतिहासिकदिशा वा सर्ववृत्तान्तानामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्त्तवद्यथाकालवर्त्तमानानाम् अनाद्यन्तानां वेदेन कर्मकालेऽतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषः[२]।'

तथा—'एवमपि (इतिहासदृष्ट्या) व्यवहारमुक्त्वा नैरुक्तदृष्ट्या प्रत्यक्षमिन्द्रवृत्रव्यवहारं दर्शयन्नाह—तद् वा एते देवा इति। अत्र च वृत्रहा आदित्योऽभिप्रेतः[३]....' आदि।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वेदों की नित्यता को बनाए रखने के लिए इन्द्र-वृत्रादि युद्ध या एवंविध आख्यानों को नित्य इतिहास अर्थात् सृष्टि-प्रक्रिया में निरन्तर चलने रहनेवाले किन्हीं विशिष्ट क्रिया-कलापों के द्योतनार्थ कल्पित किए गए आलंकारिक वर्णन के रूप में ही स्वीकार करने होंगे। इसीलिए ब्राह्मण में लिखा है—'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरमिति।' अर्थात् वृत्रासुर युद्ध (प्राणिविशेषों का) कोई हुआ ही नहीं है, प्रत्युत यह उपमार्थ युद्ध का वर्णन है[४]। इन्हीं सब प्रमाणों और मान्यताओं के आधार पर स्वामी दयानन्द ने किसी भी मन्त्र का

---

१. स्कन्दस्वामी—निरुक्त टीका, भाग २ पृ० ७८।
२. शतपथ ब्राह्मण—हरिस्वामीभाष्य (ब्रह्मदत्तजिज्ञासु हस्तलेख पृ० १४)।
३. शतपथ ब्राह्मण—हरिस्वामी भाष्य (जिज्ञासु हस्तलेख, पृ० १६०)।
४. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।६।

कोई आख्यानपरक अर्थ अपने वेदभाष्य में दिया ही नहीं तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका नामक अपने ग्रन्थ में अनेक आख्यानों, जैसे चतुर्मुख प्रजापति देहधारी ब्रह्मा द्वारा अपनी कन्या सरस्वती के साथ किए गए मैथुन कर्म को अत्यन्त असत्य एवं गप्प माना है। वे इसका तात्पर्यार्थ अन्य (रूपकालंकार आदि के) माध्यम से व्याख्यात करते हैं यद्यपि इस आख्यान का संकेत ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय पंजिका में भी प्रदत्त है[1]। स्वामी दयानन्द का पक्ष इस सन्दर्भ में अत्यन्त उचित प्रतीत होता है। निश्चित ही इस आख्यान को इतने स्थूल रूप में मानना वेद के साथ अन्याय करना है। स्वामी जी ने इस प्रसंग की व्याख्या रूपकालंकार में प्रस्तुत करते हुए प्रजापति का अर्थ सविता या सूर्य[2] है तथा उसकी दो सन्तानों को उषा एवं दिन का प्रकाश बताया है, जो कि प्रजापति सूर्य से उत्पन्न होने के कारण ही उसकी पुत्री के समान हैं। इस प्रथम पुत्री उषा में अपने वीर्य रूपी किरणों की स्थापना के द्वारा ही तदनन्तर उत्पन्न होनेवाले दिवस को पुत्र रूप में जो स्वीकार किया जाता है वही इस पिता और दुहिता के समागम का आलंकारिक वर्णन है, यह स्वामी दयानन्द की मान्यता है। इनकी यह आलंकारिक व्याख्या निश्चय ही ग्राह्य होनी चाहिए क्योंकि स्वयं शतपथ ने जो प्रजापति के पुत्री के रूप में दिवस और उषस् का संकीर्त्तन करते हुए आख्यान दिया है वह इसकी आलंकारिकता को ध्वनित कराने के लिए पर्याप्त है—

'प्रजापतिर्हि स्वां दुहितरमभिदध्यौ दिवं वा उषसं वा, मिथुन्येनया स्यामिति। तां संबभूव। तद्वै देवानामग आस य इत्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोतीति···आदि'—(माध्य० शतपथ ब्राह्मण १।७।४।१)।

इसी प्रकार पुराणों में विस्तृत रूप से प्रदत्त इन्द्र और अहल्यावाली कथा का भी वे जब तात्पर्यार्थ निरूपित करते हैं[3] तब उनके अनुसार यहाँ इन्द्र का अभिप्राय सूर्य से है, रात्रि ही अहल्या है जिसका पति गोतम है जो चन्द्रमा है, तथा यही सूर्य रूपी इन्द्र रात्रि का जरयिता (जृष् वयोहानौ) या विनाशक होने से उसका जार कहा गया है[4]।

---

१. ऋग्वेद १०।६१।७, मा० शतपथ ब्रा० १।६।४।१-४, ऐतरेय पंजिका ३।३३-३४।

२. 'प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता'—मा० शतपथ ब्रा० १०।२।२।४।

३. द्रष्टव्य—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय, पृ० ३२१।

४. क—एष एवेन्द्रो य एष तपति—माध्य० शतपथ ब्रा० १।६।४।१८।

ख—चन्द्रमा गन्धर्वः सोऽपि गौरुच्यते—निरुक्त २।६।

ग—आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता—निरुक्त ३।१६।

वैदिक मन्त्रों पर आधारित ब्राह्मणों एवं पुराणों में कल्पित एवंविध आख्यानों को पढ़कर स्वग कोई स्थानविशेष है, इन्द्रादि देव कोई देहधारी स्वर्गस्थ प्राणी है, गोतम नाम का कोइ ऋषि है जिसकी स्त्री के साथ इन्द्र ने जारकर्म किया आदि सामान्य इतिवृत्तात्मक भाव ही साधारण लोगों के मन में आता है जो अस्वाभाविक भी नहीं है। किन्तु निश्चय ही हम इन आख्यानों को केवल मात्र इतिवृत्तात्मक रूप में ही समझकर या कोई साधारण गल्प मानकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इन आख्यानों के माध्यम से अवश्य ही ऋषि किसी अन्य तत्त्व की व्याख्या करना चाहता है या उसे प्रकट कर रहा होता है। निरुक्त में एवंविध आख्यानों के सन्दर्भ में ही लिखा है—'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' अर्थात् तत्त्वार्थद्रष्टा ऋषि बहुधा काल्पनिक आख्यानयुक्त अलंकृत शैली में तत्त्वार्थ को निरूपित करन मे अभिरुचि रखते हैं।

जिस काल में स्वामी दयानन्द ने अपना वेदभाष्य लिखा उस काल में आर्येतर सम्प्रदाय के लोग (ईसाई, मुसलमान आदि) इसी प्रकार के कथानकों के आधार पर वैदिक या पौराणिक देवी-देवताओं के चरित्र पर आक्षेप करते तथा उनकी असभाव्यता का मजाक भी उड़ाया करते थे। अतः तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में स्वामी जी ने जो वेदभाष्य लिखा उसमें एवंविध आक्षेपों के समाधान के लिए ही सम्भवतः ऐसी किसी भी वैदिक कथा का कोई आख्यानात्मक रूप उन्होंने मन्त्रार्थ में प्रस्तुत ही नहीं किया जिस पर किसी तरह का आक्षेप किया जा सके। इसी विचार की पृष्ठभूमि में उनके पूर्वोद्धृत १० वें अध्याय के अन्तिम दो मन्त्रों का अर्थ जानना चाहिये जिसकी महीधर के आख्यानपरक अर्थ से कोई तुलना ही नहीं है।

दोनों भाष्यकारों ने आख्यानात्मक मन्त्रों की एकांगी या अपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है

वास्तव में वेदमन्त्रों के सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों में संकेतित इस आख्यानात्मक विधा के साथ दोनों ही भाष्यकारों ने पूर्ण न्याय नहीं किया है। स्वामी दयानन्द ने यद्यपि मन्त्र-सन्दर्भ में विद्यमान ब्राह्मण-ग्रन्थों के आख्यानों को आलंकारिक माना है किन्तु उन अलंकृत वर्णनों का वास्तविक अभिप्राय अपने भाष्य में किसी भी स्थल में स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है जैसा कि कुछेक आख्यानों का अभिप्राय-तत्त्व अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उन्होंने प्रकाशित किया है। स्वामी जी को इन आख्यानों को, जो कि मन्त्रों के सन्दर्भ में ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रदत्त हैं, अपने भाष्य में स्थान देते हुए तथा उनका आश्रय लेकर भी कहीं मन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करनी चाहिए थी। यह ठीक है कि उन आख्यानों को कोई अति-मानवीय घटना या

द्युलोकस्थ प्राणिविशेष का इतिहास मानना सम्भव नहीं है तो फिर इन्हें वैदिक साहित्य का अलंकृत वर्णन या मन्त्रार्थ के दर्शन में उस कथानक की उपयोगिता तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी[1]। फिर ऐसे आख्यानों से बचने या भागने की अपेक्षा उन्हें अपने भाष्य में यथोचित स्थान देकर उसकी उसी प्रकार व्याख्या करनी अपेक्षित थी जिस प्रकार की व्याख्या उन्होंने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इन्द्र-अहल्या कथा या इन्द्र-वृत्र युद्धकथा आदि की है। अपने भाष्य में मन्त्र सम्बद्ध ब्राह्मणप्रोक्त ऐसे कथानकों की उपेक्षा के कारण ही प्रस्तुत पूर्व मन्त्रद्वय के साथ सम्बद्ध—'नमुचि द्वारा इन्द्र का वीर्यपान एवं अश्विनौ तथा सरस्वती द्वारा उनकी रक्षा'—का तात्पर्यार्थ अनिरूपित रह गया है। मन्त्रों में विद्यमान या उनसे सम्बद्ध कोई इतिहास या आख्यान यदि ब्राह्मणग्रन्थों में दिया है तो उसकी उपेक्षा करके मन्त्रार्थ करने से बहुधा अस्पष्टता एवं अपूर्णता प्रतीत होने लगती है। ये ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रनिर्माण-काल के अति निकट हैं। अतः निश्चय ही वे मन्त्रार्थ का निरूपण करने में अच्छी तरह समर्थ हैं। मन्त्रार्थ सन्दर्भ में ब्राह्मणों में जो इतिहास या आख्यान प्रस्तुत किया गया है वह मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने में जहाँ सहायक है वहीं उसके काव्य-गत सौन्दर्य की आभा को भी अभिव्यक्त करता है। अतः ऐसे मन्त्रों का अर्थ करते समय इन आख्यानों की उपेक्षा करके अर्थ करने में मन्त्रार्थ अधूरा एवं यथार्थ से कुछ दूर प्रतीत होने लगता है। यदि इन मन्त्रों में स्वामी दयानन्द को लोकोपयोगी एवं वह वास्तविक अर्थ प्रकट करना ही अभिप्रेत था जो कि उन्हें मान्य है और अपने भाष्य में किया भी है, तो यदि वह उन मन्त्र-सम्बद्ध आख्यानों की आलंकारिक व्याख्या प्रस्तुत करके उनके ही माध्यम से ध्वनित कराया गया होता तो अधिक उपयुक्त एवं प्रामाणिक बन जाता।

आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में, जहाँ कहीं भी किसी मन्त्र के सन्दर्भ में कोई आख्यान या इतिहास आया है, उसे मन्त्रार्थ करते समय संकेतित किया है तथा उसके अनुरूप ही अपना मन्त्रार्थ देने का प्रयास किया है। किन्तु उनके भाष्य में इन आख्यानों के सन्दर्भ में जो प्रश्न है, वह यह है कि उन्होंने यदि इन आख्यानों को इसी रूप में स्वीकार किया है, जैसा कि उन्होंने दिया है, तो फिर वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता पर सन्देह होगा किन्तु यदि वे इन आख्यानों को केवल अर्थावबोध के लिए कल्पित तथा आलंकारिक रूप में अर्थ प्रस्तुत करने की एक विधा मानते हैं तो उस अवस्था में उन्हें इस प्रकार के कथानक या आलंकारिकता के आवरण में लिपटा हुआ जो अर्थतत्त्व है उसे भी भाष्य में प्रस्तुत

१. 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता'—निरुक्त १०।४६।

करना चाहिए था, जो कि उन्होंने नहीं किया। जैसे यदि 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्' (माध्य० संहिता ३।६२) मन्त्र में विद्यमान 'जमदग्नि' शब्द किसी ऋषि अर्थात् पुरुषविशेष का वाचक है, जैसा कि उनके भाष्य को देखने से प्रतीत होता है, तो यहाँ अपौरुषेयत्व और अनित्यत्व का सन्देह क्यों न होगा? किन्तु मेरे विचार से वेदज्ञान को सृष्टि के आदि में परमेश्वर द्वारा प्रदत्त अर्थात् नित्य और अपौरुषेय मानने वाले महीधर के अनुसार निश्चय ही 'जमदग्नि' एवं 'कश्यप' कोई व्यक्ति विशेष नहीं होने चाहिए। कश्यप के सन्दर्भ में तो उन्होंने अपने भाष्य में लिखा भी है—'कश्यपस्यैतन्नामकस्य प्रजापतेः'। इससे स्पष्ट है कि वे कश्यप से किसी ऋषि-विशेष का नहीं प्रत्युत प्रजापति का ग्रहण करते हैं। इस सन्दर्भ में शतपथ का निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है जो उनका समर्थन करता है—

'स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत्, यदसृजताकरोत् तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः, कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति'[1]।

तथा—**कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं पश्यति सौक्ष्म्यात्** (प्रजापतिरूपेण)[2]।

किन्तु जमदग्नि का ऋषि या व्यक्तिविशेष अर्थ करके वे यहाँ मानव इतिहास की भ्रान्ति के साथ ही वेद की अपौरुषेयता और नित्यता पर सन्देह उत्पन्न कर देते हैं। यदि यहाँ जमदग्नि का अर्थ भी प्रजापति किया जाय तो कोई सन्देह नहीं रहे। शतपथ में लिखा भी है—'प्रजापतिर्वै जमदग्निः'[3]।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में जो 'जमदग्नि' का अर्थ 'चक्षु' करते हुए 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' का अर्थ तीन अवस्थाओं अर्थात् बाल्य, यौवन एवं वृद्धावस्था में भी चक्षु के कार्यक्षम होने की प्रार्थना इस मन्त्र में मानी है वह भी अधिक युक्त प्रतीत होती है क्योंकि शतपथ में लिखा है—

'चक्षुर्वै जमदग्निऋर्षिर्यदनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निऋर्षिः'[4]।

इसी प्रकार महीधर ने पूर्वचर्चित १० वें अध्याय के अन्तिम दो मन्त्रों से सम्बद्ध इतिहास तो प्रस्तुत किया है किन्तु उस इतिहास का तात्पर्यार्थ वे प्रस्तुत न करके अपने मन्त्रार्थ को अपूर्ण ही रखते हैं। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध पूर्वोक्त इतिहास

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५।

२. तैत्तिरीय आरण्यक १।८।८।

३. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १३।२।२।१४।

४. वही ८।१।२।३।

को मात्र उसी रूप में, अर्थात् जिस आख्यानात्मक या आलंकारिक रूप में वह ब्राह्मणग्रन्थों में दिया गया है, प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त नहीं है अपितु वह अभी और व्याख्या की अपेक्षा रखता है जिससे कथानक का वास्तविक रूप प्रकट हो सके और उस सन्दर्भ में मन्त्र की व्याख्या अधिक ग्राह्य बन जाए। इस संहिता के १७ वें अध्याय के १२ और ७१-७२ मन्त्रों के व्याख्यान में भी इसी कथानक को आधार बनाया गया है, उसके सन्दर्भ में भी यही बात कही जा सकती है।

समस्त आख्यानों की व्याख्या की आवश्यकता नहीं

इस सन्दर्भ में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणों में प्रदत्त सभी आख्यानों या इतिहासों की रूपकालंकार आदि मानकर विभिन्न प्रकार से आध्यात्मिक या आधिदैविक व्याख्या भी प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। क्योंकि उनमें से अनेक आख्यान तो केवलमात्र यज्ञिय कर्म के सम्पादन में किसी वस्तुविशेष की उपयोगिता या विधिविशेष की महत्ता को द्योतित करने के लिए अर्थवाद रूप में दिए हुए हैं। अतः उनका तात्पर्यार्थ केवल याज्ञिक है। जैसे तैत्तिरीय संहिता (१।५।१।१) में एक कथानक दिया है जिसमें बताया गया है कि देवासुर संग्राम में देवों का धन लेकर रुद्र धीरे से चला गया। जब उसका पता लगाकर देवों ने वह धन उससे छीना तब वह रोने लगा। अतएव उसका नाम रुद्र पड़ गया। रोने पर गिरनेवाले अश्रु तथा चाँदी का रंग समान होता है। यज्ञ में रजत का दान न करे प्रत्युत स्वर्ण का दान करे अन्यथा जो रजत का दान करेगा उसे रोना पड़ेगा। अतः 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० स० १।५।१।२) इस विधेय का पूर्वोक्त आख्यान रूप अर्थवाद के माध्यम से अभिव्यक्त करने के लिए ही यह कथानक दिया गया है।

इसी प्रकार का अर्थवादरूप आख्यान माध्यन्दिन संहिता के मन्त्र १।१४ के सन्दर्भ में भी शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१) में दिया है। वहाँ हवि को कृष्णमृग के ही चर्म पर रखकर सम्पादित करने के सन्दर्भ में कहा है कि एक बार देवताओं से रुष्ट होकर यज्ञ कृष्णमृग का रूप धारण कर भाग गया। जब देवताओं ने इस तथ्य को जाना तो उसे पकड़ लिया तथा उसके चर्म को उखाड़कर उसका आस्तरण बना लिया जो यज्ञिय कर्म में उपयोगी बना। यहाँ उस मृगचर्म के श्वेत-रोमों को ऋग्रूप, कृष्णरोमों को सामरूप तथा भूरे रोमों को यजुःरूप मानकर यज्ञ में त्रयीविद्या का सामञ्जस्य दिखाने के लिए ही उसे प्रतीकरूप में उपस्थापित करने का संकेतात्मक उल्लेख इसी संहिता में आगे (१।१।४।२-३) में मिलता है। आचार्य महीधर ने भी अपने भाष्य में इस कथानक का संक्षिप्त उल्लेख किया है।

अतः सम्भव है इस प्रकार के अधिकाँश कथानकों की यज्ञिय सन्दर्भ में ही उपयोगिता होने तथा उनका मुख्य तात्पर्य यज्ञिय क्रियाओं के विधिनिषेध रूप अर्थ-वाद का निरूपण करने के लिए ही होने से महीधर ने उनकी अन्य किसी प्रकार से आधिदैविक या आध्यात्मिक व्याख्या करना अपने भाष्य में उपयोगी इसलिए न समझा हो क्योंकि उनका भाष्य मुख्यतः याज्ञिक प्रक्रिया में ही है तथा इन मन्त्र-सम्बद्ध आख्यानों की याज्ञिक कर्मकाण्ड से भिन्न कोई व्याख्या देने से जहाँ उनके भाष्य का कलेवर बढ़ता वहीं याज्ञिक अर्थ में उनकी कोई विशेष उपयोगिता भी न होती ।

किन्तु स्वामी दयानन्द के समक्ष ऐसी कोई समस्या नहीं थी कि वे किसी प्रक्रियाविशेष में बँधकर अर्थ करते हों। उनका मन्त्रार्थ स्वतन्त्रशैली में है। यद्यपि उन्होने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है[1] कि यज्ञिय कर्मकाण्डविषयक मन्त्रार्थ हम शतपथ ब्राह्मण श्रौतसूत्रादि में कर्मकाण्ड का विस्तृत निरूपण होने से पुनः उसके पिष्टपेषण करने से अनावश्यक होने के कारण नहीं करेंगे किन्तु जब अनेक मन्त्रों का अर्थ इन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों में प्रदत्त संकेतों के आधार पर वे याज्ञिकप्रक्रिया से भिन्न भी कर सकते हैं तो निश्चय ही वे स्वीकार करते हैं कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक विनियोग से भिन्न आध्यात्मिक या अन्य अर्थों का संकेत भी विद्यमान है। जैसे उन्होने माध्यन्दिन-संहिता ३।६२ में जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्रजापति शतपथ के आधार पर ही किया है। ऐसे ही माध्यन्दिन-सहिता ७।९ में 'मित्रावरुणौ' का अर्थ 'प्राणोदानौ' भी शतपथ (१।८।३।१८) पर ही आधृत है। अतः वे मन्त्र जिनके व्याख्यान सन्दर्भ में शतपथ में कोई आख्यान दिया है, अपने भाष्य में उन आख्यानों का उल्लेख करते हुए यदि वे तत्सम्बद्ध अर्थ प्रदान करते तो निश्चय ही इससे उनके भाष्य का ही गौरव बढ़ जाता। वेदार्थ के सन्दर्भ में मात्र याज्ञिक परम्परा से बंधे न होने के कारण स्वामी दयानन्द से यह अपेक्षा थी कि वे आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक-प्रक्रियाबहुल अपने भाष्य में इन आख्यानों की व्याख्या कुछ अभिनव रूप में प्रस्तुत करते ।

शतपथोक्त आख्यानों से मन्त्रार्थ में स्पष्टता

शतपथ ब्राह्मण में प्रदत्त आख्यानों के उल्लेख से महीधर का अर्थ कितना स्वाभाविक, प्रामाणिक एवं ग्राह्य हो गया है जब कि स्वामी दयानन्द का अर्थ

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय, पृ० ३८२ ।

कितना सन्देहास्पद रहता है इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

इस संहिता के द्वितीय अध्याय के प्रथम मन्त्र 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये०' आदि में विद्यमान 'कृष्ण' शब्द का अर्थ स्वामी दयानन्द और महीधर ने यज्ञ किया है। महीधर ने इस स्थल पर शतपथ ब्राह्मण का वह कथानक उद्धृत किया है जिसमें यह चर्चा है कि एक बार यज्ञ कृष्णमृग का धारण कर भाग जाता है —माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१)। उसके इस कृष्णमृगत्वरूप के कारण ही यज्ञ को यहाँ 'कृष्ण' नाम से अभिहित किया गया है। इस कथानक के कारण जहाँ महीधर भाष्य में कृष्ण शब्द का यज्ञ अर्थ अधिक संगत बन गया प्रतीत होता है वहीं स्वामी दयानन्द के अनुसार 'कृष' धातु से निर्मित 'आकर्षित' शब्द के बल पर 'अग्निनाछिन्नो वायुना आकर्षितः' आदि अर्थ की कल्पना करके इस व्युत्पति को खींचतान कर किसी प्रकार यज्ञ में आरोपित करते हुए उसे 'कृष' नाम से अभिहित करना जहाँ अत्यन्त अस्वाभाविक लगता है वहीं इस अर्थ में दयानन्दीय व्युत्पत्ति के सिवाय अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

इसी प्रकार पाँचवें अध्याय के प्रथम मन्त्र 'अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा०' आदि में 'श्येनाय त्वा सोमभृते' इस वाक्य का अर्थ करते हुए आचार्य महीधर ने 'श्येन' का अर्थ गायत्री किया है जो कि 'सोमभृत' विशेषण युक्त है। इस सन्दर्भ में उन्होंने शतपथ ब्राह्मण के उस कथानक को उद्धृत किया है जिसमें इस बात की चर्चा है कि गायत्री ने श्येन रूप धारण करके द्युलोक से सोम का आहरण किया था[१]। इस अलंकृत कथा का तात्पर्यार्थ जो भी हो किन्तु यह आख्यान निश्चय ही उनके मन्त्रार्थ को यहाँ बल प्रदान करता है जब कि स्वामी दयानन्द ने 'श्येनाय' में वाचकलुप्तोपमालंकार की कल्पना करके इसका अर्थ 'श्येन पक्षी के समान शीघ्र आने जाने के लिए'—यह किया है जो उनके इस मन्त्र के सम्पूर्ण भाष्य को पढ़ने से असमञ्जसपूर्ण प्रतीत होने के साथ ही प्रामाणिक कम तथा स्वकल्पित अधिक ज्ञात होता है। कुछ ऐसी ही स्थिति प्रथम अध्याय के तृतीय मन्त्र में विद्यमान एकत-द्वित-त्रित शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है।

अतः मन्त्रार्थ में ब्राह्मणगत आख्यानों का आश्रय लेकर अर्थ करना अधिक युक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है। इन आख्यानों या इतिहास के कारण ही वेद-

---

१. क—'यद् गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत तेन सा श्येनः'
—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ३।४।१२।२।

ख—तुलनीय—'गायत्री वै श्येनः सोमभृत्'—मैत्रायणी संहिता ३।७।९
तथा काठक संहिता ३४।३।

मन्त्र अधिक स्पष्ट, सरल और सरस बनकर अपने काव्यगत सौन्दर्य के साथ अपने में निहित भाव को अधिक अच्छी तरह से अभिव्यक्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी कारण कहा भी गया है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'। दयानन्द-भाष्य में इनकी अत्यन्त उपेक्षा उचित नहीं प्रतीत होती है।

विभिन्न मन्त्रगत पदार्थों की तुलनात्मक समीक्षा

अब कुछ ऐसे मन्त्र उपस्थित किए जाते हैं जिनके किसी पद-विशेष के अर्थ-सन्दर्भ में दोनों आचार्यों द्वारा प्रदत्त अर्थों की विशिष्टता एवं प्रामाणिकता की विवेचना अपेक्षित है।

त्रिंशद् धाम—इस संहिता के तीसरे अध्याय का आठवाँ मन्त्र है—

त्रिंशद् धाम विराजति वाक् पतंगाय धीयते।
प्रति वस्तोरह द्युभिः॥

यहाँ 'त्रिंशद् धाम' शब्द का अर्थ दोनों आचार्यों ने 'तीस स्थान' किया है। इस अर्थ का आधार सम्भवतः निरुक्त है जिसमें लिखा है—धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि चेति (निरुक्त ९।२८) किन्तु ये तीस स्थान कौन से हैं इस सम्बन्ध में दोनों भाष्यकारों में मतभेद है। महीधर ने इस मन्त्र का अर्थ द्विविध दिया है। प्रथम अर्थ में उन्होंने तीस मुहूर्त्तों को ही तीस धाम मानते हुए मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—'प्रतिदिन और विशेष दिनों में जो वाणी ३० मुहूर्त्त रूपी स्थानों में विराजती है, वह (पतगाय =) अग्निदेव के लिए प्रयुक्त होती है।' इस अर्थ में उन्होंने 'धाम' पद को 'धामसु' यह सप्तम्यन्त मानकर अर्थ किया है, तथा यहाँ सप्तमी विभक्ति का लुक् माना है[1]।

किन्तु उनकी यह कल्पना इसलिए ठीक नहीं प्रतीत होती कि इस अर्थ में वाणी का आधार ३० मुहूर्त्त रूपी स्थान कैसे हो सकते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। वास्तव में यहाँ 'त्रिंशद् धाम' का सम्बन्ध वाणी से न होकर 'पतंगाय' और 'द्युभिः' इन दो पदों से है तथा 'पतंग' का अर्थ यहाँ अग्नि न होकर सूर्य है। अतः मन्त्रार्थ यह होना चाहिए—'सूर्य, जो अपनी द्योतनशील रश्मियों से प्रत्येक दिन के तीसों मुहूर्त्तों को विशेष रूप से दीप्यमान करता है, उसके लिए यह मेरी वाणी उच्चरित है।'

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में 'धाम' में द्वितीय विभक्ति मानी है जो उचित है। यह मन्त्र ऋग्वेद में भी है जहाँ इसके भाष्य में आचार्य सायण ने भी

१. 'सुपां सुलुक्०'—अष्टाध्यायी ७।१।३२।

'अत्यन्त संयोगे' द्वितीया मानकर तथा 'पतंग' का अर्थ सूर्य मानकर ही मन्त्रभाष्य प्रस्तुत किया है[1]।

इस मन्त्र का जो दूसरा अर्थ महीधर ने दिया है वह भी बहुत प्रशंसनीय नहीं है। इसमें उन्होंने 'त्रिशद्धाम' का तीस दिन अर्थ किया है। ज्ञातव्य है कि मन्त्र में 'वस्तोः' पद भी है जो कि दिनवाची है, अतः ऐसा मानने पर पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है।

महीधर की याज्ञिक अर्थ में प्रतिबद्धता—आचार्य महीधर के पूर्वोक्त अर्थ में गड़बड़ी का मुख्य कारण उनकी याज्ञिक प्रक्रिया में अर्थ करने की प्रतिबद्धता ही है। वे पतंग शब्द का अर्थ 'यज्ञिय अग्नि' करते हैं। इस अर्थ में वे कभी तो मुहूर्त्तवाची 'त्रिशद धाम' को 'वाक्' का आधार बनाते हैं और कभी दिनवाची 'त्रिशद् धाम' को से संबंद्ध किए बिना स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत करते हैं किन्तु दोनों ही अर्थों में अस्वाभाविकता आ जाती है। प्रथम अर्थ में जहाँ उन्हें 'वस्तोः' और 'द्युभिः' इन दोनों पदों को दिनवाची मानकर अर्थ करना पड़ता है, जो मन्त्र में पुनरुक्ति के कारण ठीक नहीं जान पड़ता, वहीं वाणी का आधार ३० मुहूर्त्त किस प्रकार हैं यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी प्रकार द्वितीय अर्थ में भी 'धाम' एवं वस्तोः' दोनों पदों का दिन-वाची अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता है। यदि वे 'पतंग' शब्द का अर्थ 'सूर्य' करें तथा उससे निर्मीयमाण या अत्यन्त सम्बद्ध त्रिशद् धाम' का अर्थ तीस मुहुर्त्त या मास के ३० दिन[2] करें तभी मन्त्र अपने स्वाभाविक अर्थ को प्रदान कर सकता है, जैसा कि आचार्य सायण ने किया है। तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र का सूर्यपरक आधिदैविक अर्थ ही यथार्थ है जिसमें ३० मुहूर्त्त या दिनों की संख्या ठीक सम्बद्ध प्रतीत होती है।

स्वामी दयानन्द का महत्त्वपूर्ण अर्थ—स्वामी दयानन्द ने भी इस मन्त्र में विद्यमान 'पतंग' शब्द का अर्थ यद्यपि अग्नि ही किया है किन्तु उनके अर्थ को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे 'अग्नि' का अर्थ महीधर के समान केवल यज्ञिय अग्नि न मानकर उसे उस विशाल अग्नितत्त्व का वाची मानते हैं जो अखिल ब्रह्माण्ड एवं लोकलोकान्तरों से लेकर जीवपिण्ड के सूक्ष्मतम इन्द्रियों तक के साथ सम्बद्ध है। इसी कारण उनके अनुसार 'त्रिशद् धाम' का अर्थ दिन, मुहूर्त्त या घड़ी-घण्टा न होकर अतिशय व्यापक स्थानविशेष या लोकविशेष है जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड समाहित हैं। उनके अनुसार

१. आचार्य सायण—ऋग्वेद भाष्य १०।१८९।३।

२ 'त्रिशत्कलामुहूर्त्तः स्यादहोरात्रन्तु तावतः'—मनुस्मृतिः १।६४।

ये तीस धाम हैं—८ वसुओं में ५ अर्थात् पृथिवी, वायु, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र (इनके सा अग्नि, अन्तरिक्ष और आदित्य को जोड़कर आठ वसुओं की गणना की जाती है,[1] ये स्वयं प्रकाशित हैं अतः इनके प्रकाशन के लिए किसी अन्य अग्नितत्त्व की आवश्यकता न होने से इनको तीस धामों से बहिष्कृत कर दिया है)। एकादश रुद्र अर्थात् प्राण. अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये शरीर में रहने वाले १० प्राण और ११ वाँ जीवात्मा।[2] द्वादश आदित्य या वर्ष के १२ महीने[3] तथा इन्द्र और प्रजापति इन दो को मिलाकर ये कुल ३० देव ही तीस धाम के नाम से अभिहित हैं। स्वामी दयानन्द की इस तीस धाम की गणना से स्पष्ट है कि वे इनसे सम्बद्ध 'पतंग' को वे केवल सूर्य या भौतिक यज्ञिय अग्निरूप पदार्थ न मानकर एक विशाल अग्नितत्त्व का वाची मान रहे हैं जो ब्रह्माण्ड के प्रतीक ५ वसुओं में आधिदैविक रूप में तथा शरीर के नियामक ११ रुद्रों में आध्यात्मिक रूप में है और द्वादशादित्य के रूप में सदा दिक्कालानवच्छिन्न होकर सभी प्राणियों को अपनी परिधि में लिए हुए है तथा जो इन्द्र रूप में पारमार्थिक तत्त्व[4] एवं प्रजापति रूप में यज्ञिय-तत्त्व[5] का भी वाचक होकर अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक पूर्ण शक्तिपीठ का द्योतक है। इस प्रकार उनका यह अर्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, व्यापक एवं वेदार्थ को गौरव प्रदान करने वाला बन गया है।

षोडशी—माध्यन्दिन संहिता के ८ वें अध्याय का ३६ वाँ मन्त्र है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

इस मन्त्र का अर्थ दोनों भाष्यकारों ने प्रायः समान ही किया है। मन्त्र का सीधा सा अर्थ है—जिस प्रजापति परमेश्वर से पूर्व कुछ भी नहीं था और जो सभ

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।६।

२. वही ११।६।३।७।

३. द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः। एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्याः—ये सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चलते हैं इसी से इनका नाम 'आदित्य' है।
—(माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।८)।

४. 'इन्द्रो वै देवानामधिराजः'—मैत्रायणी संहिता २।२।११।

५. 'यज्ञो वै प्रजापतिः'—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।९।

भवनों में व्याप्त है, वह षोडशी प्रजापति प्रजाओं में रममाण होकर तीनों ज्योतियों से सेवित या सम्बद्ध है।

इस मन्त्र में विचारणीय शब्द 'षोडशी' है। महीधर ने इस पद का अर्थ 'षोडशकलात्मकलिङ्गशरीरोपहतः' किया है, किन्तु प्रजापति की ये १६ कलाएं कौन सी हैं—यह बात उनके भाष्य को देखने से स्पष्ट नहीं होती।

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में प्रजापति की इन १६ कलाओं की गणना निम्न प्रकार से की है—१-इच्छा, २-प्राण, ३-श्रद्धा, ४-पृथिवी, ५-जल, ६-तेज, ७-वायु, ८-आकाश, ९-इन्द्रियाँ, १०-मन, ११-अन्न, १२-वीर्य, १३-तप, १४-मन्त्र, १५-लोक, १६-लोकों में नाम। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने प्रजापति की इन १६ कलाओं की गणना करके इस पद के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

नामोल्लेख में दोष—स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में जिन पूर्वोक्त १६ कलाओं का उल्लेख किया है उसका आधार प्रश्नोपनिषद् है। प्रश्नोपनिषद् और स्वामी दयानन्द परिगणित १६ कलाओं में अन्तर यह है कि 'इच्छा' शब्द प्रश्नोपनिषद् में नहीं है जो कि दयानन्द-भाष्य में प्रथम कला के रूप में है तथा इसमें 'कर्म' की गणना १४ वें कला के रूप में की गई है जो कि दयानन्दभाष्य में छूट गया है। यथा—

> **'तस्मै स होवाच इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो**
> **यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति। स प्राणमसृजत**
> **प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्न-**
> **मन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।'**
>
> —प्रश्नोपनिषद् ६।२, ४।

यह मन्त्र स्वल्प पाठभेद से इस संहिता के ३२ वें अध्याय में भी विद्यमान है। वहाँ भी इस 'षोडशी' पद की व्याख्या में स्वामी जी ने प्रश्नोपनिषद् को ही आधार बनाया है किन्तु वहाँ उनकी गणना एवं १६ कलाओं का नामोल्लेख ठीक है, उसमें कोई दोष नहीं है।[1] यहाँ भी तदनुसार ही नामों का परिगणन होना चाहिए था।

षोडशकलाओं में अन्य नामों का उल्लेख

वास्तव में यह षोडशी पद और व्याख्या की अपेक्षा रखता है। महीधर ने जहाँ इसे प्रायः अव्याख्यात ही छोड़ दिया है वहीं स्वामी दयानन्द ने भी इसकी जो व्याख्या की है वह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपर्याप्त है।

---

१. माध्यन्दिन संहिता—दयानन्दभाष्य ३२।५।

यह षोडशी शब्द मन्त्र में 'प्रजापति' का विशेषण है जो ब्रह्म का ही पर्याय है। केवल ब्रह्म ही नहीं प्रत्युत ब्रह्म द्वारा निर्मित यह ब्रह्माण्ड भी प्रजापतिवाच्य है—'ब्रह्म हि प्रजापतिः ब्राह्मो हि प्रजापतिः'[1]। ब्रह्माण्ड-शरीर के समान इस व्यष्टि-भूत पिण्डशरीर में भी प्रजापति का वास है, इसीलिए आरण्यक एवं उपनिषदों में कहा है—'शरीरे प्रजापतिः'[2]। इस प्रकार ये सभी षोडशकला-सम्पन्न हैं अर्थात् जहाँ ब्रह्म षोडशकला से युक्त है—'षोडशकलं वै ब्रह्म'[3], वहीं ब्रह्म-निर्मित ब्रह्माण्ड या पिण्ड, जो प्रजापति वाच्य है, भी षोडशकला-युक्त है। इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है—'षोडशकलः प्रजापतिः'[4]। 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'[5]। 'षोडशकलमिदं सकृत् सर्वम्'[6]। स (प्रजापतिः) षोडशधाऽऽत्मानं व्याकुरुत'[7] इत्यादि।

स्वामी दयानन्द ने जिस प्रजापति की १६ कलाओं का उल्लेख किया है, वह इस ब्रह्माण्ड रूप प्रजापति की १६ कलाएँ हैं किन्तु जो ब्रह्मपद वाच्य प्रजापति है उसकी १६ कलाओं का उल्लेख जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में निम्न प्रकार से है—१-भद्रम्, २-समाप्तिः, ३-अभूतिः, ४-संभूतिः, ५-भूतम्, ६-सर्वम्, ७-रूपम्, ८-अपरिमितम्, ९-श्रीः, १०-यशः, ११-नाम, १२-अग्रम्, १३-सजाताः, १४-पयः, १५-महीयाः, १६-रसश्चैत्यंविधाः। तथा—

'सच्चाऽसच्चाऽसच्च सच्च वाक् च मनश्च मनश्च वाक् च
चक्षुश्च श्रोत्रं च श्रोत्रं च चक्षुश्च श्रद्धा च तपश्च तपश्च
श्रद्धा च तानि षोडशकलं ब्रह्म। स य एवमेतत् षोडशकलं
ब्रह्म वेद तमैवैतत् षोडशकलं ब्रह्माप्यते।'[8]

इसी प्रकार पिण्डशरीररूप जो पुरुष है उसको भी १६ कलायुक्त माना गया

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १३।६।२।८।
२. कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ४।२, शांखायन आरण्यक ६।२।
३. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ३।७।१।८।
४. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ७।२।२।१७।
५. वही १३।२।२।१३ तथा कौषीतकी ब्राह्मण ८।१।
६. जैमिनीय ब्राह्मण १।२७।
७. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १।१५।१।२।
८. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ४।११।४।१-२ तथा ब्राह्मणोद्धार कोष में 'षोडशा' से सम्बद्ध पाद टिप्पणी, पृ० ७९३।

है—'षोडशकलो वै पुरुषः'[१]। इस व्यष्टिभूत पुरुष-प्रजापति की काठक संकलन के अनुसार १६ कलाएं निम्न हैं—

'षोडशकलः पुरुषो लोमेति द्वे अक्षरे त्वगिति द्वे असृगिति द्वे मांसमिति द्वे स्नायविति द्वे अस्थीति द्वे मेद इति द्वे मज्जेति द्वे, ताः षोडश सम्पद्यन्ते'[२]।

इस पुरुषशरीर रूप प्रजापति की पूर्वोक्त १६ कलाओं का उल्लेख करते हुए इनके नियामक एवं अन्तःसंचारी प्राण तत्त्व को मिलाने पर यह 'सप्तदश' संख्या से भी अभिहित किया जाता है, यह बात इस माध्यन्दिन संहिता के शतपथ ब्राह्मण में निम्न प्रकार लिखित है—

'ताः (लोमादिमज्जापर्यन्तं) षोडशकलाः। अथ य एतदन्तरेण प्राणः सञ्चरति स एव सप्तदशः प्रजापतिः'[३]।

इस प्रकार ब्रह्म, ब्रह्माण्ड तथा 'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' के अनुसार व्यष्टि-रूपपुरुषशरीर, ये सभी षोडश कलाओं से सम्पन्न हैं तथा प्रजापतिपदवाच्य हैं। अवान्तरयुग में पुराणों में इन्हीं के आधार पर श्रीकृष्ण को पूर्णपुरुष या भगवान् मानकर उनमें समस्त १६ कलाओं की कल्पना की गई है।

त्रीणि ज्योतींषि—पूर्वप्रस्तुत 'यस्मान्न जात०' आदि मन्त्र अति स्वल्प पाठ-भेद से अध्याय ३२।५ में भी पठित है। इस मन्त्र में षोडशीविशेषणयुक्त प्रजापति का सम्बन्ध 'त्रीणि ज्योतींषि' से कहा गया है। प्रजापति की ये तीन ज्योतियां क्या हैं? इस सन्दर्भ में यहाँ विवेचना की जाती है।

आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में लिखा है—'त्रीणि ज्योतींषि रवीन्द्वग्नि-रूपाणि सचते सेवते'। उनके इस लेख से स्पष्ट है कि वे यहाँ तीन ज्योतियों का अर्थ सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा कर रहे हैं, जिनसे यह प्रजापति युक्त है।

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में इस शब्द की व्याख्या में लिखा है—'(त्रीणि) विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि (ज्योतींषि) तेजोमयानि प्रकाशकानि (सचते) समवैति'। इस प्रकार उनके इस लेख से ध्वनित होता है कि वे विद्युत्, सूर्य और चन्द्रमा को तीन ज्योतियों के रूप में स्वीकार कर रहे हैं।

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ११।१।३।६ तथा जैमिनीय ब्राह्मण १।१३२।३३१।
२. काठक संकलन २२।३-५।
३. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।१७।

दोनों भाष्यकारों का दोषपूर्ण अर्थ

यहाँ 'त्रीणि ज्योतींषि' पद का उभय भाष्यकारों द्वारा दिया गया अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता है। इस मन्त्र में प्रजापति का जिन तीन ज्योतियों से सम्बन्ध बताया गया है वे तीन ज्योतियाँ—द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथिवीलोक में वर्तमान क्रमशः सूर्य, इन्द्र तथा अग्नि हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी तीनों लोकों में प्रमुख इन तीन देवताओं को उनके अधिष्ठातृरूप में मानते हुए लिखा है—'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः'[1]।

आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में चन्द्रमा का जो उल्लेख किया है वह सम्भवतः उसके मध्यस्थानी देवों में पठित होने से अन्तरिक्षस्थानी ज्योति के रूप में किया है। किन्तु चन्द्रमा अन्तरिक्षस्थानी होते हुए भी वहाँ कोई प्रमुख स्थान नहीं रखता। अन्तरिक्ष या मध्यस्थानी देवों में प्रमुख है इन्द्र। यह इन्द्र ही क्षणिक या अनित्यरूप में विद्युत् रूप से दृश्यमान होकर अन्तरिक्षस्थानी प्रमुख ज्योति है जब कि वायुरूप में यह नित्यता से त्वगिन्द्रियप्रत्यक्ष होता है। इसी कारण यास्क ने जहाँ अन्य दो लोकों के अधिष्ठातृदेव या ज्योति के रूप में सूर्य एवं अग्नि इस एक-एक नाम का उल्लेख किया है वहीं अन्तरिक्षस्थानी देवता के रूप में वे इन्द्र और वायु इन दो नामों का उल्लेख करते हैं। वैसे इन्द्र, वायु या विद्युत् प्रायः समानार्थक ही हैं। इस प्रसंग में निरुक्त-भाष्यकार दुर्गाचार्य का निम्न अंशलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

'........ततः कुतो वायिन्द्रशब्दयोरर्थभेदः........मध्यमपर्यायवचनावेतौ शब्दाविति। कस्माद् पुनः मध्यमस्य शब्दद्वयेनोपदेशः क्रियते पार्थिवोत्तमयोरेकेनेति। मध्यमस्य हि द्वौ कर्मात्मानौ विद्युद्वाय्वाख्यौ। तयोरनित्यदर्शन एको विद्युदाख्यो नित्यदर्शनस्तु वाय्वाख्यस्त्वगिन्द्रियप्रत्यक्षः'[2]।

अब हम पूर्वोक्त सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों के अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण प्रमाण भी प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे स्पष्ट है कि द्यु, अन्तरिक्ष एवं पृथिवीलोक में विद्यमान क्रमशः सूर्य, इन्द्र और अग्निरूपी ज्योतियां ही इस प्रजापति की तीन ज्योतियां हैं जिनसे यह ज्योतिष्मान् कहा जाता है तथा इसी भाव को प्रकृत मन्त्र में 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इस वाक्य से अभिव्यक्त किया गया है।

द्युलोक—मैत्रायणी संहिता में प्रजापति के लिए ज्योतिष्मान् विशेषण का

१. आचार्य यास्क—निरुक्त ७।५।

२. निरुक्त ७।५ पर दुर्गाचार्य की टीका, पृ० ६३८ से- ६४०।

प्रयोग करते हुए लिखा है—'प्रजापतये त्वा ज्योतिष्मते ज्योतिष्मन्तं गृह्णामि'[१]। द्युलोक में प्रजापति की यह ज्योति सूर्य रूप में ही है जिसके कारण सूर्य को प्रजापति कहा गया है—'एष वै प्रजापतिर्योऽसौ (आदित्यः) तपति'[२]। इस सूर्य को ज्योति-शब्द से अभिहित करते हुए ब्राह्मणों में लिखा है—'एतद् वै ज्योतिरुत्तमं य एष (सूर्य) तपति' तथा 'ज्योतिरेष य एष (सूर्यः) तपति'[३]। इसी कारण द्युलोक में इस आदित्य या सूर्य का अधिपतित्व माना गया है—'सूर्यो दिवः अधिपतिः'[४]। 'असावादित्यस्य द्यौः'[५]।

अन्तरिक्ष लोक—इसी प्रकार अन्तरिक्ष लोक में भी जो प्रजापति की ज्योति है वह इन्द्र या वायु के रूप में विद्यमान है। इस सन्दर्भ में कौषीतकी में लिखा है—'एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः'[६]। यह वायु ही अन्तरिक्ष की ज्योति या आधारभूत पृष्ठ है—'वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिः'[७]। 'अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम्'[८]। वायु को अन्तरिक्ष का ककुप् (वीर्य) कहा गया है—'वायुरन्तरिक्षस्य ककुप्'[९]। अन्तरिक्ष का वीर्य ये मरुद्गण ही हैं—'वीर्यं वै मरुतः'[१०]। ये मरुद्गण ही अन्तरिक्षलोक से वृष्टि को प्रदान करते हैं—'मरुतो (वृष्टिम्) अमुतश्च्यावयन्ति[११]।' इसीलिए यह वायु अन्तरिक्ष का अधिपति है—'वायुरन्तरिक्षस्य अधिपतिः। वायुर्वै अन्तरिक्षस्याध्यक्षः'[१२]। प्रजापति की ज्योति अन्तरिक्षलोक में विद्युत् भी है—'तान् देवान् प्रजापतिः व्यद्यत्। यद् व्यद्यत् तस्माद् विद्युत्'[१३]। इस प्रकार अन्तरिक्षलोक में वायु, विद्युत्, मरुद्गणप्रेरित वृष्टि आदि जो भी शक्तियाँ

---

१. मैत्रायणी संहिता १।३।३५।
२. जैमिनीय ब्राह्मण २।३७०।
३. जैमिनीय ब्राह्मण २।६८ तथा कौषीतकी ब्राह्मण ३५।३, ९।
४. तैत्तिरीय संहिता ३।४।५।१।
५. जैमिनीय ब्राह्मण २।२४१।
६. कौषीतकी ब्राह्मण १९।२।
७. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ८।३।२।१।
८. जैमिनीय ब्राह्मण ३।२५२।
९. जैमिनीय ब्राह्मण २।८७। 'वीर्यं वै ककुप्'—मैत्रायणी संहिता १।११।७ तथा काठक संहिता १४।८।
१०. जैमिनीय ब्राह्मण १।१०३।
११. मैत्रायणी संहिता २।४।८।
१२. तैत्तिरीय संहिता ३।४।५।१ तथा ३।२।१।३।
१३. तैत्तिरीय संहिता ३।१०।९।१।

विद्यमान हैं इनका ही मिश्रित नाम 'इन्द्र' है। काठक संहिता में लिखा है कि इन्द्र ही अन्तरिक्ष को वायु, वृष्टि, विद्युत्, मरुद्गण (झंझावात आदि) से समृद्ध करता है—'इन्द्रः अन्तरिक्षम् आर्ध्नोत्'[1]। अतः इन्द्र भी अन्तरिक्ष का अध्यक्ष या ज्योति कहा जाता है—'इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्र इति तदन्तरिक्षलोकम्...'[2]। इस प्रकार अन्तरिक्षलोक का मुख्य देवता वायु या इन्द्र है जिनमें वस्तुतः कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रजापति द्वारा अन्तरिक्षरूपी गौ को वायुरूपी वत्स के देने की चर्चा भी ब्राह्मणों में मिलती है—'वायुमन्तरिक्षाय प्रजापतिर्वत्सं प्रायच्छत्'[3]। इसीलिए इन्द्र या वायु को ही अन्तरिक्षलोक का मुख्य देवता माना गया है तथा दुर्गाचार्य ने दोनों को पर्याय बताया है।

अतः इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वायु या इन्द्र ही प्रजापति की ज्योति के रूप में अन्तरिक्ष में है जो मध्यस्थानी देवों में प्रमुख है। अतः आचार्य महीधर ने जो 'चन्द्रमा' को प्रजापति की ज्योति के रूप में लिखा है वह ठीक नहीं है। मध्यस्थानी देवों में चन्द्रमा का गौण स्थान है। यहाँ वायु, इन्द्र या विद्युत् का नामोल्लेख करना ही उचित था।

[वैसे तन्त्रशास्त्रों एवं कुछ वाममार्गीय मतों में प्रजापति की ज्योति के रूप में चन्द्रमा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः सम्भव है कि तन्त्रशास्त्रों के पारंगत आचार्य महीधर ने इसी तन्त्रागमसाहित्य की उपासना-विधि से प्रभावित होकर यहाँ चन्द्रमा का एक महत्त्वपूर्ण ज्योति के रूप में उल्लेख करना उचित समझा हो।]

पृथिवीलोक—जहाँ तक पृथिवीलोक का प्रश्न है वहाँ तो निश्चय ही प्रजापति की ज्योति अग्नि ही है। मैत्रायणी एवं काठक संहिता में इसीलिए अग्नि को प्रजापति नाम से कहा गया है—'अग्निर्वै प्रजापतिः'[4]। प्रजापति की इस अग्निरूप ज्योति से ही यह लोक ज्योतिष्मान् कहा जाता है—'अग्निना वा अयं लोको ज्योतिष्मान्'[5], अयं वा अग्निर्लोकः'[6]। क्योंकि यह अग्नि ही इस लोक का ककुप् (वीर्य) है—'अग्निर्वा अस्य लोकस्य ककुप्'[7]।

---

१. काठक संहिता २९।७।
२. कौषीतकी ब्राह्मण १४।१।
३. जैमिनीय ब्राह्मण ३।१०७।
४. काठक संहिता ८।५ तथा मैत्रायणी संहिता ३।४।६।
५. जैमिनीय ब्राह्मण १।२३२।
६. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १।९।२।१३।
७. जैमिनीय ब्राह्मण २।८७। 'वीर्यं वै ककुप्'—मैत्रायणी संहिता १।११।७ तथा काठक संहिता १४।८।

स्वामी दयानन्द ने जो सूर्य, विद्युत् एव चन्द्रमा को प्रजापति की तीन ज्योतियां माना है वह तो महीधर की अपेक्षा और भी अधिक असगत है। क्योंकि विद्युत और चन्द्रमा ये दोनों ही अन्तरिक्षलोकस्थ ज्योति हैं। पृथिवीलोकस्थ किसी ज्योति का तो उनके भाष्य में उल्लेख तक नहीं है।

अतः निरुक्त में यास्क ने द्यु, अन्तरिक्ष एव पृथिवी इन तीन लोकों के प्रमुख तीन अधिष्ठातृदेवों के रूप में सूर्य, इन्द्र या वायु तथा अग्नि का जो उल्लेख किया है तदनुसार उन्हीं को प्रजापति की तीन ज्योतियां मानना उचित है। इस सम्बन्ध में हमने जहाँ संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों के विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत किए वहीं अब शतपथ ब्राह्मण का एक अन्य निम्न महत्त्वपूर्ण प्रमाण भी द्रष्टव्य है जिससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ये तीनों लोक 'विश्व' पदवाच्य हैं तथा प्रजापति ब्रह्म की इन तीनों लोकों में अधिष्ठातृरूप से विद्यमान अग्नि, वायु और सूर्यरूपी ज्योतियां 'नर' पदवाच्य हैं। इसी कारण यह समस्त ब्रह्माण्ड 'वैश्वानर' शब्द से अभिहित होता है—

'इमे स लोका इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरः, अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः, द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः'[1]।

'प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे कथं न्विमे (त्रयः) लोका ध्रुवाः प्रतिष्ठिताः स्युरिति···· पृथिवीम्····मरीचिभिश्चान्तरिक्षं नक्षत्रैश्च दिवम्····'[2]।

इस प्रकार इन सब प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि दोनों भाष्यकारों ने इस मन्त्र में विद्यमान 'त्रीणि ज्योतींषि' की व्याख्या ठीक नहीं प्रस्तुत की है। यदि महीधर के भाष्य में 'इन्दु' के स्थान पर 'इन्द्र' पाठ मानकर 'रवीन्द्राग्निरूपेण' यह वाक्य माना जाए तो यह व्याख्या अधिक तर्कसंगत होगी जब कि स्वामी दयानन्द के भाष्य में 'त्रीणि ज्योतींषि' की व्याख्या में प्रदत्त 'विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि' के स्थान पर 'विद्युत्सूर्याग्निरूपाणि' यह वाक्य रखना उचित प्रतीत होता है।

इस सन्दर्भ में एक आश्चर्यजनक बात यह भी है कि यही मन्त्र कुछ पाठभेद से इस संहिता के ८।३६ में दिया हुआ है, वहाँ पर 'त्रीणि ज्योतींषि' की व्याख्या में दोनों भाष्यकारों ने कोई गलती नहीं की है। आचार्य महीधर ने ८।३६ में इसका अर्थ वहाँ 'अग्निवायुसूर्यलक्षणानि तेजांसि' यह किया है और स्वामी दयानन्द ने अपनी व्याख्या में 'सूर्यविद्युदग्न्याख्यानि' यह वाक्य लिखा है जो कि निःसन्देह युक्त है। अतः इस ३२ वें अध्याय के मन्त्र में विद्यमान 'त्रीणि

१· माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ६।३।१।३।

२· वही ११।८।१।२।

ज्योतींषि' की व्याख्या भी उसी अष्टमाध्यायस्थ मन्त्र के समान ही होनी चाहिए थी।

इस पद की आचार्य उवट की व्याख्या—माध्यन्दिन संहिता के एक अन्य प्राचीन एवं प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य उवट ने ३२।५ के इस पद की व्याख्या में इन दोनों भाष्यकारों की अपेक्षा अधिक युक्तिपूर्ण बात लिखी है। वे मन्त्र के प्रथमार्ध की व्याख्या करने के बाद शेष उत्तरार्द्ध की व्याख्या के सन्दर्भ में लिखते हैं कि यह उत्तरार्द्ध व्याख्यातपूर्व (८।३६ में) है। अर्थात् इनको इस पद की वही व्याख्या यहाँ भी मान्य है जो इन्होंने ८।३६ में की है। ज्ञातव्य है कि ८।३६ में इन्होंने 'त्रीणि ज्योतींषि' का अर्थ 'अग्निवायुसूर्यलक्षणानि ज्योतींषि' किया है जो कि युक्त है। यही अर्थ इस ३२ वें अध्याय के मन्त्र में भी मान्य होने से उनके इस अर्थ की प्रामाणिकता यहाँ भी असंदिग्ध है।

इस भाष्य में इसी प्रकार के अन्य अनेक शब्द ऐसे हैं जिन पर दोनों भाष्यकारों द्वारा प्रदत्त अर्थ की तुलना करते हुए समीक्षा तथा उनकी प्रामाणिकता विचारणीय है। किन्तु विस्तारभय से यहाँ कुछ शब्दों का ही अध्ययन प्रस्तुत करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि उभय भाष्यकारों के अनेक पदार्थ परस्पर विरुद्ध एवं त्रुटिपूर्ण हैं तथा और अधिक स्पष्ट व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।

कुछ अन्य शब्द

इन दोनों भाष्यों में कई स्थल ऐसे भी हैं जहाँ शब्द परस्पर विरुद्धार्थक होते हुए भी प्रक्रिया की दृष्टि से प्रामाणिक हो सकते हैं। जैसे अध्याय १० मन्त्र ३१ में 'अश्विभ्याम्' शब्द का अर्थ दयानन्दभाष्य में व्यावहारिक अर्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से 'सूर्याचन्द्रमोभ्यामिव अध्यापकोपदेशकाभ्याम्' यह किया गया है। ज्ञातव्य है कि निरुक्त में 'अश्विनौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' अर्थ प्रदत्त है[1]। अतः सम्भवतः इसमें लुप्तोपमालंकार मानकर स्वामी दयानन्द इसका अर्थ 'अध्यापक एवं उपदेशक' से सम्बद्ध कर कल्पित करते हैं। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के प्राचीन भाष्यकार आत्मानन्द का भाष्य द्रष्टव्य है जहाँ वे 'अश्विभ्याम्' का अर्थ 'गुरुशिष्याभ्याम्' कर रहे हैं[2]। इस अर्थ के आधार पर ही स्वामी दयानन्द का अर्थ भी युक्त कहा जा सकता है।

आचार्य महीधर ने इस शब्द का अर्थ 'अश्विदेवतापरक' ही किया है। वे यज्ञिय द्रव्यों का अश्विदेवों के लिए विधान इस मन्त्र में मान रहे हैं। ये अश्विदेव-युगल उनके लिए द्यावा पृथिवी, सूर्यचन्द्रमा, अहोरात्र या अन्य किन्हीं प्राकृतिक

१. यास्क-निरुक्त १२।१।

२. ऋग्वेद १।१६४।२७ आत्मानन्दभाष्य।

शक्तियों के अधिष्ठातृदेव के रूप में भी हो सकते हैं, जिनके लिए वे हवि का विधान अपेक्षित समझते हैं।

इसी प्रकार ३२ वें अध्याय के छठें मन्त्र के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध दोनों में 'सर्पेभ्यः' शब्द आया है। आचार्य महीधर को तो दोनों स्थलों पर 'सर्प' शब्द से 'लोक' अर्थ अभिप्रेत है जब कि स्वामी दयानन्द उत्तरार्ध में विद्यमान सर्प शब्द का अर्थ प्राणी करते हैं। इसी में विद्यमान 'नमः' शब्द का अर्थ महीधर ने नमस्कारार्थक किया है जब कि स्वामी दयानन्द ने उसे अन्नवाचक माना है। विचार करने पर इन दोनों भाष्यकारों के ये विभिन्न अर्थ ठीक ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि शतपथ में जहाँ—'इमे वै लोकाः सर्पाः'[1] ऐसा कहकर सर्प शब्द को लोकवाची माना है वहीं 'देवाः वै सर्पाः'[2] यह उल्लेख भी मिलता है। इसी प्रकार नमस्कारार्थक 'नमः' शब्द निघण्टु में अन्न नामों में भी पढ़ा गया है[3] जिसे यहाँ स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में अभिप्रेत किया है।

अध्याय ३२ के ही ७ वें और ८ वें मन्त्र में विद्यमान 'नमः' शब्द को स्वामी जी ने वज्रवाचक मान कर अर्थ किया है जब कि महीधर इसे पूर्ववत् नमस्कारार्थक ही मानते हैं। ज्ञातव्य है कि यह शब्द निघण्टु में वज्रवाचक नामों में विद्यमान है,[4] अतः स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त अर्थ भी युक्त एवं प्रामाणिक है। इनकी वेदार्थप्रक्रिया महीधर के समान केवल याज्ञिक न होकर उससे भिन्न है। अतः पदार्थ में भेद होना स्वाभाविक है। पुनरपि इन सभी तथा एतादृश अन्य पदार्थों पर भी सूक्ष्म विचार अपेक्षित है जिन पर विस्तारभय से अधिक विवेचन यहाँ नहीं किया जा सका।

●

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ७।४।१।२५।
२. तैत्तिरीय संहिता २।२।६।२।
३. निघण्टु २।७।२२।
४. वही २।२०।४।

सप्तम अध्याय

स्वर एवं व्याकरण प्रक्रिया की तुलनात्मक समीक्षा

इस संहिता के भाष्य में आचार्य महीधर एवं स्वामी दयानन्द दोनों ही भाष्यकारों ने अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरण-प्रक्रिया दी है। आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य के प्रथम मण्डल की जैसी सुन्दर तथा अविकल व्याकरणप्रक्रिया दी है वैसी प्रतिपद व्याकरणप्रक्रिया इन दोनों ही भाष्यकारों में से किसी ने भी एक अध्याय की भी नहीं दी है। वैसे आचार्य महीधर ने प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा०' आदि के भाष्य में इस मन्त्र की स्वर एवं व्याकरण प्रक्रिया निश्चय ही अत्यन्त विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण ढंग से लिखी है, जब कि स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में किसी भी मन्त्र की व्याकरण एवं स्वर प्रक्रिया इस प्रकार से नहीं दी है। आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त इस एक मन्त्र की व्याकरणप्रक्रिया सम्भवतः केवल दिग्दर्शन मात्र के लिए लिखी गई है। इसी प्रकार आगे भी मन्त्रपदों में व्याकरणशास्त्रानुरूप प्रकृति प्रत्यय आदि का विधान करके पदों का निर्माण एवं उनकी स्वरसिद्धि की ऊहा करने का संकेत करते हुए वे लिखते हैं कि विस्तारभय से हम मन्त्रों में प्रतिपद व्याकरण एवं स्वरप्रक्रिया का संकेत नहीं कर रहे हैं— 'एवमग्रेऽपि पदस्वरप्रक्रियोहनीया विस्तरभयान्नोच्यते'[१]।

इस प्रकार यद्यपि दोनों ही भाष्यकारों ने प्रत्येक मन्त्र में अविकल या प्रतिपद रूप से व्याकरणप्रक्रिया का उल्लेख नहीं किया है पुनरपि इस संहिता के भाष्य में किसी शब्द-विशेष की व्याख्या में आपाततः प्रदत्त किन्हीं पदों की व्याकरण एवं स्वरप्रक्रिया का जो यत्र-तत्र संकेत किया गया है उन्हीं के आधार पर इन दोनों भाष्यकारों के विभिन्न पदों की स्वर एवं व्याकरण-प्रक्रिया की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

महीधरभाष्य में व्याकरणप्रक्रिया की अनेक अशुद्धियाँ

आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त मन्त्रगतपदों की व्याकरण एवं स्वर प्रक्रिया के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसमें अनेक अशुद्धियाँ हैं तथा स्वामी दयानन्द की अपेक्षा इसमें अधिक दोष हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका अर्थ करते समय उन्होंने उनके स्वर की उपेक्षा की है। उनके भाष्य में विभिन्न पदों के सन्दर्भ में प्रदत्त व्याकरणप्रक्रिया का यथावसर स्वामी दयानन्द की व्याकरण-प्रक्रिया से तुलना करते हुए हम यहाँ कुछ ऐसे ही शब्दों की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं जिनकी व्याकरण या स्वर प्रक्रिया दोषपूर्ण प्रतीत होती है।

---

१. माध्यन्दिन संहिता प्रथम मन्त्र के महीधरभाष्य का अन्तिम वाक्य।

अघशंसः (माध्य० सं० १।१)—आचार्य महीधर ने इस शब्द की व्याकरण-प्रक्रिया देते हुए लिखा है—'अघं शंसति इच्छतीत्यघशंसः । 'शसि इच्छायाम्' अच् । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अष्टा० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्' ।

किन्तु इनके द्वारा प्रदत्त यह स्वरसिद्धि चिन्त्य है। 'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति से तो निश्चय ही यहाँ उपपदसमास होगा तथा उस अवस्था में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया० (अष्टा० ६।२।२)' इस सूत्र की प्राप्ति ही असंभव है। उपपदसमास में तो 'गतिकारकोपपदात् कृत्'[1] से उत्तरपद कृदन्त को प्रकृतिस्वर प्राप्त होने लगेगा जो हमें अभीष्ट नहीं है। इस सन्दर्भ में एक बात यह भी ज्ञातव्य है कि अपने भाष्य में पदार्थ करते समय महीधर ने इसमें तृतीयासमास दिखाया है—'अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसः घातकः·····'अतः यदि इस विग्रह से कथमपि तृतीयासमास मानकर ही 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' आदि सूत्र से पूर्वपद को प्रकृति स्वर करना चाहें तो भी कठिन है, क्योंकि इस अवस्था में भी यह सूत्र 'गतिकारकोपपदात् कृत' इस पर-प्राप्ति को कैसे बाँध सकेगा ? अतः आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त विग्रहयुक्त इस समास में अभीष्ट स्वरसिद्धि का एकमात्र यही उपाय है कि इस शब्द को दासीभारादि इस आकृतिगण[2] में पढ़ दिया जाय। अन्यथा तत्पुरुष समास में कथमपि पूर्वपद का प्रकृतिस्वर सम्भव नहीं है।

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार आचार्य भट्टभास्कर मिश्र ने पूर्वपद-प्रकृतिस्वर की सिद्धि के लिए ही इस शब्द में तत्पुरुष समास न मानकर बहुव्रीहि समास मानते हुए लिखा है—

> **'अघे पापे भक्षणलक्षणे शंसा अभिलाषो यस्य नियोगेन**
> **सोऽघशंसः पापतत्परः, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्'**[3] ।

बहुव्रीहि समास मानने पर 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (अष्टा० ६।२।१) इस सूत्र से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में इस शब्द का स्वर निर्देश नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त विग्रह में भी उपपद समास होने पर दासीभारादित्वात् ही पूर्वपदप्रकृतिस्वर सम्भव है।

पवित्रे (१।१२)—मन्त्र के आदि में विद्यमान इस शब्द को आचार्य महीधर ने सम्बोधनान्त मानकर अर्थ किया है। स्वामी दयानन्द इसे प्रथमा-द्विवचनान्त

---

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।१३८ ।

२. 'कुरुगार्हपतरिक्त····दासीभाराणां च'—अष्टा० ६।२।४२ ।

३. भट्टभास्कर मिश्र—तैत्तिरीय संहिता भाष्य का प्रथम मन्त्र ।

मानते हैं। यहां स्वामी दयानन्द ठीक प्रतीत होते हैं। क्योंकि सम्बोधनान्त मानने पर 'आमन्त्रितस्य च'[1] इस सूत्र से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होने लगेगी। मन्त्र का संहितापाठ और पदपाठ देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द मध्योदात्त है। प्रथमा द्विवचनान्त मानने पर ही विभक्ति के अनुदात्त होने तथा प्रत्यय स्वर[2] से 'पवित्र' शब्द के मध्योदात्त होने से अभीष्ट स्वर सम्भव है।

स्तुपः (२।२)—आचार्य महीधर ने इस शब्द को 'स्त्यै स्त्यै शब्दसंघातयोः'[3] इस धातु से औणादिक डुप् प्रत्यय करके बनाया है। किन्तु उनकी यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती। 'डुप्' प्रत्यय करने पर तो पकार का अनुबन्ध लोप होकर केवल 'उ' प्रत्यय बचेगा जिससे 'स्तुप' शब्द बन ही नहीं सकता। यदि इसे हम अकारान्त 'डुप' प्रत्यय माने तो भी धातु के यकार का लोप सम्भव नहीं है तथा साथ ही प्रत्ययस्वर के कारण यह शब्द आद्युदात्त बन जाएगा जब कि हमें इसका अन्तोदात्तत्व इष्ट है। अतः उनके द्वारा प्रदत्त यह व्याकरणप्रक्रिया नितान्त दोषपूर्ण है।

यह शब्द वास्तव में 'स्तु' धातु (ष्टुञ् स्तुतौ-अदादिगण) से 'स्तुवो दीर्घश्च'[4] इस उणादि सूत्र से 'प' प्रत्यय लग कर बनता है। कुछ आचार्यों के अनुसार यहां 'स्त्यः सम्प्रसारणमुश्च' यह सूत्रपाठ भी माना जाता है[5]। उस अवस्था में भी 'स्त्या' धातु से 'प' प्रत्यय ही होता है तथा यकार के स्थान पर सम्प्रसारण संज्ञक उकारादेश एवं 'सम्प्रसारणाच्च'[6] से पूर्वरूप होकर प्रत्ययस्वर के कारण यह शब्द अन्तोदात्त बन जाता है।

सजूः (३।१०)—इस शब्द की व्याकरण प्रक्रिया देते हुए आचार्य महीधर ने लिखा है—'जुषी प्रीतिसेवनयोः' 'जोषणं जूः, समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः'। किन्तु इस समास में दोष यह है कि 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'[7] से पूर्वपद को

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।१।१९२।
२. 'आद्युदात्तश्च, अनुदात्तौ सुप्पितौ'—वही ३।१।३-४।
३. भ्वादिगण—पाणिनीय धातुपाठ।
४. उणादिसूत्रपाठ ३।२५।
५. द्रष्टव्य—श्वेतवनवासिकृत उणादिवृत्ति तथा आचार्य सायणकृत माधवीय धातुवृत्ति में 'स्त्यै ष्ट्यै' (भ्वादिगण) धातु व्याख्यान का अन्तिम अंश।
६. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।१।१०८।
७. वही ६।२।१।

प्रकृतिस्वर प्राप्त होगा जिसके कारण यह शब्द आद्युदात्त बन जाएगा जब कि हमें इसका अन्तोदात्तत्व अभिप्रेत है।

स्वामी दयानन्द ने इस शब्द का अर्थ—'यः समानं जुषते प्रीणाति सः (सजूः)'—यह किया है। इस उपपद समास में 'गतिकारकोपपदात् कृत्'[1] इस सूत्र से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होने के कारण 'जूः' इस शब्द के धातुस्वर से अन्तोदात्त[2] होने पर 'सजूः' शब्द अन्तोदात्त बन जाएगा, अतः कोई दोष नहीं है।

अव्युत्पन्न पक्ष में इस शब्द की निपातजन्य आद्युदात्तत्व की प्राप्ति 'एवादीनामन्तः' (फिट्सूत्र ८२) से निवारित समझनी चाहिए।

अह्रयः (३।१६)—इस शब्द में बहुव्रीहि समास मानते हुए आचार्य महीधर ने लिखा है—'नास्ति ह्रीर्लज्जा यासां ताः अह्रयः·····'। किन्तु यहाँ बहुव्रीहि-समास मानना ठीक नहीं प्रतीत होता। भाष्यकार महीधर बहुव्रीहिसमास मानकर सम्भवतः यहाँ 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'[3] इस सूत्र से पूर्वपद के प्रकृतिस्वर द्वारा इसे आद्युदात्त बनाना चाहते हैं, जो कि सम्भव नहीं है। यहाँ इस सूत्र से औत्सर्गिक पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व इसलिए असम्भव है क्योंकि 'नञ्सुभ्याम्'[4] इस अपवाद-सूत्र से बहुव्रीहिसमास में उत्तरपद को अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति होने लगेगी।

स्वामी दयानन्द इस शब्द को 'अह व्याप्तौ' इस स्वादिगणस्थ धातु से बाहुलकात् औणादिक क्रिन्[5] प्रत्यय करके सिद्ध करते हैं, जो ठीक प्रतीत होता है। क्रिन् प्रत्यय के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (अष्टा० ६।१।१९७) से 'अह्रि' शब्द आद्युदात्त बन जाता है।

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार श्री भट्टभास्कर मिश्र ने भी 'अह' धातु से 'क्रिन्' प्रत्यय द्वारा ही इस शब्द को व्युत्पन्न मानते हुए लिखा है—'अह्नोतेर्वा क्रिन् प्रत्ययः। ज्ञातार उच्यन्ते'[6]। अत एव यहाँ स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त व्याकरण प्रक्रिया ही समीचीन एवं युक्त है।

---

१. वही ६।२।१३९।
२. 'धातोः'—वही ६।१।१५७।
३. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।१।
४. वही ६।२।१७२।
५. 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्'—उणादिसूत्र ४।६६।
६. भट्टभास्कर मिश्र—तैत्तिरीय संहिता भाष्य १.५।५।१, पृ० १६४।

कृशानो (४।२७)—यह कृशानु शब्द के सम्बुद्धि का रूप है। आचार्य महीधर के—'कृशं दुर्बलमनति जीवयति इति कृशानुः' इस लेख से प्रतीत होता है कि वे इसे 'कृश' उपपद पूर्वक 'अन' धातु से निष्पन्न मानते हैं। उनकी यह व्युत्पत्ति चिन्त्य है। इस प्रक्रिया में जहाँ इस शब्द के निर्माण में धातुद्वय की कल्पना का गौरव स्वीकार करना पड़ता है वहीं इसका स्वर भी ठीक नहीं बनता। इस उपपद समास में 'गतिकारकोपपदात् कृत्'[१] से उत्तरपद के प्रकृतिस्वर होने से यह शब्द अन्तोदात्त बन जाएगा जब कि इस शब्द का अपना स्वाभाविक स्वर मध्योदात्त होना चाहिए।

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में—'कृशति इति कृशानुः' ऐसा लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि वे सम्भवतः 'कृश (तनूकरणे)' धातु से औणादिक आनुक् प्रत्यय[२] करके इस शब्द को बनाना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में कोई स्वर-दोष नहीं है। 'आनुक्' प्रत्यय के प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त होने के कारण यह शब्द स्वतः मध्योदात्त बन जाएगा। इस संहिता के अध्याय ५ मन्त्र २३ में भी यह शब्द मध्योदात्त ही पठित है। प्रकृत मन्त्र में तो सम्बोधनान्त होने के कारण यह शब्द 'आमन्त्रितस्य च'[३] इस सूत्र से आद्युदात्त हो गया है।

दयानन्दीय विग्रह चिन्त्य है—इस सन्दर्भ में एक अन्य बात भी विचारणीय है। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु दिवादिगण में पठित है अतः स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त 'कृशति इति कृशानुः' यह विग्रह युक्त नहीं प्रतीत होता है। 'कृश्यति इति कृशानुः' यह पाठ होना चाहिए था। स्वामी दयानन्द ने न केवल वेदभाष्य के इस प्रकृत स्थल में इसे तुदादिगणस्थ मानकर ही यह विग्रह दिखाया है अपितु वे उणादिकोष की अपनी व्याख्या में भी दिवादिगणस्थ इस धातु का रूप 'कृशति' ही लिखते हैं[४] जो उचित नहीं प्रतीत होता।

इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि न केवल पाणिनीय धातुपाठ में प्रत्युत काशकृत्स्न-धातुपाठ में भी यह धातु दिवादिगण में ही विद्यमान है[५]। अतः इसका 'कृश्यति' यह रूप ही साधु एवं समीचीन है।

वृद्धायुम् (५।२६)—आचार्य महीधर ने इस शब्द का समास द्विविध दिखाया है। पहला बहुव्रीहि—वृद्धा आयवो यस्य तम्। दूसरा तत्पुरुष कर्मधारय—वृद्धः

१ पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।१२९।

२. 'ऋतन्यञ्जिवन्य०' उणादिसूत्र ४।२।

३. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।१।१९८।

४. उणादिकोष (दयानन्द व्याख्या) ४।२।

५. काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान, दिवादिगण ६३, पृ० १४३।

श्रेष्ठश्चाऽसावायुश्च तम् । यहाँ पहला समास तो ठीक है, क्योंकि बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होने से[1] यह शब्द मध्योदात्त हो जाएगा जो कि अभीष्ट भी है । किन्तु कर्मधारय समास में समास-स्वर अन्तोदात्तत्व[2] की प्राप्ति होने से यह समास ठीक नहीं है ।

स्वामी दयानन्द की प्रक्रिया में भी स्वरदोष—स्वामी दयानन्द ने इस शब्द की व्याकरणप्रक्रिया देते हुए लिखा है—'वृद्ध इव आचरन्तम्, क्याच्छन्दसि (अष्टा० ३६।२।१७०) इत्युः ।' अर्थात् वे वृद्ध शब्द से आचार अर्थ में 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा० ३।१।११) इस सूत्र स क्यङ् प्रत्यय करके पुनः कृदन्त 'उ' प्रत्यय करके इस 'वृद्धायु' शब्द को व्युत्पन्न करते हैं । किन्तु इस प्रक्रिया में भी स्वरदोष अपरिहार्य होगा । 'उ' प्रत्यय के प्रत्ययस्वर (अष्टा० ३।१।३) से उदात्त होने के कारण यह शब्द अन्तोदात्त बन जाएगा । अतः इष्ट स्वर की सिद्धि के लिए यहाँ बहुव्रीहि समास मानना ही ठीक है । अन्यथा छान्दसत्वात् मध्योदात्त की कल्पना करनी पड़ेगी ।

अभीरुणम् (६।१७)—आचार्य महीधर ने इस शब्द में नञ् तत्पुरुष समास मानते हुए लिखा है—'बिभेतीति भीरुः न भीरुरभीरुस्तमभीरुणम्' । किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त यह समास ठीक नहीं है । यदि यहाँ नञ् तत्पुरुष समास माना जाएगा तो 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०'[3] आदि सूत्र से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होने से यह शब्द आद्युदात्त बन जाएगा, जब कि संहितापाठ एवं पदपाठ को देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द अन्तोदात्त है ।

स्वामी दयानन्द ने अभीरुणम् का अर्थ निर्भयम् किया है । यदि 'भीरु' का अर्थ 'भीरुता' किया जाय[4] तथा 'सा (भीरुता) नाऽस्त्यस्मिन्निति' यह विग्रह करके यहाँ बहुव्रीहि समास किया जाय तो यह शब्द साधु बन जाएगा । उस अवस्था में 'नञ् सुभ्याम्'[5] इस सूत्र से उत्तरपद को अन्तोदात्त होने पर स्वरदोष परिहृत हो जाएगा । इस शब्द में द्वितीया एकवचन में नुडागम तो छान्दसत्वात् ही मानना पड़ेगा ।

शपामहे (६।२२)—मन्त्र में इस शब्द का अर्थ आचार्य महीधर ने 'शप-आक्रोशे (भ्वादिगण)' धातु को हिंसार्थक मानकर किया है किन्तु उनका यह अर्थ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।१ ।
२. 'समासस्य'—अष्टाध्यायी ६।१।१९७ ।
३. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।२ ।
४. 'विनाऽपि भावप्रत्ययेन भावार्थो गम्यते'—महाभाष्य १।४।२७ ।
५. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।१७२ ।

चिन्त्य है। यह शपधातु परस्मैपदी है किन्तु वार्त्तिककार ने उपलम्भन अर्थ में आत्मनेपद का विधान किया है—'शप उपलम्भने इति वक्तव्यम्'[1]। अष्टाध्यायी के काशिकावृत्तिकार ने उपलम्भन का अर्थ वाणी द्वारा शरीर का स्पर्श या प्रताडना माना है—'वाचा शरीरस्पर्शनमुपलम्भनम्'[2]। अतः इस मन्त्र में भी यही उपलम्भन अर्थ देना ही उचित है। आचार्य महीधर ने कात्यायनश्रौतसूत्र में प्रदत्त अग्निष्टोम की प्रक्रिया के आधार पर यज्ञ में अग्निषोमीय पशु की हिंसा को इस मन्त्र से समर्थित करना चाहा है, जो ठीक नहीं है। इससे जहाँ वेदों में पशुहिंसा का समर्थन होता है वहीं यह भी स्पष्ट है कि मन्त्रार्थ में धात्वर्थ को उपेक्षित करके मनोनुकूल अर्थ किया जा रहा है। जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, वास्तव में आचार्य महीधर ने केवल याज्ञिक अर्थ और वह भी श्रौतसूत्र में निरूपित याज्ञिक कर्मकाण्ड से पूर्णतया प्रतिबद्ध होकर ही यह भाष्य लिखा है अतः तदनुरूप ही उन्होंने इस धातु को यहाँ हिंसार्थक माना है।

स्वामी दयानन्द ने इस धातु का अर्थ यहाँ शपथ करना किया है। इस अर्थ में भी कोई विशेषता नहीं है जब कि उपलम्भन अर्थ का परित्याग इन्होंने भी किया है।

उपयामगृहीतः (७।४)—आचार्य महीधर ने 'उप' पूर्वक णिजन्त 'यम' धातु से अच् प्रत्यय (पचादित्वात्, अष्टा० ३।१।१३४) में 'उपयाम' शब्द बनाकर इसका 'गृहीत' शब्द के साथ तृतीया समास करके इस शब्द को निष्पन्न माना है। इस शब्द की स्वरप्रक्रिया की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं कि यहाँ 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' (अष्टा० ६।२।२) सूत्र से प्राप्त पूर्वपद प्रकृति स्वर को बाँधकर 'थाथघञ्क्ताज्०' (अष्टा० ६।२।४४) से उत्तरपद को अन्तोदात्त प्राप्त था किन्तु तृतीया समास होने के कारण पुनः 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' (अष्टा० ६।२।२) पूर्वपद प्रकृतिस्वर ही रहा।

किन्तु उनकी यह स्वरविषयक विवेचना ठीक नहीं प्रतीत होती। उनके लेख से यह स्पष्ट नहीं कि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' को बाँधकर प्राप्त होनेवाले थाथादिस्वर को पुनः 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' विहित पूर्वपद-प्रकृतिस्वर कैसे निवृत्त कर सकेगा। वास्तव में यहाँ 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०' विहित पूर्वपद के प्रकृति-स्वर को बाँधकर प्राप्त होनेवाले 'थाथघञ्०' के उत्तरपदान्तोदात्तत्व स्वर का निवारण उपयाम शब्द के तृतीयान्त होने से 'तृतीया कर्मणि (अष्टा० ६।२।४८) इस

१. महाभाष्य-वार्त्तिक १।३।२१।
२. अष्टाध्यायी-काशिकावृत्ति १।३।२१।

सूत्र से विहित पूर्वपद-प्रकृतिस्वर द्वारा होती है। यह परे होने से थाथादि स्वर को भी बाँधने में समर्थ है। स्वामी दयानन्द ने इस पद की स्वरप्रक्रिया नहीं दी है।

प्रयोभिः (७।८)—अपने भाष्य में आचार्य महीधर ने इस पद की व्याकरण-प्रक्रिया देते हुए लिखा है कि प्र उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ (अदादिगण)' धातु से शतृ प्रत्यय में धातु को यण् तथा भिस् प्रत्यय परे रहते शतृ के तकार को छान्दस सकारादेश एवं रुत्वादि कार्य होकर 'प्रयोभिः' बनेगा। किन्तु महीधर प्रदत्त इस व्याकरण-प्रक्रिया में दोष यह है कि इस अवस्था में 'गति कारकोपपदात् कृत्' (अष्टा० ६।२।१३९)' इस सूत्र से प्राप्त अन्तोदात्तत्व का परिहार सम्भव नहीं है। ज्ञातव्य है कि यह शब्द आद्युदात्त है।

अतः 'प्रीञ् तर्पणे (क्र्यादिगण)' धातु से औणादिक असुन् प्रत्यय[१] करके यदि यह शब्द बनाया जाए तो कोई स्वरदोष उपपन्न नहीं होगा। उस अवस्था में प्रत्यय के नित होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (अष्टा० ६।१।१९१) से यह शब्द आद्यु-दात्त बन जाएगा। इस व्युत्पत्ति में तकार को छान्दस सकारादेश की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी।

निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा[२] ने इसे 'प्र' उपसर्गपूर्वक यम धातु से असुन प्रत्यय में छान्दस टिलोप करके भी बनाया है, जो उचित है। क्योंकि इसमें भी नित स्वर होने से अभीष्ट स्वर सिद्ध होने के कारण कोई स्वरदोष नहीं है।

क्रिवि (१०।२०)—आचार्य महीधर इस शब्द को 'क्रिवि हिंसाकरणयोः' इस धातु से 'ड' प्रत्यय करके बनाते हैं। किन्तु पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु इस रूप में नहीं उपलब्ध होती है। भ्वादिगण में 'कृवि हिंसाकरणयोः' यह पाठ मिलता है अतएव 'क्रिवि' धातु से बनने का उनका कथन चिन्त्य है।

स्वामी दयानन्द ने इसे 'कृवि' धातु से ही इन् प्रत्यय[३] करके निष्पन्न माना है। धातु के इदित होने से 'इदितो नुम धातोः' (अष्टा० ७।१।५८) इस सूत्र से विहित नम के नकार को वे वर्णव्यत्यय से इकारादेश एवं ऋकार को यणादेश करके इसे सिद्ध करते हैं।

यह शब्द उणादिसूत्र में भी निपातित किया गया है[४]। आचार्य सायण ने

१. 'सर्वधातुभ्योऽसुन'—उणादिसूत्र ४।१८९।
२. निघण्टु २।१३ की व्याख्या में देवराज यज्वा की टीका।
३. 'सर्वधातुभ्य इन्'—उणादिसूत्र ४।११८।
४. 'क्रिविघृष्विछवि०'—उणादिसूत्र ४।५७।

अपने ऋग्वेद भाष्य में[1] इस शब्द को कृती छेदने (तुदादिगण) धातु से क्विन् प्रत्यय में इसी औणादिक सूत्रोक्त निपातन के आधार पर इकारागम, तकारलोप आदि कार्य निपातन से करके सिद्ध किया है। इससे प्रतीत होता है कि महीधर द्वारा पठित 'क्रिवि' धातु की सत्ता अयथार्थ है।

अब्रह्मता (१०।२२)—इस शब्द की व्याकरणप्रक्रिया का अपने भाष्य में निर्देश करते हुए आचार्य महीधर लिखते हैं—तस्य (ब्रह्मणः) भावो ब्रह्मता, न ब्रह्मता अब्रह्मता ……।

आचार्य महीधर की यह प्रक्रिया नितान्त अनुपपन्न है। 'ब्रह्मता' शब्द के साथ नञ् समास करने पर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया०[2]' इस सूत्र से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर की प्राप्ति होगी, जिसके कारण 'नञ्' के उदात्त होने से 'अब्रह्मता' शब्द आद्युदात्त बन जाएगा जब कि हमें मध्योदात्त अभीष्ट है। अतः स्वरदोष के परिहार के लिए आवश्यक है कि पहले ब्रह्म शब्द के साथ नञ् समास हो तदनन्तर 'अब्रह्म' शब्द से 'तस्य भावस्त्वतलौ'[3] सूत्र से भाव में तल् प्रत्यय किया जाय। 'अब्रह्म' शब्द से तल् प्रत्यय करने पर 'लिति'[4] इस सूत्र से प्रत्यय के पूर्व को उदात्त होने से 'अब्रह्मता' का मकार उदात्त बन जाएगा जो कि हमें इष्टस्वर की सिद्धि के लिए आवश्यक है। यद्यपि सामान्य नियम के अनुसार तल्प्रत्ययविधान के परे होने के कारण पहले तल् प्रत्यय और उसके पश्चात् ही समास विधि होती है, जैसा कि महीधर ने किया भी है, किन्तु स्वरसिद्धि के लिए पूर्वविप्रतिषेध से यहाँ पहले समास करने के बाद ही तल् प्रत्यय करना चाहिए। इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी लिखा है—

'त्वतल्भ्यां नञ् समासः पूर्वविप्रतिषिद्धं त्वतलोः स्वरसिद्ध्यर्थम्'[5]।

वृत्वाय (११।१९)—आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में इस शब्द को 'वृतु वर्त्तने' (भ्वादिगण) धातु से धात्वनेकार्थत्वात् स्पर्शनार्थक मानकर 'क्त्वा' प्रत्यय में 'क्त्वो यक्' (अष्टा० ७।१।४७) से यगागम-विधान करके बनाया है। किन्तु धातु-निर्देश में उनको कल्पना युक्त नहीं प्रतीत होती। यतो हि 'वृत्' धातु से क्त्वा में धातु के सेट् होने से इडागम का परिहार असम्भव है। फलतः सेट् क्त्वा के कित्

---

१. आचार्य सायण—ऋग्वेद भाष्य १।३०।१।

२. पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।२।२।

३. वही ५।१।११९।

४. वही ३।१।१९३।

५. भाष्यवार्त्तिक, महाभाष्य ५।१।११९।

न होने से[1] गुण होकर 'वर्तित्वा' रूप बनेगा। यदि किसी प्रकार इडागम का अभाव भी मान लिया जाय तो भी 'वृत्वा' रूप न बनकर 'वृत्त्वा' यह रूप बनेगा। अतः इस शब्द के निर्माण में 'वृत' धातु का आश्रय लेना उचित नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने इस शब्द को 'वृञ् वरणे' (स्वादिगण) धातु से बनाया है। यह धातु अनिट् है। अतः 'क्त्वा' प्रत्यय में 'वृत्वा' रूप बनकर पुनः 'क्त्वो यक्' से यक् का आगम होकर 'वृत्वाय' रूप बन जायेगा। इस प्रक्रिया में कोई दोष नहीं प्रतीत होता।

रथीरिव (१३।३७)—यह शब्द 'रथी' शब्द के साथ 'इव' शब्द का समास होने पर बना है। 'रथी' शब्द आचार्य महीधर ने 'रथोऽस्यास्तीति रथीः' यह विग्रह दिखाते हुए रथ शब्द से मत्वर्थ में 'ईर्' प्रत्यय करके बनाया है। किन्तु उनका यह रेफान्त प्रत्ययनिर्देश युक्त नहीं है। यहाँ 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ'[2] इस भाष्य-वार्त्तिक से 'ई' प्रत्यय मत्वर्थ में विहित है 'ईर्' नहीं।

'रथीरिव' में रेफ का श्रवण तो 'इव' शब्द के साथ समास होने पर समासजन्य प्रातिपदिकान्तर्गत विभक्ति का अलुक् होने के कारण होता है। जैसा कि वार्त्तिक में कहा भी है—

'इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च'[3]।

इस प्रकार पूर्वोक्त विभिन्न पदों की व्याकरण-प्रक्रिया की जो समीक्षा प्रस्तुत की गई है उसके अध्ययन से सहज ही यह धारणा बनती है कि इस संहिता के भाष्य में यत्र-तत्र अनेक पदों की जो स्वर-व्याकरणप्रक्रिया आचार्य महीधर ने प्रस्तुत की है उसमें अनेकत्र दोष भी विद्यमान हैं, जब कि स्वामी दयानन्द की व्याकरण-प्रक्रिया में ऐसे दोषों का प्रायः अभाव है। किन्तु इस प्रसंग में हम यह भी विस्मृत नहीं कर सकते कि आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में स्वामी दयानन्द की अपेक्षा कहीं अधिक शब्दों की व्याकरण एवं स्वरप्रक्रिया का उल्लेख किया है। इस दृष्टि से उनका यह कार्य कुछ दोषों के रहते हुए भी महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय ही माना जाएगा।

महीधर-प्रदत्त व्याकरणप्रक्रिया की दयानन्दीय आलोचना की समीक्षा

स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त कुछ पदों की व्याकरणप्रक्रिया से अपनी असहमति दिखाते हुए उन्हें अशुद्ध कहकर उनकी आलोचना की है। यद्यपि ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं, पूरे भाष्य में कुल

१. 'न क्त्वा सेट्'—अष्टाध्यायी १।२।१८।
२. वार्त्तिक, महाभाष्य ५।२।१०९।
३. भाष्य वार्त्तिक, वही ५।२।१०९।

लगभग १०-११ ही हैं, किन्तु इनमें भी दो-एक ही महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक प्रतीत होते हैं जब कि अधिकांश तो केवल उन साधारण दोषों की ओर ही संकेत करते हैं जिनकी सत्ता इतने बड़े वेदभाष्य में असम्भव नहीं है। महीधर की व्याकरण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द की ये आलोचनाएँ प्रायः निरर्थक तथा कहीं-कहीं बलात् आरोपित सी होने के कारण वास्तविक कम तथा दोषदर्शनपरक अधिक प्रतीत होती हैं। इस सन्दर्भ में हम निम्न कुछ स्थल उपस्थित करते हैं—

शमीष्व—प्रथम अध्याय के १५ वें मन्त्र में विद्यमान 'शमीष्व' पद के सन्दर्भ में अपनी व्याकरणप्रक्रिया देते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'शमु उपशमे इत्यस्माद् 'बहुलं छन्दसि' (अष्टा० २।४।७३),' श्यनो लुक्। 'तुरुस्तु शम्यमः सार्वधातुके' (अष्टा० ७।३।९५) इतीडागमः। महीधरेणाऽत्र शपो लुगित्य-शुद्धं व्याख्यातम्।'

स्वामी दयानन्द का यहाँ अभिप्राय मात्र इतना है कि 'शम' धातु चूंकि दिवादिगण की है अतः आचार्य महीधर द्वारा शप् का लुक् न कहकर यहाँ श्यन् का लुक् कहना चाहिए था। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर आचार्य महीधर की यह कोई महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय अशुद्धि नहीं प्रतीत होती। कभी-कभी विकरण-मात्र को 'शप्' के द्वारा ही अभिहित कर दिया जाता है और विशेषकर तब जब कि उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तो धातुओं से सीधे ही श्यन्, श्नम् आदि विकरण न करके पहले उनसे औत्सर्गिक 'शप्' करके पुनः उनके स्थान पर 'श्यन्' आदि प्रत्यय आदेशरूप में करने का पक्ष भी रखा है[1]। अतः ऐसी अवस्था में 'शम' धातु से 'शप्' प्रत्यय की प्राप्ति भी सम्भव है तथा उसका 'श्यन्' आदेश न होकर आदेशपूर्व शप् का लुग्विधान भी संभव हो सकता है। ऐसी अवस्था में आचार्य महीधर का यहाँ शप् के लुक् का उल्लेख करना विशेष दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सुशमि—इसी पूर्वोक्त १।१५ में विद्यमान 'सुशमि' पद के संदर्भ में स्वामी दयानन्द ने लिखा है—'इदमपि पदमुवटमहीधराभ्यामशुद्धं व्याख्यातम्।' माध्यन्दिन संहिता के भाष्यकार उवट ने इस शब्द को क्रिया-विशेषण माना है जिसका अनुगमन महीधर ने भी किया है। स्वामी दयानन्द ने इस पद को महीधर के समान क्रियाविशेषण न मानकर इसे 'हविः' पद का विशेषण बनाया है। उनके अनुसार यह शब्द 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' (अष्टा० ३।२।१४१) से घिनुण् प्रत्ययान्त बना है।

---

१. 'शबादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते'—महाभाष्य ३।१।६७।

किन्तु उनका यह कथन भी महीधर के किसी उल्लेखनीय दोष की ओर इंगित नहीं करता है। इस पद को क्रिया-विशेषण मानना भी अनुचित नहीं है। घिनुण् प्रत्यय में तो, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने माना है, प्रत्यय-स्वर के कारण अन्तोदात्त होने से इसमें स्वरदोष की सम्भावना है। यदि इसमें औणादिक इन्[1] प्रत्यय करके गतिसमास होने पर 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अष्टा० ६।२। १३९) से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर करें तो नित् स्वर[2] के कारण मध्योदात्त बन जाएगा जो कि हमें अभीष्ट भी है। किन्तु इस अवस्था में हम उसे क्रियाविशेषण न बना सकेंगे क्योंकि औणादिक प्रत्यय सामान्यतया कर्ता में ही होते हैं।

धिषणा—स्वामी दयानन्द इस पद को 'धृष' धातु से निष्पन्न मानते हुए **१।१९** के अपने भाष्य में लिखते हैं—'धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा। 'धृषेर्धिष च संज्ञायाम्' (उणादिसूत्र २।८२) अनेनाऽयं शब्दः सिद्धः। महीधरेण धिषणेति पदं धियं बुद्धि कर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यातम्'।

यहाँ स्वामी दयानन्द ने यह नहीं लिखा है कि इस पद की महीधरोक्त व्याकरण-प्रक्रिया में कैसी भ्रान्ति है या क्या दोष है? सम्भवतः स्वामी दयानन्द को आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त इस शब्द की व्याकरण-प्रक्रिया इसलिए स्वीकार्य नहीं कि इस प्रक्रिया में शब्दसिद्धि के लिए दो पदों का आश्रय लेना पड़ता है, जब कि स्वामी दयानन्द के अनुसार केवल 'धृष' धातु से ही औणादिक 'क्यु' प्रत्यय एवं धातु को 'धिष' आदेश करने पर यह शब्द सिद्ध हो सकता है। अतः पदद्वय से इस शब्द को सिद्ध करने का महीधर का प्रयत्न करना गौरवपूर्ण होने के कारण अग्राह्य है। वे उणादिसूत्र से ही इस शब्द के सिद्ध होने के कारण किसी अन्य प्रकार से इस शब्द को सिद्ध करना आवश्यक नहीं समझते।

किन्तु उनकी यह बात भी महीधर के किसी भ्रान्तिविशेष की द्योतक नहीं हो सकती। व्याख्याकार की यह अपनी विशेषता होती है कि वह शब्दार्थ एक या एकाधिक धातुओं के सहयोग से व्याख्यात कर प्रस्तुत करें। यही कारण है कि आचार्य शाकटायन 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति में 'इण्' और 'अस्' इन दो धातुओं का सहयोग लेते हैं[3] तथा 'अग्नि' शब्द के एकमात्र 'अगि गतौ' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय[4] करके सिद्ध होने पर भी आचार्य शाकपूणि[5] ने उसे अञ्ज, दह और

१. सर्वधातुभ्य इन्—उणादिसूत्र ४।११८।
२. ञ्नित्यादिर्नित्यम्—अष्टाध्यायी ६।१।१९१।
३. निरुक्त १।१३।
४. उणादिसूत्र ४।५१।
५. निरुक्त ७।१४।

नी इन तीन धातुओं से सिद्ध माना है। अतः इस दृष्टि से महीधर की व्युत्पत्ति यहाँ निर्भ्रान्त है।

हाँ, एक अन्य बात इस सन्दर्भ में अवश्य कही जा सकती है और वह यह है कि यदि हम महीधर के अनुसार इसे 'धी' उपपद रहते 'षण' धातु से अच् प्रत्यय (अष्टा० ३।१।१३४) करके सिद्ध करें तो 'थाथघञ्०' (अष्टा० ६।२।१४४) सूत्र से उत्तरपद को अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति होने से यहाँ अभीष्ट स्वर सिद्ध नहीं होगा जब कि हमें मध्योदात्तत्व इष्ट है। औणादिक क्यु प्रत्यय में तो, जैसा स्वामी दयानन्द मानते हैं, प्रत्ययस्वर से यह मध्योदात्त बन जाएगा। अतः इस स्वरदोष के कारण महीधर की व्युत्पत्ति किसी रूप में दोषपूर्ण हो सकती है। किन्तु इसका समाधान भी किसी अन्य प्रकार, जैसे 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' (६।२।१९९) से पराद्युदात्तत्व के द्वारा किया जा सकता है।

अभिविख्येषम्—इस संहिता के प्रथम अध्याय के ११ वें मन्त्र में विद्यमान इस पद के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने महीधर की आलोचना करते हुए लिखा है कि—'अत्र महीधरेण भ्रान्त्या अभिविख्येषम् इति पदं 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य दर्शनार्थे गृहीतम्, तत् धात्वर्थादेव विरुद्धम्।' स्वामी दयानन्द ने इस शब्द को 'चक्षिङ्' धातु से 'ख्याञ्' आदेश करके बनाया है[1]।

किन्तु स्वामी दयानन्द की इस स्थल पर महीधर की आलोचना उचित नहीं प्रतीत होती। यदि स्वामी दयानन्द को इस पद का दर्शन अर्थ करते हुए महीधर के 'ख्या प्रकथने' इस अर्थनिर्देश पर आपत्ति है तो यह दोष तो उनके द्वारा प्रदत्त व्युत्पत्ति पर भी आ सकता है। ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने भी अपने भाष्य में इस पद का अर्थ दर्शन ही दिया है। यदि हम इस शब्द की व्युत्पत्ति 'ख्या' धातु से न मानकर 'चक्षिङ्' धातु से मानें, जैसा कि स्वामी जी ने माना है, तो भी धातु का दर्शन अर्थ कहाँ से आएगा? ख्या आदेशवाली अदादिगणस्थ इस 'चक्षिङ्' का अर्थ भी तो मूलतः 'कथन' ही है[2] दर्शन नहीं। यदि धातुओं की अनेकार्थकता के कारण 'चक्षिङ्' का अर्थ यहाँ दर्शन माना जा सकता है तो 'ख्या' धातु को भी हम यहाँ दर्शनार्थक गृहीत कर सकते हैं। अतः इस पद की व्युत्पत्ति में महीधर द्वारा प्रदत्त धातु भी समीचीन ही है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदत्त व्युत्पत्ति में चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश करने में व्यर्थ का गौरव ही प्रतीत होता है।

---

१. 'चक्षिङः ख्याञ्'—अष्टाध्यायी २।४।५४।
२. चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, पाणिनीय धातुपाठ, अदादिगण।

सपत्नक्षित्—यह शब्द इस संहिता के अध्याय १ मन्त्र २९ में विद्यमान है। आचार्य महीधर ने 'सपत्न' उपपद रहते 'क्षिणु हिंसायाम्' धातु से इसे निष्पन्न माना है जब कि स्वामी दयानन्द इसे 'क्षि क्षये' धातु से व्युत्पन्न करते हैं। महीधर-निर्दिष्ट धातु के सन्दर्भ में वे लिखते हैं—'एतदुवटमहीधराभ्यां क्षिणु हिंसायामित्यस्य भ्रान्त्या व्याख्यातम्।'

स्वामी दयानन्द ने इसमें किसी दोषविशेष का स्पष्ट संकेत तो नहीं किया है किन्तु मेरे विचार से उनका तात्पर्य सम्भवतः यही है कि 'क्षिण' धातु का अनुनासिक-लोप 'अनुदात्तोपदेश०' (अष्टा० ६।४।३७) सूत्र से झल्परत्वाभाव के कारण न हो सकेगा। अतः उनके अनुसार यहाँ 'क्षि क्षये' धातु से ही इसे निष्पन्न मानना उचित होगा। स्वामी दयानन्द की यह आलोचना किसी अंश में उचित ही है। यद्यपि अननासिकलोप यहाँ 'गमः क्वौ' (अष्टा० ६।४।४०) सूत्र पर पठित 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' इस भाष्य-वचन से इसे गमादि में पढ़कर भी किया जा सकता है किन्तु यह दीर्घप्रयास होने के साथ ही जब यह शब्द 'क्षि क्षये' धातु से सरलतया सिद्ध हो सकता है तो अन्य किसी धातु का आश्रय क्यों लिया जाए, इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द का विचार उचित ही प्रतीत होता है।

आङ्गिरसि—चतुर्थ अध्याय के १० वें मन्त्र में पठित इस शब्द के सन्दर्भ में उवट एवं महीधर दोनों ही भाष्यकारों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—'उवटमहीधराभ्यामिदं सम्बोधनान्तं पदमबुद्ध्वा व्याख्यातमत एतयोः स्वरज्ञानमपि नास्ति अर्थज्ञानस्य तु का कथा'। मेरे विचार से स्वामी दयानन्द का महीधर के प्रति यह लिखना कुछ अधिक ही कठोर है कि उन्हें स्वर एवं अर्थ का ज्ञान तक नहीं है। जहाँ तक स्वरज्ञान का प्रश्न है इस मन्त्र के संहितापाठ एवं पदपाठ को देखने से ही स्पष्ट है कि निघात होने से यह पद सम्बोधनान्त ही हो सकता है[1]। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उवट एवं महीधर दोनों ही भाष्यकारों को इस पद के सम्बोधनान्त होने में कोई सन्देह है। अब रही बात अर्थ की, तो स्वामी दयानन्द ने भी महीधर के समान ही इस शब्द का अर्थ सम्बोधन में न करके प्रथमान्त में ही किया है। अतः जिस प्रकार व्यत्यय से वे इसका अर्थ प्रथमा में मानते हैं उसी प्रकार महीधर का अर्थ भी समझा जा सकता है। यहाँ भेद केवल इतना ही है कि महीधर ने व्यत्यय का कोई संकेत नहीं किया है जब कि स्वामी जी ने अपने भाष्य में 'अत्र सर्वत्र व्यत्ययः' लिखकर इस मन्त्र के अनेक पदों के अर्थप्रसंग में व्यत्यय स्वीकार कर लिया है। अतः व्यत्यय का उल्लेख किए

१. 'आमन्त्रितस्य च'—अष्टाध्यायी ८।१।१९।

बिना अर्थं करने के कारण हम उन्हें अज्ञ नहीं कह सकते। उनके द्वारा प्रदत्त शब्दार्थ ही इस शब्द में उनकी व्यत्यय-मान्यता को ध्वनित करने में पर्याप्त है।

उपगेषम् (५।५)—आचार्य महीधर ने इस पद की व्याकरण-प्रक्रिया देते हुए पञ्चम अध्याय के ५ वें मन्त्र के भाष्य में जो लिखा है उससे यह ध्वनित होता है कि वे इस शब्द को 'उप' उपसर्गपूर्वक 'गै' धातु से लेट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में 'सिब्बहुलं लेटि' (अष्टा० ३।१।३४) से सिप् प्रत्यय, इडागम तथा 'लेटोऽडाटौ' (अष्टा० ३।४।९४) से अडागम करके निष्पन्न करते हैं।

उनकी इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में लिखा है—'इदं पदमवैयाकरणेन महीधरेण लेट्लकारस्य रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम्।' उनके इस लेख से स्पष्ट है कि उन्हें इस पद का रूप लेट् लकार में स्वीकार्य नहीं है। किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि इस पद को लेट् लकार का रूप मानने में या महीधर-प्रदत्त व्याकरणप्रक्रिया में क्या दोष है? इसके साथ ही एक विशेष बात यह भी है कि स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में महीधर की इस पद के लेट् लकार के रूप की मान्यता का तो खण्डन कर दिया किन्तु स्वयं यह नहीं लिखा कि यह किस लकार का रूप है तथा इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। अपने भाष्य में इस बात का संकेत न करने के कारण ही उनकी यह आलोचना महत्त्वपूर्ण नहीं है। उचित तो यह था कि वे रूपसिद्धि में महीधर की व्याकरणप्रक्रिया में विद्यमान अशुद्धता का स्पष्ट निर्देश करते हुए अपनी व्याकरण-प्रक्रिया भी दे देते।

'उपगेषम्' आशीर्लिङ् का रूप है—मेरे विचार से यदि 'उपगेषम्' को लेट् लकार का रूप मानें, जैसा कि महीधर ने माना है तथा सिप् प्रत्यय एवं इडागम करके बनायें तो इसमें कठिनाई यह है कि 'गै' धातु के अनिट् होने के कारण जहाँ सेट्त्व की कल्पना करनी पड़ती है वहीं 'आतो लोप इटि च' (अष्टा० ६।४।६४) सूत्र से धातु के आकार का लोप प्राप्त होने के कारण यह रूप सिद्ध न हो सकेगा।

अतएव यदि इसे 'गै' धातु के आशीर्लिङ् का रूप माना जाए तो 'छन्दस्युभयथा' (अष्टा० ३।४।११७) से सार्वधातुक संज्ञा होने पर 'लिङ्याशिष्यङ्' (अष्टा० ३।१।८६) से अङ् प्रत्यय तथा 'आतो लोप इटि च' से अकार लोप, इयादेश, गुण, यकारलोप तथा आर्धधातुकत्वाद् यासुट् के सकारलोप के अभाव होने से यह रूप बन जाएगा तथा इसमें कोई दोष नहीं होगा। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'उपगेषम्' के स्थान पर शाखाकृत स्वल्पभेद से

मान्य 'उपगेयम्' रूप को इसी आनुपूर्वी से आशीर्लिङ् में निष्पन्न माना है[१]। केवल इसमे सकारलोप ही विशेष है।

महीधर द्वारा पदपाठ का उल्लघन

आचार्य महीधर के भाष्य में कुछ शब्दों की व्याकरणप्रक्रिया ऐसी भी है जिनका पदपाठ से विरोध प्रतीत होता है। निश्चय ही ऐसे शब्दों की व्याकरण-प्रक्रिया को प्रामाणिक एवं युक्त नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि ऐसे स्थल उनके भाष्य मे अतिस्वल्प ही हैं किन्तु पदपाठ से विरोध रूपी दोष तो उन पर रहेगा ही। हम उदाहरणरूप में कुछ स्थल प्रस्तुत करते हैं—

अन्नाद्याय—अध्याय ३ मन्त्र ५ में विद्यमान इस पद की व्याकरणप्रक्रिया देते हुए उन्होंने लिखा है—'अन्नं च तद् आद्यं च तस्मै……'। यहाँ व 'अन्न' शब्द का ण्यत्-प्रत्ययान्त 'आद्य' शब्द के साथ समास करते हैं जो कि पदपाठ के अनुसार युक्त नहीं है। पदपाठ में 'अद्य' शब्द है 'आद्य' नहीं, अतः 'अन्न' शब्द का यत् प्रत्ययान्त 'अद्य' शब्द के साथ समास होकर 'अन्नाद्य' शब्द बनता है।

यद्यपि व्याकरण के सामान्य नियम के अनुसार 'अद्' धातु के हलन्त होने से ण्यत् प्रत्यय ही (ऋहलोर्ण्यत्—अष्टा० ३।१।१२४) होता है यत् प्रत्यय (अचो यत्—अष्टा० ३।१।७९) नहीं, किन्तु यहां 'बहुलं कृत्याः'[२] इस वार्त्तिक से हलन्त 'अद' धातु से कृत्यसंज्ञक यत् प्रत्यय भी सम्भव है। स्वामी दयानन्द ने इस स्थल पर पदपाठ का अतिक्रमण नही किया है अपितु 'अन्नं च तद् अद्य च तस्मै' यह विग्रह किया है तथा 'अद्य' शब्द को यत्-प्रत्ययान्त ही मानकर उसका समास दिखाया है।

अधीतेन—अध्याय १५ मन्त्र ७ के भाष्य में 'वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्व' इस स्थल पर विद्यमान 'आधीतेन' पद को 'अधीतेन' विच्छेद कर उसका अर्थ आचार्य महीधर ने 'अध्ययनाय' किया है जो कि ठीक नहीं। वस्तुतः यहाँ 'आधीतेन' पद है जो कि पदपाठ को देखने से स्पष्ट है। इसे 'अधीतेन' मानना पदपाठ का उल्लंघन करना है। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में 'आधीतेन' मानकर ही अर्थ किया है जो कि पदपाठ के अनुसार युक्त है।

दयानन्दभाष्य में महीधर के पदपाठ-उल्लंघन का संकेत

स्वामी दयानन्द ने भी अपने भाष्य में एक स्थल पर महीधर द्वारा पदपाठ

---

१. 'अञ्जसा समुपगेयम्'—व्याकरणमहाभाष्य ३।१।८६।

२. व्याकरण-महाभाष्य ३।१।११२ में पठित वार्त्तिक।

का उल्लंघन कर अर्थ किए जाने का संकेत किया है। अध्याय ५ मन्त्र ६ में विद्यमान 'यो मम तनूरेषा' इस स्थल के 'यो' इस पद की व्याख्या में वे लिखते हैं—'अत्र महीधरेण या उ इत्यशुद्धं व्याख्यातम्, ओदन्तोऽयं निपातः।' आचार्य महीधर ने यहाँ संभवतः 'तनूः' का विशेषण बनाने के लिए 'या' इस स्त्रीलिंग शब्द के साथ 'उ' इस निपात को मिलाकर यह ओकारान्त शब्द बनाया है। किन्तु यहाँ मन्त्र का पदपाठ देखने से स्पष्ट है कि यह दो शब्दों का संयोग नहीं अपितु 'यो' यह एकमेव ओकारान्त निपात पद है। इसी कारण पदकार ने इसे प्रगृह्यसंज्ञा एव प्रकृतिभाव ('ओत्'—अष्टा० १।१।१५) के कारण एकपद के रूप में प्रदर्शित किया है। स्वामी दयानन्द के इस सम्बन्ध में पूर्वोक्त आलोचनात्मक वाक्य का तात्पर्य सम्भवतः महीधर की इसी पदपाठ-विरोधी व्याख्या की ओर संकेत करना है।

अध्याय ५ का यही छठा मन्त्र कुछ पाठभेद से पुनः इसी अध्याय के ४० वें मन्त्र के रूप में विद्यमान है। वहाँ भी महीधराचार्य ने इसी प्रकार पदपाठ का उल्लंघन कर 'यो' शब्द की पूर्ववत् ही व्याख्या प्रस्तुत की है।

स्वामी दयानन्द द्वारा भी पदपाठ का उल्लंघन

यह बात नहीं कि केवल महीधर के भाष्य में ही पदपाठ के उल्लंघन रूप दोष विद्यमान हैं, प्रत्युत यह दोष स्वामी दयानन्द के भाष्य में भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणतः इस संहिता के अध्याय ५ मन्त्र २३ में एक पद है 'वलगहनम्'। इस मन्त्र का पदपाठ देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द 'वलग' उपपदपूर्वक 'हन' धातु से निष्पन्न हुआ है जब कि स्वामी दयानन्द इसे 'बल' उपपद रहते 'गाह' धातु से निष्पन्न करते हैं। स्वामी दयानन्द की इस कल्पना का कोई प्रामाण्य नहीं है। उनकी इस मान्यता से पदपाठविरोध रूप दोष स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि इसी मन्त्र में अनेक बार आवृत्त हुए 'वलग' शब्द से भी यही स्पष्ट ध्वनित होता है कि यहाँ उपपद में शब्द 'वलग' ही है 'बल' नहीं। यह 'वलगहनम्' शब्द 'वलग' एवं हन्' इन दो पदों से ही बना है न कि 'बल' उपपद रहते 'गाह' धातु से, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने लिखा है।

शतपथ ब्राह्मण में विद्यमान इस मन्त्र के विनियोग एवं व्याख्या से भी यही प्रतीत होता है कि यहाँ उपपद में 'वलग' शब्द ही अभिप्रेत है, 'बल' का कोई यहाँ तात्पर्य ही नहीं है[1]। तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार श्री भट्टभास्कर मिश्र ने भी इसे 'वलग+हन्' से ही निष्पन्न माना है[2]। आचार्य महीधर भी यहाँ पदपाठ के अनुसार ही 'वलग+हन्' मानकर व्युत्पत्ति एवं अर्थ प्रदर्शित करते हैं।

१. द्रष्टव्य—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण ३।५।४।३, ८, ११-१२।

२. भट्टभास्कर मिश्र—तैत्तिरीय संहिता-भाष्य १।३।२।१।

एक आश्चर्य की बात यह भी है कि इस संहिता के समस्त मुद्रित ग्रन्थों में 'वलगहन' शब्द वकारादि ही मिलता है किन्तु स्वामी दयानन्द ने इसे बकारादि 'बलगहन' माना है। शतपथ-ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में भी वकारादि 'वलग' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होने से स्वामी दयानन्द की यह पाठकल्पना चिन्त्य है।

इस सन्दर्भ में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में 'वलग' शब्द की व्युत्पत्ति में—'वलगो वृणोतेः' (निरुक्त ६।२) इति यास्कः'—ऐसा लिखकर निरुक्त का जो अंश प्रस्तुत किया है वह 'वलग' शब्द की निरुक्ति के लिए नहीं प्रत्युत 'वल' शब्द की निरुक्ति दिखाने के लिए 'वलो वृणोतेः' इस रूप में है। सम्भव है भाष्य में यह अपपाठ हो या मुद्रण-दोष से ऐसा अब तक मुद्रित होता रहा हो। यहाँ उवट ने अपने भाष्य में निरुक्त का उद्धरण ठीक प्रस्तुत किया है। वैसे 'वलग' शब्द भी (वलं गच्छतीति वलगः) इस 'वल' शब्द से ही बनेगा जिसका संकेत महीधर ने अपने भाष्य में किया है।

इस प्रकार इस अध्याय में उभय भाष्यों में विद्यमान कुछ शब्दों की व्याकरण एवं स्वरप्रक्रिया का संक्षिप्त रूप से समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि जहाँ महीधरप्रदत्त व्याकरण एवं स्वरप्रक्रिया में कई त्रुटियाँ लक्षित होती हैं वहीं स्वामी दयानन्द द्वारा महीधर की व्याकरण प्रक्रिया की आलोचना भी अधिकांशतः यथार्थपरक नहीं है। जहाँ तक पदपाठ के उल्लंघन का प्रश्न है इस सन्दर्भ में दोनों ही भाष्यकार इस दोष से पूर्णतया मुक्त नहीं कहे जा सकते। क्योंकि दोनों ही भाष्यों में एकाधिक स्थलों पर पदपाठ का अतिक्रमण दृष्टिगत होता है।

अष्टम अध्याय

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द-कृत आचार्य महीधर की आलोचना का विवेचन

स्वामी दयानन्द ने अपना वेदभाष्य प्रारम्भ करने से पूर्व वेदसम्बन्धी अपनी विविध मान्यताओं का विशद रूप से उल्लेख अपने ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है। इस ग्रन्थ के 'भाष्यकरण-शंकासमाधानादिविषयः' नामक प्रकरण में उन्होंने संक्षिप्त रूप में यह बताया है कि आचार्य सायण एवं महीधर प्रभृति विभिन्न आचार्यों के वेदभाष्यों की सत्ता रहने पर भी उन्होंने अपना यह वेदभाष्य क्यों लिखा है।

इसी प्रकरण में उन्होंने यह भी संकेत किया है कि वे केवल शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थ जो वेदों के व्याख्यान रूप हैं तथा व्याकरण, निरुक्तादि वेदाङ्ग-ग्रन्थ एवं अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों व युक्तियुक्त मान्यताओं (इसके सम्बन्ध में उन्होंने 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य' विषय में विस्तृत रूप से लिखा है) के अनुरूप ही वेद का व्याख्यान करेंगे। आगे आचार्य सायण एवं महीधर आदि वेदभाष्यकारों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि इन भाष्यकारों ने वेदों का केवल कर्मकाण्डपरक ही अर्थ किया है जो कि अन्तिम या पूर्ण नहीं है। अतः वे मन्त्रों का कर्मकाण्ड से भिन्न उनका सामाजिक, लोकोपकारी या व्यावहारिक अर्थ देंगे जो कि मन्त्रशब्दों से ही साक्षात् ध्वनित होता है[1]।

आचार्य महीधर के वेदभाष्य को उन्होंने नितान्त दूषित, भ्रष्ट, अश्लीलार्थ-युक्त तथा पशुहिंसादि - प्रतिपादनपरक होने के कारण वास्तविक वेदार्थ से कोसों दूर होने के साथ ही कर्मकाण्डीय अर्थ में भी अत्यन्त अयुक्त एवं अग्राह्य माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने इस संहिता के २३ वें अध्याय के १० मन्त्रों को उद्धृत करके उनका महीधरभाष्यानुसार अर्थ देकर उसका खण्डन करते हुए उन मन्त्रों का अपने द्वारा मान्य अर्थ भी प्रस्तुत किया है। महीधर-भाष्य में दोष-दिग्दर्शन के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत इन मन्त्रों का महीधरकृत अर्थ निश्चय ही अत्यन्त अश्लील एवं वीभत्स है। वेद एवं श्रौत कर्मकाण्ड पर आस्था रखनेवाले आधुनिक भारतीय के मन में इस घृणित यज्ञक्रियापद्धति एवं तदाधारित मन्त्रार्थ को पढ़कर इन सबके प्रति वितृष्णा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी, यह नहीं कहा जा सकता।

श्रौतसूत्रों में वर्णित अश्वमेधयज्ञ की विधि

आचार्य महीधर के वेदार्थ की आलोचना में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत पूर्वचर्चित १० मन्त्रार्थों पर विचार करने से पूर्व इन मन्त्रों के विनियोग-सन्दर्भ को

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका — भाष्यकरण - शंकासमाधानादिविषयः पृ० ३६४-३६७।

जानना आवश्यक है जिसकी पृष्ठभूमि पर इनका अर्थ किया गया है। जैसा कि पहले बताया गया, ये सभी मन्त्र इस संहिता के २३ वें अध्याय में विद्यमान हैं। इस सम्पूर्ण २३ वें अध्याय का विनियोग अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण में माना जाता है[१]। अतः हम पहले कात्यायनश्रौतसूत्र में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की वह प्रक्रिया संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिसके आधार पर आचार्य महीधर ने अपना मन्त्रार्थ प्रस्तुत किया है। अश्वमेध की इसे यज्ञिय कार्यविधि को आगे महीधरीय मन्त्रार्थ में संकेतित करने के लिए हम मोटे तौर पर इसे निम्न १० खण्डों में विभक्त करके उपस्थित करते हैं—

१—मुमुक्षु अभिषिक्त क्षत्रिय अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता है जो ४०० अनुचरियों से युक्त अपनी चार प्रमुख पत्नियों के साथ यज्ञभूमि में आकर गार्हपत्य अग्नि के पास उत्तरशिरा होकर प्रथम दिन वावाता (चारों पत्नियो में एक) नामक पत्नी की जंघाओं के बीच शयन करता है।

२—प्रातः उठकर विभिन्न इष्टिकर्मों के पश्चात् अश्व को लाकर स्नान कराया जाता है।

३—अध्वर्यु आयोगव (शूद्र से वैश्या मे उत्पन्न) पुरुष द्वारा सिध्रक वृक्ष से निर्मित मुसल से एक कुत्ते का वध करता है।

४—इसके पश्चात् बेंत की चटाई पर उस मृत कुत्ते को रखकर जल में तैराया जाता है। अनन्तर विभिन्न होमों का विधान है जिसके पश्चात् रक्षकों के साथ अश्व का उत्सर्जन होता है।

५—दिग्विजय करके अश्व के लौटने पर उसे मुख्य यज्ञभूमि में विभिन्न प्रकार के सैकड़ों पशुपक्षियों के साथ रखा जाता है।

६—वस्त्र से आच्छादित भूमि पर अश्व का वध किया जाता है। पुनः राजपत्नियां मृत अश्व की स्तुति करती हुई उसकी परिक्रमा करती हैं तथा रात्रि को उसके पास शयन करती हैं।

७—मृत अश्व के शिश्न को राजपत्नी अपने योनिप्रदेश में प्रविष्ट कराती हैं।

८—ऋत्विजों का कुमारियों और राजा की पत्नियों के साथ यज्ञवेदी पर अश्लील सम्भाषण होता है।

---

१. कात्यायनसर्वानुक्रमसूत्र ३।१ एवं माध्यन्दिन - शतपथ - ब्राह्मण १३।४।१।१ ।

९—राजपत्नियां अश्व के शरीर को सुईयों से वेधती हैं।

१०—तदनन्तर खड्ग से अश्व के विविध अंगों को काटकर अग्नि में उसे तथा उसके रुधिर को भी पकाया जाता है और उसकी हवि दी जाती है[1]।

अश्वमेध सम्बद्ध कुछ मन्त्रों का महीधरकृत अर्थ

अब इसी पूर्वोक्त अश्वमेध की प्रक्रिया के सन्दर्भ में आचार्य महीधरकृत कुछ उन मन्त्रों का अर्थ प्रस्तुत किया जाता है जिनका खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में आचार्य महीधर की आलोचना की है।

(१) **'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥'**

—(माध्य० सं० २३।१९)

इस मन्त्र को आचार्य महीधर ने अश्वमेध की पूर्ववर्णित छठीं और सातवीं क्रिया के सन्दर्भ में व्याख्यात करते हुए लिखा है कि राजपत्नियां अश्व को सम्बोधित करते हुए यह कहती हैं—

'हे अश्व! हम तुम्हें (स्त्री) गणों के मध्य गणों के पालक के रूप में, प्रियाओं के मध्य प्रियाओं के पालक के रूप में तथा सुखनिधियों के मध्य निधिपति के रूप में तुम्हारा आवाहन करते हैं। हे अश्व! गर्भ धारण में सक्षम जो तेरा वीर्य है उसे मैं खींच कर अपनी योनि में डालूँ तथा तुम उस वीर्य को मुझमें स्थापन करनेवाले हो।'

(२) **ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावः स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथाम्।**
वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥—(माध्य सं० २३।२०)

इस मन्त्र का अर्थ ७ वीं यज्ञविधि के सन्दर्भ में आचार्य महीधर ने निम्न प्रकार किया है—

'हम दोनों (राजपत्नी और अश्व) अपने चारों पैरों को फैलाते हैं, (अध्वर्यु कहता है) तुम दोनों स्वर्गतुल्य इस यज्ञभूमि में कपड़े से आच्छादित करते हो। यह वीर्यसेक्ता अश्व मुझमें वीर्य का सेचन करे।' यह बोलकर राजपत्नी अश्वशिश्न को खींचकर अपने योनिप्रदेश में स्थापित करती है।

(३) **उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।**
यः स्त्रीणां जीवभोजनः ॥—(माध्य० सं० २३।२१)

इस मन्त्र का अर्थ भी ७ वीं यज्ञविधि के सन्दर्भ में ही किया गया है—

---

१. इन सम्पूर्ण यज्ञविधियों के लिए द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, अध्याय २० कण्डिका १ से ८ पर्यन्त।

'हे अश्व ! राजमहिषी की योनि के ऊपर वीर्य सिंचन करो। मेरी योनि में उस लिंग को प्रविष्ट कराओ जिससे स्त्रियाँ जीवन और भोग प्राप्त करती हैं।'

इसी प्रकार आगे भी ८ वीं यज्ञविधि के सन्दर्भ में अध्याय २३ के मन्त्र संख्या २२ से ३२ तक का जो अर्थ आचार्य महीधर ने अश्लीलसंवादात्मक रूप में प्रस्तुत किया है वह कितना कुत्सित है यह तो उनके भाष्य के पढ़ने से ही स्पष्ट हो सकता है। स्वामी दयानन्द ने महीधरप्रदत्त इन मन्त्रों के अर्थों को भी अपने भाष्य-भूमिका में उपस्थित किया है।

तथाकथित आश्वमेधिक विधि की सम्भाव्यता

आचार्य महीधर द्वारा प्रदत्त इन मन्त्रों के अर्थों को पढ़ने के पश्चात् आज का कोई भी विचारवान् और विवेकी पुरुष वेद के प्रति कैसे श्रद्धावान् रह सकता है। वेद के इन मन्त्रार्थों को देखकर मन्त्रों के इस प्रकार के विनियोगों तथा इससे भी अधिक कर्मकाण्ड की तथाकथित समस्त क्रियाविधि के प्रति वह निश्चित ही अपने मन में वितृष्णा और घृणा का भाव लिए बिना नहीं रह सकेगा। क्या प्राचीन भारतवर्ष में जितने भी राजा-महाराजा अश्वमेध यज्ञ करते थे वे इन समस्त विधियों को अपनाते थे जो कि इस कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्णित है तथा जिसके आधार पर आचार्य महीधर ने इस संहिता पर अपना यह वेददीप-भाष्य प्रस्तुत किया है। मेरे विचार से किसी भी सभ्य समुदाय के मानव के लिए, चाहे वह इस युग का हो अथवा उस प्राचीनयुग का जिसको हम वेद और ब्राह्मणयुगीन सभ्यताकाल के नाम से अभिहित कर सकते हैं, अश्वमेध की इस तथोक्त घृणित एवं बीभत्स प्रक्रिया को केवल अदृष्टलाभ या मुक्ति की अभिलाषा से[1] अपनाना या कार्यरूप में परिणत करना शायद सम्भव न हो।

इसी प्रकार सौत्रामणी नामक पशुयाग में भी सुरा की हवि देना, उसका भक्षण करना तथा पशु के माँस और वसा की आहुति देने का विधान भी श्रौतसूत्रों में वर्णित है[2] जिसके आधार पर ही आचार्य महीधर ने उन यज्ञों में विनियुक्त

---

१. (क) 'सर्वान् ह कामानाप्नोति सर्वान् व्यष्टीर्व्यश्नुते योऽश्वमेधेन यजते।'—(माध्य० सं० शतपथ ब्राह्मण १३।४।१।१)

(ख) 'राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य। अत्र च सर्वकामशब्देन मुमुक्षुरित्यभिधीयते। मोक्षप्राप्तौ च सर्वकामप्राप्तेः सम्भवादिति कर्काचार्याः।'—कात्यायन श्रौतसूत्र २०।१।१ (सरलवृत्ति सहित) पृ० १७७।

२. कात्यायन श्रौतसूत्र १९।३।१३, २० तथा १९।४।१२।

मन्त्रों का तत्परक ही अर्थ किया है[1]। यह तो गनीमत है कि 'पुरुषमेध' नामक यज्ञ में पुरुष के वध का विधान नहीं किया गया है। यद्यपि लगभग १८४ मनुष्य इस यज्ञ में यूप में बाँधे जाते हैं किन्तु केवल उनका पर्यग्निकरण करके ही उन्हें उत्सृष्ट कर दिया जाता है। यदि कहीं इस यज्ञ में श्रौतसूत्र में उसके वध का विधान होता तो निश्चित ही आचार्य महीधर का वेदभाष्य भी उसका समर्थन करने से पीछे न हटता।

यह बात नहीं कि आचार्य महीधर इन मन्त्रों का पशुहिंसापरक या अश्लील-सम्भाषणात्मक अर्थ वेदों को जान बूझकर विकृत करने के लिए कर रहे हैं। निश्चय ही वे वेदों के प्रति किसी भी प्रकार से स्वामी दयानन्द से कम श्रद्धा, विश्वास या पूज्य भाव नहीं रखते थे किन्तु उन्होंने समस्त मन्त्रों का अर्थ मुख्यरूप से याज्ञिक कर्मकाण्डपरक ही किया है अतः उनके समक्ष इन कर्मकाण्डों के प्रतिपादक ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में प्रदत्त विधियों का आश्रय लेने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं रह गया था। यही कारण है कि वे स्वयं घोषणा करते हैं कि 'यह अश्लील अर्थ है[2]' किन्तु वे इस अश्लील अर्थ को इसलिए स्वीकार करते हैं कि कर्मकाण्ड की परम्परा में यह भी एक आवश्यक यज्ञिय विधि के रूप में कर्मकाण्डप्रतिपादक ग्रन्थों से उन्हें प्राप्त है। अतः उनके लिए इन मन्त्रों का तदनुसार अर्थ करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

महीधर का अर्थ तथा ब्राह्मण और श्रौतसूत्र

श्रौतसूत्र मुख्यतः यज्ञिय कर्मकाण्ड के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। किस यज्ञ का कौन अधिकारी है, उसके करने का काल क्या है आदि विषयों के साथ ही विभिन्न यज्ञ और इष्टियों में प्रयुज्यमान द्रव्यों एवं यज्ञपात्रों के स्वरूप आदि का परिचय तथा उस यज्ञ की समस्त प्रक्रिया का सांगोपांग प्रतिपादन इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पूर्वचर्चित कात्यायनश्रौतसूत्र याज्ञिकक्रियाप्रधान यजुर्वेद से सम्बद्ध होने के कारण इस सन्दर्भ में अपना विशिष्ट स्थान रखने के कारण एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में प्रदत्त समस्त याज्ञिक क्रियाओं तथा उनकी परिकल्पनाओं का आधार मूलतः शतपथ ब्राह्मण ही है। शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि यज्ञों का कोई स्पष्ट प्रक्रिया अथवा उसका अविकल प्रतिपादन नहीं उपलब्ध होता है परन्तु इस संहिता में पठित मन्त्रों या मन्त्रांशों का उसी क्रम से उल्लेखपूर्वक यज्ञ में विनियोग, उनके कुछ अर्थसंकेत, विभिन्न यज्ञ क्रियाओं की यत्र-कुत्रचित् विवेचना तथा उनकी

१. माध्यन्दिन संहिता—महीधर भाष्य २९।३६-३७, ८० आदि।
२. 'एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्'—महीधरभाष्य २४।२४।

प्रतीकात्मक व्याख्या आदि दी हुई है। यह सब इतना अधिक मिश्रित है कि यज्ञिय विधिभाग को ठीक-ठीक समझना और उन क्रियाओं के पौर्वापर्य की नियमित कल्पना कर पाना कठिन है। कल्पसूत्रों में अन्यतम श्रौतसूत्रों ने इसी कार्य को सम्पन्न किया तथा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रदत्त मन्त्र सम्बद्ध विधिभाग को कल्पना से नियमित और विकसित किया है। इस प्रकार श्रौतसूत्रों में विद्यमान यज्ञक्रियाओं के निर्देश नितरां स्वकल्पित न होकर किसी न किसी रूप में ब्राह्मणमूलक कहे जा सकते हैं। उदाहरणतः इसी प्रकृत अश्वमेधयज्ञ में अश्व को मारना, राजमहिषी का मृत अश्व के समीप शयन, अश्वशिश्न को योनिप्रदेश में स्थापन तथा ऋत्विजों का कुमारियों और राजपत्नियों के साथ अश्लील सम्भाषणात्मक जो संवाद श्रौतसूत्र म निर्दिष्ट है, जिसके आधार पर ही आचार्य महीधर ने पूर्वोद्धृत मन्त्रार्थ किया है, उसका संकेत शतपथ ब्राह्मण के १३ वें प्रपाठक में स्पष्टरूपेण विद्यमान है[१]। इसी प्रकार अश्व के वपा आदि के होम का संकेत भी उसमें मिलता है[२]। अतः हम यह कह सकते हैं कि आचार्य महीधर का यह सब अर्थ इन सब प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही किया गया अनुवाद होने से अपने आप में किसी सीमा तक अयुक्त नहीं है।

इन्हीं सब कारणों से कुछ आधुनिक वेदव्याख्याता विद्वान् आचार्य महीधर पर अश्लील व पशुहिंसापरक मन्त्रार्थ करने का दोष स्वामी दयानन्द के समान नहीं मढ़ते हैं प्रत्युत इस उत्तरदायित्व से उनको मुक्त करके इस प्रकार के अर्थों की परम्परा का वास्तविक श्रेय इन प्राचीन ग्रन्थों को ही देना चाहते हैं[३]। आचार्य महीधर तो उस परम्परा के अन्धानुयायी मात्र हैं।

स्वामी दयानन्द और श्रौतसूत्रों का प्रामाण्य

वर्तमान में शुक्लयजुर्वेद संहिता का एकमेव श्रौतसूत्र उपलब्ध होता है जिसका नाम कात्यायन श्रौतसूत्र है। इसी श्रौतसूत्र में शतपथ ब्राह्मण द्वारा निरूपित यागक्रम एवं विनियोग का अनुवर्त्तन करके श्रौतयज्ञकर्मों की विस्तृत विधि

---

१. संज्ञपयन्ति पशुम्····अश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते····अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति। कुमारि हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति···· अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति········हये हये महिषि माता च ते पिता च········आदि।—(माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १३।५।२।१-८)

२. अथ वपानां होमः····हुतासु वपासु····आदि।—(वही १३।५।३।१,७)

३. द्रष्टव्य—श्रीस्वामी भगवदाचार्य-यजुःसंस्कारभाष्य की प्रस्तावना, पृ० ३७।

प्रस्तुत की गई है। आचार्य महीधर ने इसी के आधार पर अपना याज्ञिक-भाष्य लिखा है तथा उसमें इस ग्रन्थ के अनेक उद्धरण भी दिये हैं। अश्वमेधयज्ञ की वह पूर्वचर्चित विधि इसी ग्रन्थ में प्रदत्त है जिसके अनुसार आचार्य महीधर ने अपना तथाकथित वेदार्थ प्रस्तुत किया है। अब यदि हम इस कात्यायन श्रौतसूत्र की यज्ञिय कर्मकाण्ड में प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तो निश्चय ही हम इस प्रकार के अर्थ करने का दोष महीधर पर नहीं डाल सकते। उन्होंने तो वही किया जो उनको पहले ही परम्परागत रूप में श्रौतसूत्रों में निर्दिष्ट विधान के अनुसार प्राप्त था।

स्वामी दयानन्द का चिन्तन श्रौतसूत्रों के सम्बन्ध में कुछ भिन्न है। वे भी श्रौतसूत्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में प्रदत्त उनके विचारों के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि वेदमन्त्रों से सम्बद्ध यज्ञिय कर्मकाण्ड अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों की विस्तृत विधि व्याख्या के लिए शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ एवं मीमांसा और श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थ उन्हें मान्य हैं[1]। किन्तु उन्हें ब्राह्मण एवं श्रौतसूत्रों की समस्त याज्ञिक विधियाँ आचार्य महीधर के समान पूर्ण-रूपेण अक्षरशः स्वीकार्य नहीं है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपने ग्रन्थ 'संस्कार विधि' में लिखा है—'जो ब्राह्मणग्रन्थ तथा श्रौतसूत्रादि हिंसापरक हों उनका प्रमाण नहीं करना चाहिए[2]।' उनके इस लेख से स्पष्ट है कि वे ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों में विद्यमान पशुहिंसा तथा अश्लील कर्मकाण्डविधान को अप्रामाणिक मानते हैं। इसी कारण वे इनमें विद्यमान पशुहिंसा एवं अश्लील क्रिया विधान का अनुसरण कर किए गए मन्त्रार्थ को भी अप्रामाणिक मानते हुए उसकी आलोचना करने को उद्यत रहते हैं।

इन मन्त्रों का स्वामी दयानन्दकृत अर्थ

जैसा कि पहले बताया गया कि स्वामी दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में अनेक मन्त्रों के महीधरकृत अर्थ का खण्डन कर उन्हें अप्रामाणिक एवं अमान्य ठहराया है। अब इस सन्दर्भ में 'गणानां त्वा गणपतिं०' आदि उन तीन मन्त्रों का स्वामी दयानन्दकृत अर्थ भी द्रष्टव्य है—

१—'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे०' (२३।१९)

'हे जगदीश्वर! हम तुम्हें समूहों के समूहपालक के रूप में तथा प्रियजनों के प्रियपति के रूप में एवं विद्यादि निधि के पोषक के रूप में स्वीकार करते हैं।

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—प्रतिज्ञाविषय, पृ० ३८२।
२. संस्कारविधि—वेदारम्भ प्रकरण, पृ० १३१ में प्रदत्त पाद-टिप्पणी।

हे सब भूतों के वासस्थान परमात्मन् ! तुम मेरा न्यायाधीश बन गर्भ रूप में धारण करनेवाली प्रकृति को तू प्राप्त करता है, उस प्रकृति को मैं जानूं ।'

२—'ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव०' (२३।२०)

'राजा और प्रजा जैसे सुखमय लोक में धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार प्राप्तव्य पदार्थों को प्राप्त करें वैसे इनका हम अध्यापक व उपदेशक लोग विस्तार करें। जैसे बल पराक्रम को धारण करनेवाला दुष्टों की शक्ति का बन्धक विज्ञानवान् राजा प्रजा में बल पराक्रम को स्थापित करे वैसे ही प्रजा भी राजा में बल को स्थापित करे।'

३—'उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि०' (२३/२१)

हे शक्तिमान् राजन् ! स्त्रियों के प्राणभक्षण करने वाले अर्थात् व्यभिचारी पुरुष और स्त्री को भी पकड़ कर प्रजा के समक्ष ताडित करे और अपनी प्रजा में विषय-क्रीडा को समाप्त करके न्यायदण्ड का संचालन करे।'

स्वामी दयानन्द ने इसी प्रकार आगे के अन्य अनेक मन्त्रों का अर्थ भी राजा, प्रजा और राष्ट्रविषयक ही किया है जो उनके भाष्य को देखने से स्पष्ट है।

स्वामी दयानन्दकृत मन्त्रार्थ का आधार

स्वामी दयानन्दकृत अश्वमेध प्रकरण के इन मन्त्रों के अर्थों का आधार भी मुख्यतः शतपथ ब्राह्मण ही है (श्रौतसूत्र नहीं)। उन्होंने अश्वमेध के इस सम्पूर्ण प्रकरण का अर्थ राजा और प्रजा के सन्दर्भ में ही अभिव्यक्त करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस प्रसंग में उन्होंने अश्वमेधीय मन्त्रों के विनियोग से सम्बद्ध निम्न कुछ वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि यह अश्वमेध यज्ञ राष्ट्र, राजा एवं प्रजा से सम्बद्ध एक महान् सामूहिक यज्ञ है जिसमें क्षत्रियोचित कर्त्तव्य एवं राजा की प्रजा के प्रति विद्यमान विविध प्रवृत्तियों को संकेतित किया गया है—

प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः ।
क्षत्रं वाऽश्वो विडितरे पशवः ।
क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति ।
राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरिव तद् राष्ट्रे दधाति ।
अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद् रूपं यद्धिहरण्यम्
क्षत्रमेवैतत् क्षत्रेण समर्धयति[1] । आदि

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण—१३।२।२।१४-१७ ।

यज्ञों की प्रतीकात्मक व्याख्या की अपेक्षा

स्वामी दयानन्द के पूर्वोद्धृत मन्त्रार्थ से भिन्न आचार्य महीधर ने जो अपना पशुहिंसापरक तथा अश्लील संवादात्मक मन्त्रार्थ प्रस्तुत किया था, उस सन्दर्भ में भी हमने लिखा था कि इस अर्थ का आधार भी ब्राह्मण और श्रौतसूत्र ही हैं। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम ब्राह्मणग्रन्थ एवं कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रदत्त अश्वमेधादि यज्ञों में विद्यमान पशुहिंसा, अश्लील संभाषण एवं तदाधारित आचार्य महीधर के मन्त्रार्थों का समर्थन कर रहे हैं अथवा वेद, ब्राह्मणग्रन्थ और वैदिक यज्ञों में विद्यमान पशुहिंसा और अश्लील सम्भाषण आदि की सत्ता मानकर इन्हें सर्वथा त्याज्य घोषित कर रहे हैं। वास्तव में इस सम्बन्ध में हमें कुछ अन्य दृष्टि-कोण से भी विचार करना अपेक्षित है जिसमें ब्राह्मणग्रन्थ पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि जहाँ मन्त्रभाग अतिसंक्षिप्त शब्दों में अपने अन्दर महान् अर्थ गाम्भीर्य धारण किए हुए उचित व्याख्या के अभाव में अत्यधिक आवृत से प्रतीत होते हैं तथा इन मन्त्रों का जिन यज्ञों में विनियोग किया गया है उन यज्ञों की क्रियाविधि के प्रतिपादक श्रौतग्रन्थ भी उनका अत्यन्त स्थूल एवं भौतिक रूप ही प्रस्तुत करके रह जाते हैं, वहीं यज्ञिय विधि की व्याख्या एवं उसके आन्तरिक स्वरूप या रहस्य को समझने में हमें ब्राह्मणग्रन्थों से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है।

वैदिक यज्ञ एक प्रतीकात्मक नाटक हैं जो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार की क्रियाओं एवं रहस्यों को विविध रूप में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में विशाल सृष्टि-निर्माणरूपी मानसयज्ञ की परि-कल्पना की गई है जिसमें कि वह ब्रह्मपुरुष अपना सर्वस्व होमने के लिए हविरूप में उपस्थित रहता है तथा जिसकी वसन्त, ग्रीष्म और शरद ऋतु रूपी शक्ति को क्रमशः आज्य, समिधा और हवि के रूप में कल्पित कर निरूपित किया गया है[1], कुछ ऐसा ही निरूपण या सृष्टिरहस्यों का प्रतीकात्मक तत्त्व गूढभाव इन पुरुषमेध, अश्वमेध आदि श्रौत यज्ञों में भी छिपा हुआ है। इसका स्पष्ट संकेत हमें इस अश्वमेध यज्ञ के सन्दर्भ में प्रदत्त विभिन्न निम्न ब्राह्मणवाक्यों से भी मिलता है। जैसे—

(१) अश्वमेधयज्ञ के घोड़े के लगाम की लम्बाई १२ अथवा १३ हाथ होने का जो उल्लेख है[2] तत्सन्दर्भ में शतपथ में लिखा है—"द्वादशमासाः संवत्सरः

---

१. ऋग्वेद संहिता १०।९०।६ एवं माध्यन्दिन संहिता ३१।१४।

२. कात्यायन श्रौतसूत्र २०।१।७।

संवत्सरमेवाप्नोति ।.........त्रयोदशाऽरत्नी रशना.........त्रयोदशो मासो विष्टपमृषभ एष यज्ञानां यदश्वमेधो.........[1] ।" शतपथ के इस लेख से स्पष्ट है कि १२ हाथ की रस्सी वास्तव में वर्ष के १२ महीनों की प्रतीक है तथा जिस वर्ष मलमास के कारण १३ महीने होते हैं यदि उस वर्ष यह यज्ञ करे तो १३ हाथ की रस्सी ले।

(२) इसी प्रकार 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे०' आदि मन्त्र को बोलकर अश्वमेधयज्ञ में राजा की पत्नियों का यज्ञभूमि में मृत अश्व की तीन-तीन करके तीन बार अर्थात् ९ परिक्रमाएँ करने का जो विधान है[2] उस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में जो निम्न उद्धरण मिलता है उससे प्रतीत होता है कि प्रथम तीन परिक्रमाएँ तीनों लोकों की द्योतक है जब कि द्वितीय बार की तीन परिक्रमाएँ करने के बाद सम्पन्न हुई कुल ६ परिक्रमाएँ छः ऋतुओं की प्रतीक हैं तथा पुनः तीसरी बार तीन परिक्रमाएँ करने पर सम्पन्न हुई कुल ९ परिक्रमाएँ नव प्राणों के प्रतीक स्वरूप हैं—"त्रिः परियन्ति (पत्न्यः) त्रयो वा इमे लोकाः, एभिरेवैनं लोकैर्धुवते । त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड् वाऽऋतवः.........अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः.........[3] ।"

(३) राजा की पत्नियों द्वारा अश्व के शरीर में चारों ओर से जो सौवर्ण राजत और लौह सूचियों से बँधने का विधान दिया हुआ है,[4] उसके सन्दर्भ में भी शतपथ ब्राह्मण में जो लिखा है उससे यही प्रतीत होता है कि यह अश्वमेध मानो राष्ट्र का प्रतीक हैं जिसमें प्रजाएँ सूइयाँ हैं जो राष्ट्र की समस्त दिशाओं में व्याप्त हैं। विभिन्न धातुओं से निर्मित सुइयाँ दिशाओं की विभिन्नता की परिचायक हैं—"सूचीभिः कल्पयन्ति । विशो वै सूच्यो राष्ट्रमश्वमेधो विशं चैवास्मिन् राष्ट्रे समीची दधाति....त्रय्यः सूच्यो भवन्ति । लोहमय्यो राजता हरिण्यो दिशो....तस्मान्नाना-रूपा दिशः....[5] ।"

(४) अश्व के सूचीवितोद के पश्चात् उसको काटने के लिए सुवर्ण परिष्कृत खड्ग का विधान किया गया है । अश्व के साथ ही अन्य पर्यंग्य पशुओं के वध के लिए ताम्रघटित खड्ग तथा अन्य कुछ के लिए केवल आयस खड्ग का विधान

१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १३।१।२।१-२ ।
२. कात्यायन श्रौतसूत्र २०।६।१३ ।
३. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण—१३।२।८।४-५ ।
४. कात्यायन श्रौतसूत्र—२०।७।१ ।
५. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण—१३।२।१०।२-३ ।

है[1] । इस सन्दर्भ में शतपथ का निम्न प्रकरण द्रष्टव्य है जिससे स्पष्ट ही ध्वनित होता है कि यहां अश्व को राष्ट्र या राष्ट्ररक्षक क्षात्रधर्म का प्रतीक मानकर तथा उसके वध में प्रयुज्यमान खड्ग के सौवर्णत्व को ज्योति या समृद्धि का प्रतीक मानकर ही इस अश्वमेधयज्ञ रूपी नाटक में प्रस्तुत किया गया है—'हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति । लोहमयाः पर्यंग्याणाम् आयसा इतरेषाम् । ज्योतिर्वै हिरण्यं राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति—अयो हिरण्य ज्योतिषैव यजमानः····अथो क्षत्रं वा अश्वः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्, क्षत्रमेवैतत् क्षत्रेण समर्धयति[2] ।'

स्वामी दयानन्द ने शतपथ के एवंविध प्रमाणों के आधार पर ही अश्वमेध-प्रकरणस्थ अनेक मन्त्रों का व्याख्यान राष्ट्र, राजा, राजपुरुष, प्रजा और उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनका कर्त्तव्य आदि क्षात्रधर्म के विभिन्न विषयों से सम्बद्ध होकर किया है । इस सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण निश्चय ही आचार्य महीधर की अपेक्षा कहीं अधिक प्रशंसनीय और उपादेय कहा जाएगा क्योंकि उन्होंने स्थूल याज्ञिक प्रक्रिया की उपेक्षा कर उसके प्रतीकात्मक अभिप्राय को अपने वेदभाष्य में अभिव्यक्त करने का किसी सीमा तक श्लाघनीय प्रयत्न किया है । उनके मन्त्रार्थों का संकेत किसी न किसी रूप में शतपथ में भी उपलब्ध होने से हम इन्हें केवल कपोल-कल्पित कह कर उपेक्षा भी नहीं कर सकते । किसी अंश में हमें इनकी भी प्रामाणिकता स्वीकार करके एवंविध अर्थों की सम्भावना पर गम्भीर दृष्टिकोण से विचार करना अपेक्षित है । भले ही उनका मन्त्रार्थ किसी प्रतीकात्मक अर्थ को सम्बद्धतापूर्वक प्रकट करने में समर्थ न हो पाया हो किन्तु इस दिशा में एक अभिनव प्रयत्न करने और मार्गदर्शन करने का श्रेय तो उन्हें मिलना ही चाहिए ।

इन वैदिक यज्ञों की प्रतीकात्मक व्याख्या करने पर अनेक समस्याओं का अनायास ही समाधान हुआ भी जान पड़ने लगता है और वास्तव में यह व्याख्या ही उचित, ग्राह्य एवं ब्राह्मणों में निर्दिष्ट होने से प्रामाणिक भी है । इस व्याख्या में पशुहिंसा का कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि तब इसमें 'पशु' जीवित व भौतिक प्राणी न होकर एक यज्ञिय तत्त्व का वाचक बन जाता है जो कि इस सृष्टिप्रक्रिया में सहायक और उपादान है । इस सन्दर्भ में स्वयं वेद और ब्राह्मण प्रमाण हैं—'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त·······वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त·······सूर्यः पशुरासीत् तेना यजन्त····आदि[3] ।

१. कात्यायन श्रौतसूत्र—२०।७।२-४ ।

२. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण—१३।२।२।१६-१७ ।

३. माध्यन्दिन संहिता २३।१७ तथा माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण —१३।२।७।१३-१७ ।

अब इस परिप्रेक्ष्य में हम यदि अश्वमेध की व्याख्या करें तो यही कह सकते हैं कि यह अश्वमेध यज्ञ 'सूर्य' रूपी 'अश्व' पशु से सम्बद्ध हो सकता है (तभी तो इस 'अश्व' को सूर्य का प्रतीक मानने पर उसके बन्धन के लिए प्रयुक्त होनेवाली १२ या १३ हाथ के प्रमाण की रस्सी सौरवर्ष में सम्पद्यमान १२ (या कभी १३) मास का प्रतीक बनती है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है)। इस सम्बन्ध में निम्न ब्राह्मण प्रमाणों से भी इस धारणा की पुष्टि होती है—

असौ वाऽऽदित्योश्वः[१]।
एष वा अश्वो मेध्यो य एष (आदित्य.) तपति[२]।
एष वाऽअश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति[३]।
असावादित्योऽश्वमेधः[४]।
असावश्वो मेध्यो मेध्य इत्यादित्यम् (उपदिशन्)[५] आदि।

पाश्चात्य विद्वानों का विचार

श्रौतयज्ञों में पुरुषमेध की प्रक्रिया को देखकर अनेक पाश्चात्य विद्वानों (जैसे हिलेब्रान्ड) का यह विचार हो गया था कि प्राचीन भारत में मनुष्यबलि की भी प्रथा विद्यमान थी। किन्तु अनेक ऐसे भी पाश्चात्य विद्वान् हैं जिनका विचार है कि एवंविध यज्ञ प्रायः प्रतीकात्मक ही होते थे। विण्टरनित्स ने पुरुषमेध के सन्दर्भ में लिखा भी है—

"सम्भवतः यह प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड था जो एक प्रकार के पुरुषमेध का प्रतिनिधित्व करता था और जिसके द्वारा महान् अश्वमेध से आगे बढ़ने की कल्पना थी। सम्भवतः यह यज्ञीय रहस्यवाद तथा सिद्धान्त का एक भाग था। वास्तविक रूप में तो यह शायद ही कभी हुआ हो[६]।"

इसी प्रकार सोमयाग से पूर्व किए जानेवाले प्रवर्ग्य नामक अनुष्ठान का जो विधान श्रौतसूत्र में किया है,[७] उसकी विविध क्रियाविधियों की प्रतीकात्मकता को

---

१. माध्यन्दिन शतपथ ७।३।२।१० तथा तैत्ति० ब्राह्मण ३।९।२३।२।
२. काण्व शतपथ ब्राह्मण ३।१।८।१,३।
३. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण १०।६।५।८।
४. तैत्तिरीय संहिता ५।७।५।३, माध्य० शतपथ ब्रा० ९।४।२।१८।
५. जैमिनीय ब्राह्मण १।२५।
६. डॉ० एम० विण्टरनित्स—इण्डियन लिटरेचर, पृ० १७५।
७. कात्यायन श्रौतसूत्र २६वाँ अध्याय।

स्वीकार करते हुए उसके रहस्यात्मक भाव को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए विण्टरनित्स ने जो लिखा है उससे असहमत हो पाना हमें कठिन प्रतीत होता है—

'इस यज्ञ में यज्ञीय अग्नि पर एक स्थाली को गर्म किया जाता है जो प्रतीकरूप में सूर्य का प्रतिनिधित्व करती है। फिर इस स्थाली में दूध उबाला जाता है और उसकी अश्विदेवों के प्रति हवि दी जाती है। यह सारा समारोह महा-रहस्यमय है। यज्ञ के अन्त में यज्ञीय पात्रों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि मनुष्य की आकृति बन जाए। दुग्धपात्र सिर, उस पर रखी गई कुशा घास केश, दूध को दो बाल्टियां कान, दो लघु स्वर्णपत्र आंखें, दो चषक एड़ियां। इस सब पर आटा छिड़का जाता है जो कि मज्जा का प्रतिनिधित्व करता है। उस पर दुग्ध और मधु का मिश्रण किया जाता है जो कि रुधिर का प्रतिनिधित्व करता है। इस यज्ञ में पढ़े जाने वाले मन्त्रों के अर्थों से भी इस कर्मकाण्ड की रहस्यमयता की झलक मिलती है[१]।'

वेदार्थ के सम्बन्ध में अभिनव चिन्तन करने वाले प्रसिद्ध भारतीय विचारक श्री अरविन्द ने भी यज्ञों को विविध आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतीक मानकर इसमें निहित आध्यात्मिक रहस्यों को द्योतित करने के लिए इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या की आवश्यकता पर बल दिया है[२]।

अतः यदि हम इन समस्त यज्ञिय विधानों के अन्दर निहित प्रतीकात्मक रहस्यों के अन्वेषण में कोई रूचि न लेकर केवल मुक्ति या स्वर्ग की कामना से उनका यथापद्धति सम्पादन करने या यथोक्त विधि का शब्दशः अनुकरण करते हुए उनके क्रिया विधान में ही जुटे रहें तो यह यज्ञों के जहाँ अत्यन्त स्थूल या भौतिक पक्ष का ही एकांगी निरूपण होगा वहीं हम उनके रहस्यों की व्याख्या से वंचित ही रह जाएंगे क्योंकि आज के युग में स्यात् ही कोई ऐसा सभ्य समाज होगा जो कि इन हिंसापरक एवं अश्लील यज्ञविधियों का समर्थन करने को उद्यत हो।

इन यज्ञों के वास्तविक तात्पर्य या उनके प्रतीकात्मक रहस्यों को न समझते हुए केवल स्वर्ग या मुक्ति की लोभयुक्त कामना से श्रौतसूत्रों में वर्णित क्रियाविधि का अन्धानुकरण करने के कारण भारतवर्ष में एक समय इन श्रौतयज्ञों की बाढ़ सी आ गई थी, जिसमें सैकड़ों मूक पशुओं का यज्ञ में वध कर देना अत्यन्त साधारण बात थी। वेद, वैदिक यज्ञ, स्वर्ग, मुक्ति आदि के नाम पर किए जानेवाले आडम्बरपूर्ण श्रौतयज्ञों में इस निर्दयतापूर्ण पशुहिंसा को देखकर ही अपने को वैदिक

---

१. डॉ० एम० विण्टरनित्स—इण्डियन लिटरेचर, पृ० १७५-१७६।

२. श्री अरविन्द—वेद रहस्य (पूर्वार्ध), पृ० ७९-८०।

संस्कृति का पोषक एवं उसे विश्व इतिहास में सर्वोत्तम संस्कृति की घोषणा करने-वाली भारतवर्ष की भूमि में अनेक सभ्य लोगों का मन वितृष्णा से भर गया तथा उनके अन्तःकरण में इसके प्रति घोर विरोध की भावना जागृत हुई। इसी वितृष्णा और विरोध भावना की भित्ति पर अहिंसा एवं जीवों पर दया करने के डिण्डिम नाद के साथ बौद्ध धर्म का उदय हुआ जिसने एक समय में सम्पूर्ण भारतवर्ष और सुदूरपूर्व चीन, जापान प्रभृति देशों तक में अपनी गहरी जड़ें जमा ली थीं।

समस्त यज्ञों की तर्कसंगत व्याख्या की अपेक्षा

आज जब कि वेदों के सम्बन्ध में कुछ नए ढंग से विचार किया जाना प्रारम्भ हुआ है, इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि इन वैदिक यज्ञों की तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत की जाय यद्यपि इनमें अनेक कठिनाइयाँ विद्यमान हैं। इन कठिनाइयों एवं असमञ्जसता के कारण ही स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मण एवं श्रौतसूत्रों में विद्य-मान हिंसापरक और अश्लीलांश भाग को वेदविरुद्ध, अप्रामाणिक तथा प्रक्षिप्त कह दिया। यदि हिंसापरक इन विज्ञानों की कथमपि कोई प्रतीकात्मक व्याख्या कर भी ली जाय तो भी अन्य अनेक क्रियाविधान ऐसे हैं जिनकी तर्कसंगत व्याख्या अपेक्षित है। जैसे प्रस्तुत अश्वमेध में ही अश्लील सम्भाषण तथा सौत्रामणी में सुरापान आदि का विधान किस वस्तु के प्रतीक के रूप में या किस रहस्यात्मक तत्त्व की ओर संकेत करता है यह अज्ञेय ही है।

तथ्य तो यह है कि भले ही हम इन यज्ञों के किसी क्रियाविशेष या वस्तु-विशेष का कोई समाधान प्रस्तुत कर दें किन्तु इन श्रौतयज्ञों में विद्यमान समस्त क्रियाओं की आद्योपान्त विवेचना तथा उसी क्रम से उनकी उपयोगिता और तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करना साधारण बात नहीं है। यदि इन सबकी यथाविधि कोई सर्वथा ग्राह्य व्याख्या प्रस्तुत की जा सके तभी पुरातन और आधुनिक समाज में उन्हें हम मान्य ठहरा सकते हैं। अन्यथा यदि उन्हें हम केवल कर्मकाण्ड की वर्णित विधि के अनुसार ही स्थूलरूप में अनुकरण कर विधान करना चाहें तो वह हमारे लिए अब तो कथमपि सम्भव व स्वीकार्य नहीं हो सकेगा। चाहे वह यज्ञ हमारे लिए कितने ही बड़े अदृष्टलाभ, फल या मोक्ष का देनेवाला ही क्यों न हो।

आचार्य महीधर ने अश्वमेध यज्ञ के इन मन्त्रों का जो भाष्य प्रस्तुत किया है वह केवल श्रौतसूत्र में वर्णित उस यज्ञ के अत्यन्त स्थूल और भौतिक विधान को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। उसमें नवीनता कुछ भी नहीं है। उनके द्वारा प्रस्तुत भाष्य कर्मकाण्ड की क्रियाओं में विनियुक्त मन्त्रों के साथ उनकी तत्त्त

क्रियाविधि से सामञ्जस्य दिखाते हुए किया गया शब्दानुवाद मात्र है। अतः उनसे अत्यन्त सम्बद्ध और तत्परक होने के कारण उनका मन्त्रार्थ भी उसी प्रकार त्याज्य और गर्हित कहा जाएगा जैसा कि अश्वमेध यज्ञ की वे क्रियाएँ। सृष्टि के विविध रहस्यों के द्योतक इन श्रौतयज्ञों की कोई तर्कसंगत तथा तथ्यपूर्ण प्रामाणिक व्याख्या उपस्थित करने पर ही महीधर के इन मन्त्रों का भाष्य एतत्सन्दर्भ में मान्य हो सकेगा।

स्वामी दयानन्द और अश्वमेध

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में अनेकत्र अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों को मनुष्यों द्वारा कर्त्तव्य माना है। उनके इस अश्वमेध की विधि क्या है यह ज्ञात नहीं होती। यद्यपि उनके ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अध्ययन से प्रतीत होता है[1] कि उन्हें अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्मकाण्ड की वही विधि मान्य होनी चाहिए जो इन ग्रन्थों में दी हुई है किन्तु इसी कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्णित विधि पर अवलम्बित महीधरभाष्य के खण्डन से प्रतीत होता है कि उन्हें इसकी यह विधि सम्भवतः सर्वांगरूप में मान्य नहीं है। सम्भव है श्रौतसूत्रोक्त अश्वमेध की केवल उस विधि को ही वे मान्य समझते हों जो हिंसा, अश्लीलकर्त्तव्य और अश्लील सम्भाषण आदि से रहित हो। किन्तु ऐसा मानने पर यह बात युक्त नहीं प्रतीत होती है कि किसी यज्ञ की आधी विधि मान्य कहकर शेष को अमान्य ठहरा दिया जाय। यदि उन्हें श्रौतसूत्रों में प्रदत्त एवंविधि यज्ञों की क्रियाविधि दोषपूर्ण तथा अमान्य प्रतीत होती थी तो किसी ऐसी विधि का सांगोपांग निरूपण करना चाहिए था जो उन्हें स्वीकार्य होती। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि उन्होने प्रत्येक गृहस्थ द्वारा कर्त्तव्य १६ संस्कारों का यथाविधि मन्त्रार्थ विनियोगपूर्वक प्रामाणिक संकलन 'संस्कारविधि' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित भी किया है जिसका आधार प्राचीन गृह्यसूत्र ही हैं। यदि वे इसी प्रकार श्रौतसूत्रों में विद्यमान यज्ञों का भी परिष्कृत रूप प्रस्तुत कर सके होते तो उनके श्रौतयज्ञों के क्रियाविधान सम्बन्धी मान्यता पर प्रकाश पड़ सकता था।

अन्त में उनकी आचार्य महीधर विषयक आलोचना के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि साधारण दृष्टि से देखने से यह यथार्थ है। पुनरपि ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार इन श्रौतयज्ञों के समस्त क्रियाकलापों का सम्यक् तर्कसंगत रूप यदि प्रस्तुत किया जा सके तथा उनमें विद्यमान रहस्यों की प्रतीकात्मक व्याख्या यदि प्रामाणिक रूप से दी जा सके तो उनके वेदभाष्य के अनेक अंश ग्राह्य हो

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय, पृ० ३८२।

जाएंगे। अन्यथा वे भाष्य न होकर यज्ञ क्रियाओं के विनियोग पर आधृत मन्त्रों के शब्दानुवाद मात्र होकर अपने में रहस्यों का आवरण लपेटे हुए उसी प्रकार अपनी तर्कसंगत एवं सोद्देश्य व्याख्या की प्रतीक्षा करते हुए वर्त्तमान में निन्द्य और गर्हित होने के कारण त्याज्य होते रहेंगे जिस प्रकार श्रौतयज्ञों में निर्दिष्ट वे तथाकथित क्रियाएँ। यद्यपि इन यज्ञों की उन तथोक्त क्रियाओं की व्याख्या भी इतनी आसान नहीं है जितनी कि हम समझते हैं, तथा इनकी अनेक कुत्सित एवं घृणित क्रिया-विधियों को किस सर्वमान्य रूप में हम युक्त सिद्ध कर सकेंगे यह भी एक असमाहित प्रश्न ही सम्प्रति प्रतीत होता है तथापि इस सन्दर्भ में विद्वानों द्वारा प्रयास करणीय है। इन्हीं सब सन्दर्भों की पृष्ठभूमि में हमें स्वामी दयानन्द की आलोचना ठीक प्रतीत होने लगती है।

उपसंहार

स्वामी दयानन्दकृत इस माध्यन्दिन-भाष्य की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि उन्होंने वेदमन्त्रों को सब प्रकार से सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन के व्यावहारिक पहलू के साथ रखने का प्रयत्न किया है। वेद के विषय में उनकी यह मान्यता रही है कि वह न केवल एक धार्मिक और अध्यात्मप्रधान धर्मग्रन्थ है प्रत्युत इसमें सब प्रकार के अर्थात् सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत व्यवहार के सन्दर्भ में भी उपादेय आदर्शों और उपयोगी उपदेशों तथा आदेशों का भण्डार है जो कि मानव सस्कृति में शाश्वत काल के लिए आवश्यक एवं आदरणीय है। अतः इसमें केवल देव प्रार्थना, उपासना तथा कर्मकाण्ड ही नहीं प्रत्युत सब प्रकार की विद्याओं आचार-विचार, व्यवहार, कला-कौशल आदि का भी संकेत है। अपनी इस मान्यता के आधार पर ही उन्होंने इसे लोकोपयोगी तथा जन-जीवन से जोड़ने वाला, सब प्रकार की चेतना को लाने वाला एक अनुपम ईश्वरीय ज्ञान मानकर अपना भाष्य प्रस्तुत किया है।

स्वामी दयानन्द से पूर्ववर्त्ती आचार्य सायण, उवट, महीधर प्रभृति अनेक भाष्यकारों ने जहाँ वेदमन्त्रों की उपयोगिता को केवल यज्ञभूमि में ही समाहित करना चाहा है वहीं स्वामी दयानन्द ने उसे उससे मुक्त करने का प्रयास किया है। यद्यपि भट्टभास्कर प्रभृति कुछ भाष्यकार ऐसे भी हुए जिन्होंने कर्मकाण्ड के अतिरिक्त आधिदैविक एव आध्यात्मिक व्याख्या भी कुछ मन्त्रों की प्रस्तुत की है किन्तु उनका यह दर्शन केवल ऋग्वेद के मन्त्रों पर ही लागू होता है। यजुर्वेद, जिसे मुख्यतः यज्ञिय कर्मकाण्ड की व्याख्या करने वाला ही वेद मानकर सभी ने इसके मन्त्रों का अर्थ केवल याज्ञिक दृष्टि-कोण से किया है वहीं स्वामी दयानन्द द्वारा इसके अर्थ को जिस नवीन एवं भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है वह वेदभाष्य के क्षेत्र में अपूर्व साहस का कार्य है। उनके इस प्रकार की अर्थ प्रस्तुति में जो सबसे सहायक या आवश्यक तत्त्व है, वह है शब्दों की यौगिकता और उसके निर्वचन में प्रदत्त धातुओं की अनेकार्थकता। इसके बल पर ही उन्होंने मन्त्रार्थ को पारम्परिक याज्ञिक अर्थ से भिन्न अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है। वेदभाष्य के क्षेत्र में उनका यह एक क्रान्ति-

कारी कदम था। यह बात नही कि सायण और महीधर आदि भाष्यकार इससे परिचित नहीं थे। किन्तु जानते हुए भी रूढ़िग्रस्त एवं परम्परानुयायी हो याज्ञिक अर्थ के व्याख्यान में ही लिप्त थे जब कि इसे व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत कर उपयोग में लाने और दिखाने का श्रेय स्वामी दयानन्द को ही है।

इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द ने भी अपनी पुस्तक 'वेद रहस्य' में जहाँ आचार्य सायण आदि द्वारा किए गए स्थूल याज्ञिक कर्मकाण्डपरक अर्थों की आलोचना की है[1] वही स्वामी दयानन्द के इस दृष्टिकोण की प्रशंसा करते लिखा है—

"........यह है वेद को फिर से एक सजीव धर्म-पुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिए आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भारतीय भाषा-विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार बनाया, जिसे उन्होंने निरुक्त में पाया था। स्वयं संस्कृत के एक महानविद्वान् होते हुए उन्होंने उनके पास जो सामग्री थी, उस पर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन संस्कृत भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्त्व का उन्होंने रचनात्मक प्रयोग किया जो सायण के 'धातुओं की अनेकार्थता' इस एक वाक्यांश से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि इस तत्त्व का, इस मूल सूत्र का ठीक-ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियों की निराली प्रणाली समझने के लिए बहुत अधिक महत्त्व रखता है[2]।"

"........दयानन्द ने ऋषियों के भाषा सम्बन्धी रहस्य का मूलसूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिकधर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है........[3]" आदि।

यद्यपि स्वामी दयानन्द का वेदमन्त्रों में इस नवीन प्रकार के अर्थ दर्शन का प्रयास कुछ विवादास्पद हो सकता है (जिसकी चर्चा हमने विस्तृत रूप से ५वें अध्याय में की है) किन्तु अपने आप में यह एक नया प्रयोग तो है ही। उनकी इसी विलक्षणता एवं मौलिक दृष्टि के कारण अनेक लोगों ने श्रद्धावश

---

१. श्री अरविन्द— वेद-रहस्य (पूर्वार्ध), पृ० ५३-५८।

२. श्री अरविन्द—वेद-रहस्य (पूर्वार्ध), पृ० ६८।

३. वही—पृ० ७०।

उन्हें 'ऋषि' की उपाधि से विभूषित किया। क्योंकि ऋषि तो होता ही है अद्भुत दर्शनवाला— ऋषिर्दर्शनात्'[1]।

किन्तु इस सन्दर्भ में हमें यह भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि स्वामी दयानन्द का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जिस समय भारतवर्ष में राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन लाने की हवा बह रही थी एवं क्रान्तिकारी सुधारों की भावना के कारण उथल-पुथल मची हुई थी। स्वामी दयानन्द सामाजिक सुधार और पाखण्डपूर्ण प्रवृत्तियों, कुरीतियो, अन्धविश्वासों के घोर विरोधी होने के साथ ही स्वस्थ धार्मिक और सामाजिक चेतना के अग्रदूत के रूप में स्वयं भी जनजागरण में जुटे हुए थे। इन सब परिस्थितियों और सामयिक घटनाओं से स्वामी दयानन्द का वदभाष्य भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

जहाँ तक आचार्य महीधर का प्रश्न है उन्होंने अपने वेदभाष्य में स्वामी दयानन्द के समान कोई नई दृष्टि नहीं दी है। उन्होंने अपना सारा परिश्रम एवं वैदुष्य केवल श्रौतसूत्रों में वर्णित यज्ञिय कर्मकाण्डों एवं विधानों में मन्त्रों तथा उनके अर्थों का सामञ्जस्य प्रस्तुत करने में ही खर्च कर दिया है। उसमें कोई मौलिकता नहीं है। माध्यन्दिन संहिता पर ही आचार्य महीधर के पूर्ववर्त्ती भाष्यकार आचार्य उवट (वि० ११००) का अत्यन्त सुन्दर और विद्वत्तापूर्ण भाष्य उपलब्ध होता है जो पर्याप्त उपयोगी है। उवट के इस प्रामाणिक भाष्य के अस्तित्व के कारण ही चतुर्वेदभाष्यकार आचार्य सायण ने शुक्ल-यजुर्वेद की इस माध्यन्दिन संहिता पर अपना भाष्य न लिखकर काण्व-संहिता पर लिखा है। अतः इस उवट-भाष्य के रहते हुए भी आचार्य महीधर द्वारा इस संहिता पर भाष्य लिखना कोई अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता। उनका यह भाष्य तात्विक रूप से उवटभाष्य का कुछ विस्तार मात्र है जिसमें किसी प्रकार की नवीनता तो बिलकुल ही नहीं है।

फिर भी उवटभाष्य का विस्तार होने से आचार्य महीधर के इस भाष्य में कुछ तो नवीन सामग्री हमें उपलब्ध हो ही जाती है। जैसे इस भाष्य में आचार्य महीधर ने मन्त्रों के विनियोग एवं अर्थों के समर्थन में जहाँ शतपथ ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों के अनेक नए उद्धरण स्थलनिर्देशसहित मन्त्रार्थ को प्रमाणित एवं पुष्ट करने के लिए दिए हैं वहीं अनेक शब्दों की व्याकरणप्रक्रिया भी सूत्रनिर्देश-

---

१. निरुक्त २।११।

सहित प्रदान की है। इन सबके कारण अवश्य ही उन्होंने अपने भाष्य की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और प्रामाणिक बनाया है। विस्तृत होने के कारण यज्ञप्रक्रिया के विधान को भी इसमें सुबोध रूप से समझाया गया है तथा अनेक मन्त्रार्थों को भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। अतएव इन सबके कारण मन्त्रार्थ में कोई मौलिक चिन्तन न होते हुए भी उनका परिश्रम किन्हीं अर्थों में सार्थक एवं प्रशंसनीय ही कहा जाएगा।

●

सहायक ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं की सूची

१—अथर्ववेद—शौनकसंहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, १९५१।

२—अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र, ज० अ० ओ० सीरीज नं० १४, न्यूहेवेन, १८९०।

३—अनुभ्रमोच्छेदन, स्वामी दयानन्द, परोपकारिणी सभा, अजमेर, १९६१।

४—अभिधान चिन्तामणि, हेमचन्द्राचार्य, चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी १९५१।

५—अमरकोष, अमरसिंह, चौखम्बा सं० सी०, वाराणसी, १९६४।

६—अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, आचार्य पाणिनि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत १९६५।

७—आपस्तम्बपरिभाषासूत्र, ओ० आर० आइ० संस्कृत सीरिज, मैसूर, १९४५।

८—आर्षेय ब्राह्मण (ताण्ड्यो का), बर्नेल ए० सी०, मंगलूर, १८७८।

९—उणादिसूत्र, आचार्य पाणिनि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, १९७४।

१०—ऋग्वेद—शाकलसंहिता, सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, सतारा, प्रथम संस्करण।

११—ऋग्वेदभाष्य, आचार्य सायण, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९७६।

१२—ऋग्वेदभाष्य, स्वामी दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, १९७२।

१३—ऋग्वेदभाष्यभूमिका, आचार्य सायण, भारतीयविद्याप्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण।

१४—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, द्वितीय संस्करण।

१५—ऋग्वेदानुक्रमणी, आचार्य माधव, कलकत्ता, १८९३।

१६—ऋक्सर्वानुक्रमणी, षड्गुरुशिष्य वृत्ति, आक्सफोर्ड, १८८६।

१७—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेर, १९४९।

१८—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भगवद्दत्त, रामलालकपूर ट्रस्ट, सोनीपत, द्वितीय संस्करण।

१९—ऐतरेय ब्राह्मण, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १९००।

२०—ऐतरेयालोचन, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १९०६।

२१—कठोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण।

२२—काठक संहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, १९४३।

२३—काण्वशतपथ ब्राह्मण, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९२६।

२४—काण्वसंहिता, सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, सतारा, १९९७।

२५—काण्वसंहिता भाष्य, आचार्य सायण।

२६—कात्यायन गृह्यसूत्र, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, १९८७ वि० ।
२७—काशकृत्स्न धातुव्याख्यान, चन्नवीरकवि, युधिष्ठिरमीमांसक, २०२२ वि० ।
२८—काशिकावृत्ति, वामनजयादित्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५२ ।
२९—कौषीतकी ब्राह्मण, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर के पुस्तकालय में उपलब्ध ।
३०—कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्, वही ।
३१—गोपथ ब्राह्मण, क्षेमकरण दास, प्रयाग, १९२४ ।
३२—चरक संहिता, अग्निवेश, मोतीलाल बनारसीदास, १९५९ ।
३३—छन्दोऽनुक्रमणी, वेंकटमाधव, कलकत्ता, १८९३ ।
३४—छन्दःसूत्र, आचार्य पिंगल, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, द्वि० संस्करण ।
३५—छान्दोग्यब्राह्मण, संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता, १९५८ ।
३६—जैमिनिसूत्र, आचार्य जैमिनि, युधिष्ठिर मीमांसक, सोनीपत, प्रथम संस्करण ।
३७—जैमिनीय ब्राह्मण, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२७ ।
३८—जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९५८ ।
३९—तन्त्रशास्त्रों का पर्यालोचन, पी० डी० गुप्त, बम्बई, १९६३ ।
४० – तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रम, पूना, प्रथम संस्करण ।
४१ – तैत्तिरीय ब्राह्मण, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १८५९ ।
४२—तैत्तिरीय संहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, १९४५ ।
४३—तैत्तिरीय संहिता भाष्य, आचार्य सायण, कलकत्ता, १८६०-१८९९ ।
४४ – तैत्तिरीयसंहिता भाष्य, भट्टभास्करमिश्र, गवर्नमेण्ट ओ० सीरिज, मैसूर, १८९४ ।
४५—तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
४६—दि साइंस आफ रिलीजन, ई० बर्नाफ, प्रथम संस्करण ।
४७—निघण्टु, आचार्य यास्क, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७ ।
४८—निरुक्त, आचार्य यास्क, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७ ।
४९—निरुक्त टीका, दुर्गाचार्य, आनन्दाश्रम, पूना, १९२१ ।
५०—निरुक्त टीका, स्कन्दस्वामी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण ।
५१—निरुक्त समुच्चय, वररुचि, युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेर, प्रथम संस्करण ।
५२—पाणिनीय धातुपाठ, वैदिक यन्त्रालय. अजमेर, तृतीय संस्करण ।
५३—पारस्कर गृह्यसूत्र, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, प्रथम संस्करण ।
५४—प्रश्नोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

५५—बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।
५६—बृहद्देवता, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८४३।
५७—बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, १९५८।
५८—ब्रह्माण्डपुराण, ओल्ड सीरिज, कलकत्ता, प्रथम संस्करण।
५९—ब्राह्मणोद्धार कोश, विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६६।
६०—मत्स्यपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
६१—मनुस्मृति, कुल्लूकटीका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी।
६२—महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर।
६३—महाभाष्य टीका, भर्तृहरि, सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी में उपलब्ध।
६४—माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण, चौखम्बा सं० सी०, वाराणसी, १९६२।
६५—माध्यन्दिन संहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा।
६६—माध्यन्दिन संहिता भाष्य, उवट-महीधर, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१।
६७—मीमांसा भाष्य, शबरस्वामी, युधिष्ठिर मीमांसक, १९७७।
६८—मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।
६९—मैत्रायणी संहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, १९९८ वि०।
७०—यजुर्वेद भाष्य विवरण, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वाराणसी।
७१—यजुः सर्वानुक्रमसूत्र, आचार्य कात्यायन, स्वाध्यायमण्डल, सतारा, १९५३।
७२—वायुपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
७३—वाल्मीकीरामायण, निर्णयसागर, बम्बई।
७४—विष्णु पुराण, ओल्ड सीरीज, कलकत्ता।
७५—वेदत्रयी परिचय, सत्यव्रत सामश्रमी, हिन्दी समिति, उ० प्र०, २०३१ वि०।
७६—वेद रहस्य, अरविन्द, अरविन्द सोसायटी, पान्डिचेरी, १९७१।
७७—वेद स्वरूप विमर्श, करपात्रस्वामी, भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता, २०२६ वि०।
७८—वेदांग ज्योतिष, आचार्य लगध, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
७९—वैदिक छन्दो मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, १९५९।
८०—वैदिक युग और आदि मानव, वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली।
८१—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भगवद्दत्त-सत्यश्रवा, प्रणवप्रकाशन, १९७६।
८२—वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, १९६७।
८३—वैदिक-स्वर-मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, १९५७।
८४—व्याकरणमहाभाष्य, आचार्य पतञ्जलि, गुरुकुल, झज्झर, रोहतक।

८५—शांखायन आरण्यक, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२।
८६—शांखायन गृह्यसूत्र, ओरियण्टल बुकसेलर दिल्ली, १९६०।
८७—शांखायन श्रौतसूत्र, कलकत्ता १८९१।
८८—श्वेताश्वतरमन्त्रोपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।
८९—श्वेताश्वतरोपनिषद्. आनन्दाश्रम, पूना।
९०—सत्यार्थ प्रकाश, स्वामी दयानन्द, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली, १९७६।
९१—सामपदसंहिता, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता।
९२—संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत।
९३—स्वरानुक्रमणी, वेंकट माधव, कलकत्ता, १८९३।
९४—हिन्दू सिविलाइजेशन, राधाकुमुद मुखर्जी, राजकमल, १९५९।
९५—हिम्स आफ द ऋग्वेद, ग्रिफिथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
९६—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, विण्टरनित्स, ओरियण्टल बुक०, दिल्ली, १९७२।
९७—कल्याण (मासिक), गीताप्रेस, गोरखपुर।

● ● ● डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री की "आचार्य महीधर और स्वामी दयानन्द का माध्यन्दिन भाष्य" नामक कृति इस अर्थ में अत्यन्त उपयोगी एवं उपादेय है कि लेखक ने पूर्वाग्रहों से दूर रहकर दोनों भाष्यकारों के भाष्यों के गुण-दोष की निष्पक्ष समीक्षा इसमें प्रस्तुत की है। इसके सप्तम अध्याय के अध्ययन से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो सकेगी। इससे लेखक के व्याकरण विषयक ज्ञान की पुष्टता भी प्रकट होती है। संक्षेप में यही कहना है कि एक अधिकारी व्यक्ति के द्वारा विषय का जैसा विवेचन होना चाहिये, वैसा ही प्रस्तुत कृति में प्राप्त होता है। डॉ० प्रशस्यमित्र ऐसी कृति प्रस्तुत करने के लिये बधाई के पात्र हैं।

आशा है, इस कृति का विद्वज्जगत् में समुचित समादर होगा।

आ. प्र. मिश्र

(डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र)
भूतपूर्व कुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय